मोक्ष-साधन-माला

प्रकाशक —
कृष्णकुमार, एम० ए०, (कानपुर)
मंत्री, श्री स्वामी सियाराम पब्लिकेशन ट्रस्ट,
मुलतान (पंजाब)

प्रथम संस्करण ... ... सन् १६३१
द्वितीय संस्करण ... ... सन् १६३८

पहला पुष्प ... ... साधन-पथ (उपदेश-पूर्ण पत्र)
(दूसरी बार) छप चुका। ।।)

दूसरा पुष्प ... ... महाराज के जीवन-चरित्र
(दूसरी बार) भेंट है। १)

तीसरा पुष्प ... ... मोक्ष-साधन (सदुपदेश)
(दूसरी बार) तैयार हो रहा है।

मुद्रक —
बी० डी० गुप्त,
कमर्शल प्रेस-कानपुर

श्रीमत्परमहंस योगिराज

श्री स्वामी सियाराम जी महाराज

की

पुण्य स्मृति में

महाराज के जीवन-चरित्रों

का

यह संग्रह

मोक्ष के साधकों

के

चरण-कमलों

में

सादर समर्पित.

श्री स्वामी सियाराम पब्लिकेशन ट्रस्ट, मुलतान.

ट्रस्ट फंड = २०६०) रु०
- ५६०) रु० एक शिष्य
- २५०) रु० एक भक्त
- २५०) रु० एक सेवक
- १०००) रु० चौ० कृष्णाकुमारी

ट्रस्टी और ट्रस्ट के सदस्य

उद्देश्य

संतशिरोमणि श्रीमत्परमहंस
योगिराज श्री स्वामी सियाराम जी महाराज

के

जीवन-चरित्र और उपदेशों को उत्तम रूप में प्रकाशित करना और कम से कम लागत पर जनता को देना।

निवेदन

—⊱✿⊰—

श्रीमत्परमहंस योगिराज श्री स्वामी सियारामजी महाराज के अनेक शिष्यों की इच्छा और आग्रह से महाराज जी के जीवन चरित्र और उपदेश-पूर्ण पत्रों के छपवाने का विचार हुआ। सत्संगियों का यह दृढ़ विश्वास है कि महाराज का जीवन और उपदेश मोक्ष के साधकों के लिए अत्यन्त हितकर है। मोक्ष की चाह सनातन वा पुरातन है, इस चाह को माद्दापरस्ती का दौरा, काल का फेर और वर्तमान समय का राजसिक भाव तथा राजनैतिक प्रवाह मिटा नहीं सकता। मोक्ष के साधक, शान्ति के पुजारी, आनन्द के मुतलाशी, परम निर्वाण के इच्छुक सब काल और सब देश में रहते हैं। ऐसे ही साधकों की सेवा में यह संग्रह भेंट किया जा रहा। आशा है कि जिज्ञासु और मोक्षार्थी साधक इस पुस्तक का सहर्ष स्वागत करेंगे।

जिन सत्संगियों का इस पुस्तक में नाम आया है प्रायः सबसे थोड़ी बहुत सहायता इस संग्रह को तैयार करने में मिली है। कुछ मित्रों ने विशेष सहायता पहुँचाई है। निम्नलिखित सज्जनों ने अपने अपने हालात लिखकर भेजे हैं, (जिनको प्रायः थोड़ा परिवर्तन करके ज्यों का त्यों दे दिया गया) साथही अन्य कई प्रकार से भी सहायता की है। श्री स्वामी सोमतीर्थजी, श्रीस्वामी तारकानन्दजी, श्रीयुत रामरक्खाजी, श्रीयुत बाबू अयोध्या-प्रसादजी फाटक वाला, वानप्रस्थी काशीनाथजी फ़िदा, धर्मचन्दजी, श्रीयुत प्रोफ़ेसर सदानन्दजी और श्री स्वामी नारायणहरि जी आदि

महानुभावों की सहायता के बिना यह कार्य्य पूरा होना असम्भव था। यदि आप सब मित्र सहयोग न करते, तो यह कार्य्य इससे भी अधिक अधूरा ही रह जाता। पाठकों से अनुरोध है कि वे जो कुछ भी लाभ उठायें, उसके लिये उन्हें प्रभु का तथा इन सज्जनों का कृतज्ञ होना चाहिये।

पहले संस्करण के छपाने में श्री स्वामी रामतीर्थ महाराज के पट्ट शिष्य श्री नारायण स्वामी ने सहर्ष विशेष कष्ट उठाया था। मुझे खेद है कि इस समय उनका शरीर नहीं रहा। उनका निःस्वार्थ प्रेम तथा सहयोग हम कभी नहीं भूल सकते। दूसरे संस्करण के संशोधन में 'कल्याण' के सुयोग्य सम्पादक श्रीयुत हनुमानप्रसाद जी पोद्दार ने बहुत प्रयत्न किया है। जिस कृपा तथा परोपकार के वास्ते ट्रस्ट उनका आभारी है। आपतो संतसेवी प्रसिद्ध हैं। आपके सहर्ष सहयोग के हम बड़े कृतज्ञ हैं।

अपनी कमज़ोरियों का वर्णन करना ग्रन्थ के विस्तार को बढ़ाना है। मन और शरीर दोनों रोगी हैं। मित्रों की कृपा और दैव ने ही इस कार्य को फिर हमारे हाथों में सौंपा है। हम भली भांति जानते हैं कि हम इसके सर्वथा अयोग्य हैं। महाराज के जीवन-चरित्र और उपदेशों को अधिक गहराई से अध्ययन करने के लोभ ने ही हमें बावजूद इतनी कमज़ोरियों के होते हुए भी इधर प्रेरित किया है। अपने आत्मिक जन्म-दाता के जीवन और उपदेशों के मर्म को जान लेने पर अपनी नीचता और अयोग्यता और भी स्पष्ट हो रही है। इस ग्रन्थ में जो दोष और त्रुटियां पाठकों को नज़र आयें वे सब हमारे आंतरिक विकारों का आभास हैं। यदि हमारे वश में होता तो एक भी त्रुटि नहीं रहती। यदि पाठकों के आशीर्वाद से लेखक कुछ सुधर जाय, तो सम्भव है कि वह इस सबको अधिक

सुन्दर बना सके। अभी तो यही याचना है कि पाठक हमारे दोषों को सहन करते हुए, अपने आत्म-लाभ के साधनों को खोजने का यत्न करें। गुण-ग्राहक वृत्ति मोक्ष साधन में परम हितकारी है, उसीसे ही काम लेना श्रेयस्कर है। मेरे लिये तो परम सन्तोष और आनन्द की यही बात है कि परम श्रद्धेय गुरुदेव के चरित्र तथा उपदेशों के आकलन में कुछ समय बीता और हृदय को उसके अमृत का आस्वादन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। महापुरुषों का संग हर प्रकार से दुर्लभ होते हुए भी अमोघ है और बड़े भाग्य ही से प्राप्त होता है। परमात्मा ने यह सुन्दर अवसर प्रदान कर मुझ पर विशेष अनुकम्पा ही की है — ऐसा मेरा विश्वास है।

इस ग्रन्थ के आकलन से यदि कुछ लोगों की भी रुचि अध्यात्म विषय की ओर हुई तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूंगा। ऐसे महानुभावों के आशीर्वाद से ही मैं भी उन्नत होने की आशा लगाए बैठा हूँ।

त्रुटियों का रह जाना स्वाभाविक है और इस के लिये मैं पुनः पाठकों से क्षमा की याचना करता हूँ।

दयानन्द कालिज, कानपुर.
१, शुक्ल पक्ष, चैत्र, १९९५

विनीत
कृष्णकुमार.

नोट — सत्संगियों से प्रार्थना है कि पुस्तक पढ़ते समय जो बातें महाराज के चरित्र और उपदेशों के सम्बन्ध में याद आयें, वह मुझे अवश्य सूचित करें।

विषय सूची

प्रस्तावना	... ...	(११–२४)
कुण्डली	... ...	(२५–२६

१ शिक्षा–काण्ड

पहला प्रकरण	जन्म	१
दूसरा प्रकरण	बाल्य-काल	६
तीसरा प्रकरण	प्रारम्भिक शिक्षा	६
चौथा प्रकरण	किशोरावस्था	११
पाँचवाँ प्रकरण	युवाकाल	१६

२ साधना–काण्ड

पहला, प्रकरण	साधन की तैयारी	२०
दूसरा प्रकरण	काम-जय	२४
तीसरा प्रकरण	मोह-मर्दन	३३
चौथा प्रकरण	लोभ-त्याग	४१
पाँचवाँ प्रकरण	शारीरिक साधन	४२
छठा प्रकरण	गुरु-परिचय	४४
सातवाँ प्रकरण	योग-साधना	४६
आठवाँ प्रकरण	सत्संग	५२
नवाँ प्रकरण	यम सिद्धि	५६
दसवाँ प्रकरण	समर्पण	६०

३ सन्यास-काण्ड

पहला प्रकरण	मोह-परीक्षा	६४
दूसरा प्रकरण	आचार्य्य-दक्षिणा	७०
तीसरा प्रकरण	प्रारब्ध	७३
चौथा प्रकरण	शिष्य-मिलाप	७६
पाँचवाँ प्रकरण	मुमुक्षु-परीक्षा	८४
छठा प्रकरण	तपस्या	८७
सातवाँ प्रकरण	शिष्य-शासन	९०
आठवाँ प्रकरण	मनोनिग्रह	९६
नवाँ प्रकरण	सखाभाव	१०६
दसवाँ प्रकरण	संत समागम	११३

४ जाग्रति-काण्ड

पहला प्रकरण	सेवा	१२६
दूसरा प्रकरण	मान-परीक्षा	१३१
तीसरा प्रकरण	मौलिक उपदेश	१३५
चौथा प्रकरण	योगी का देहान्त	१४२
पाँचवाँ प्रकरण	जाग्रति	१४६
छठा प्रकरण	साधकाश्रम	१५६
सातवाँ प्रकरण	सहन-शक्ति	१६६
आठवाँ प्रकरण	एकांत सेवन	१७०
नवाँ प्रकरण	साधु स्वभाव	१७६
दसवाँ प्रकरण	उदासी	१८२
ग्यारहवाँ प्रकरण	ज्ञान-सार	१८७
बारहवाँ प्रकरण	समता	२०२

तेरहवाँ प्रकरण	युवक प्रेम	२०६.
चौदहवाँ प्रकरण	नम्रता	२१८
पन्द्रहवाँ प्रकरण	वेदान्त	२२२
सोलहवाँ प्रकरण	निरभिमानता	२३७
सत्रहवाँ प्रकरण	सूक्ष्म चित्त	२४७
अठारहवाँ प्रकरण	वैराग्य की श्रेष्ठता	२६०
उन्नीसवाँ प्रकरण	चित्र	२७४
बीसवाँ प्रकरण	मनुष्य प्रेम	२८३
इक्कीसवाँ प्रकरण	भूत-बाधा	२९४
बाईसवाँ प्रकरण	निष्काम उपदेश	३०१
तेईसवाँ प्रकरण	सीतल स्वभाव	३११
चौबीसवाँ प्रकरण	कठिन तप	३२०
पच्चीसवाँ प्रकरण	तपो-भूमि	३२५

५ निर्वाण-काण्ड

पहला प्रकरण	साधक	३२९
दूसरा प्रकरण	क्षमता	३३५
तीसरा प्रकरण	अखण्ड ज्योति	३४५
चौथा प्रकरण	ईश्वराधार	३५१
पाँचवाँ प्रकरण	तितिक्षा	३६५
छठा प्रकरण	सत्संग	३८१
सातवाँ प्रकरण	निर्वाण की चाह	३९२
आठवाँ प्रकरण	करुणा	४०१
नवाँ प्रकरण	परम-यात्रा	४१६
दसवाँ प्रकरण	परम निर्वाण	४३१

प्रस्तावना

जीवन-मुक्ति

जीवन-मुक्ति का सार क्या है, ज्ञानी भक्त कौन है, आत्म-प्रसाद किसने प्राप्त किया है, स्थितप्रज्ञ के लक्षण क्या हैं? कौन महात्मा ब्रह्म-स्थित है? ये सब प्रश्न गीताकार ने स्पष्ट कर दिए हैं। माया का बन्धन मोह है। मोह आसक्ति का कारण है। अज्ञान मोह की जड़ है। मोह से काम, क्रोध और लोभ उत्पन्न होते हैं। अहंकार सब का मूल है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने इस सत्य को बड़े भाव-पूर्ण शब्दों में इस प्रकार प्रकट किया है।

मोह सकल व्याधिन अति मूला। जा से उपजत हैं बहु शूला॥
काम, वात, कफ, लोभ अपारा। क्रोध, पित्त नित छाती जारा॥
प्रेम करें जो तीनों भाई। उपजत सन्निपात दुखदाई॥

आत्मज्ञानी वही है जिसने अपने आपको काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार से छुड़ा लिया है। काम क्रोधादि ही बन्धन

है, और इनसे छूटना ही मोक्ष है। इस असार संसार में हमारा कल्याण है यह मानना बड़ी भूल है। शरीर, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार को अपने से भिन्न न देखना ही अज्ञान है। इसी से मोह पैदा होता है। आत्मा एकरस है। प्रभु आनन्दपूर्ण है, शांत है, शिव है, मंगलमुद, सुखकारी है, अमर है। शरीर और अन्त:करण संसार के समान ही असार, अस्थिर, दु:खदाई और आनन्द को हरण करनेवाली वस्तु है। अज्ञान में बन्धन है, दु:ख है, व्याकुलता है। योग के द्वारा ही मनुष्य इस ज्ञान-दृष्टि को दृढ़ कर पाता है। योग में आन्तरिक तथा बाहरी साधन सम्मिलित हैं। शरीर अथवा मन दोनों को शुद्ध करना जरूरी है। शारीरिक साधन, आत्मिक साधन के सहायक हैं। तब मनुष्य उस ब्रह्म-स्थिति को प्राप्त कर पाता है। कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग सब एक दूसरे के सहयोगी हैं। महान पुरुषों ने अपने-अपने संस्कारों और अवस्थाओं के अनुसार इन योगों को विभिन्न रूप से अपने जीवन में चरितार्थ किया है। परम अवस्था का वर्णन भगवद्गीता में ऐसा किया गया है।

जीवन-मुक्त के लक्षण

"जो किसी से द्वेष नहीं करता, जो करुणा का भण्डार है, ममता-रहित है, जो निरहङ्कार है, जिसे सुख-दु:ख, शीत-उष्ण समान है, जो क्षमाशील है, जो सदा सन्तोषी है, जिसका निश्चय कभी बदलता नहीं, जिसने मन और बुद्धि ईश्वर को अर्पण कर दिये हैं, जिससे लोग नहीं घबराते, जो लोगों का भय नहीं रखता, जो हर्ष-शोक भयादि से मुक्त है, जो पवित्र है, जो कार्य-दक्ष होने पर भी तटस्थ है, जो शुभाशुभ का त्याग करने

वाला है, जो शत्रु-मित्र पर समभाव रखनेवाला है, जिसे मान-अपमान समान हैं, जिसे स्तुति से ख़ुशी और निन्दा से ग्लानि नहीं होती, जो मौनधारी है तथा मननशील है, जिसे एकान्त प्रिय है, जो स्थिर-बुद्धि है," वही आत्मज्ञानी है, वही ज्ञानी भक्त है, वही जीवन-मुक्त है, उसीने मोक्ष प्राप्त कर लिया है, वही स्थितप्रज्ञ है, और वही ब्रह्म-ज्ञानी है, उसीकी स्थिति ब्राह्मस्थिति है, उसीने निर्वाण पद को प्राप्त कर लिया है, वह परम शान्ति का धाम है, परमानन्द का स्वरूप है।

स्वामी सियारामजी उन महान पुरुषों में से एक थे जिन्होंने इस परमपद को प्राप्त किया था। आप आत्मदर्शी थे, विरक्त थे, स्थितप्रज्ञ थे, ज्ञानी भक्त थे, ब्रह्मस्थित थे और योगीराज थे।

शरीर सुधा, स्वभाव सरल, हृदय शान्त तथा करुणा-रस से भरपूर, मस्तिष्क उज्ज्वल, विचार गहरा तथा गम्भीर, चित्त सूक्ष्म और बुद्धि बड़ी मार्जित अथवा तीक्ष्ण थी। आपकी मूर्ति से शान्ति, सरलता और सूक्ष्म विचार ही बरसते थे। वृत्ति सूक्ष्म होने के कारण शरीर भी सूक्ष्म हो चुका था और इसी कारण थोड़ी सी गड़बड़ी को झट प्रगट कर देता। चित्त इतना उपराम कि शरीर की तरफ़ बहुत कम ध्यान जाता। चित्त इतना निर्मल था कि बिना अनुमान तथा कल्पना के जैसी चित्त में सफुरणा होती, उसी भीतरी अनुभव अथवा ऋतम्भरा बोध के प्रकाश से सारे व्यवहार करते। इसके अनेक उदाहरण पाठकों को इस संग्रह में मिलेंगे।

शरीर

जब तक साधना में रहे तो शरीर को ऐसी देख-भाल से

रक्खा कि किसी प्रकार का शारीरिक दोष पास नहीं फटका, पर जब आत्म-प्रसाद प्राप्त कर लिया और भूमिका दृढ़ होगई, तो फिर शरीर से वेपरवाह होगये। प्रारब्ध पर निर्भर रहते; जैसे-तैसे उसको चलाते रहे। यथा अवसर उसकी चिन्ता भी करते पर अधिकतर तो उसकी गड़बड़ी से वेपरवाह ही रहा करते थे। सब कुछ होते हुए भी साधकों को सहायता देने में कभी कमी नहीं की। आपकी शारीरिक अवस्था चाहे जैसी भी रही, अधिकारी सर्वदा उचित आदेश और सहायता पाते रहे। शरीर कमजोर रहता; पर आन्तरिक (Nervous) शक्ति अपार थी। जरूरत पड़ने पर कठिन से कठिन कार्य्य करने में आप कभी हिचकते नहीं। चलने में तो अपने युवक और बलिष्ठ सेवकों को भी पीछे छोड़ जाते। तप और सुकुमारता का अलौकिक मेल था। तप में सिद्ध होने से बड़े ही परिश्रमी थे और नाड़ी नस शुद्ध और सूक्ष्म होने से बड़े योगेश्वर थे।

क्षमता

शारीरिक तप तो अपार था ही। मन की सहन-शक्ति भी बहुत विलक्षण थी। सर्दी गरमी सहन करने में युवक साधकों को शरमा देते। कठिन यात्रा करना, बरफ़ानी स्थानों में रहना, शरीर को कड़े नियमों में रखना, यह सब केवल मानसिक सहनशीलता और संयम के कारण ही, इतने सूक्ष्म शरीर के बावजूद भी आपके लिये मोद प्रमोद के समान सुखदायक तथा सरस था।

सन्तों का हृदय वज्र से भी कठोर और कुसुम से भी कोमल होता है। अपने ऊपर आने वाले कष्टों और विपदाओं के लिये तो अपना हृदय वज्र का सा बना लेते हैं परन्तु दूसरों का तनिक भी कष्ट देखकर उन का मक्खन सा कोमल हृदय पिघल उठता है।

महा पुरुष करुणा की साक्षात प्रतिमा होते हैं। हमारे भारी से भारी अपराध के लिये भी उनके हृदय में करुणा ही होती है परन्तु अपने को वे कभी क्षमा नहीं करते और कठोर से कठोर दण्ड देने में नहीं हिचकते। महात्मा सियाराम जी में भी यही बात थी। अपनी निन्दा, अपना अपमान, अपना विरोध वे हंसते हुए सह लेते थे — ऐसा मानो कुछ हुआ ही न हो। विरोधियों के चरण छू कर प्रणाम कर लेते और प्रभु से उसकी हित कामना करते। यह सब आप की आन्तरिक सहन शक्ति तथा दिव्य शांति का फल था। और इस का परिणाम यह होता कि जो आप के पहले विरोधी थे वे पीछे आपके भक्त बन जाते।

आहार–स्वाद–ब्रह्मचर्य्य

स्वाद पर आपने बड़ा क़ाबू पाया था। महीनों मूंग की दाल और रोटी खाते जी नहीं ऊबता था, स्वाद बदलने की भी इच्छा न होती। चित्त की समता के कारण भोजन भी बड़ा सात्विक अथवा एकरस रहता। नमक से चित्त उचाट हुआ तो बहुत समय तक बिना नमक ही भोजन होता रहता। मीठे से चित्त घबराया तो बिना मीठे के महीनों चलता रहता। त्रिदोष नाशक और रेचक पदार्थ ही आपको प्रिय थे। षटरस पहुँचाने के लिये त्रिफला और हड़ को प्रयोग में लाते रहते थे। साधकों को भी स्वाद जय करने के लिये अनेक कठिन साधन कराते थे। आपकी वृत्ति बड़ी सूक्ष्म थी, तेज़ गन्ध बुरी लगती थी, चाहे वह फलों की हो व फूलों की।

परन्तु जिह्वा और नासिका इतनी क़ाबू में थी कि आवश्यकता अनुसार अथवा तजरबे के तौर पर गौमूत्र को दूध की तरह, पान

कर सकते थे। मट्टी का तेल पी लेना कठिन नहीं था। कस्ट्राईल से रोटी चुपड़ कर खा लेते। आप तो भोज्य पदार्थों को इलाज और दवाई के तौर पर प्रयोग में लाते थे। शरीर और चित्त की उत्तम, सात्विक और सूक्ष्म अवस्था के कारण आपको अत्यन्त सात्विक पदार्थ ही रुचते थे। गाय का घी, दूध, बादाम-रोग़न, अन्नों में गेहूँ का दलिया और चक्की का मोटा आटा, दालों में मूंग की दाल, फलों में अनार का रस और मुनक्के, सागों में बथुवा, चौलाई का साग, यह सब आपको पसन्द थे। परन्तु शरीर की आवश्यकता के अनुसार भिन्न भिन्न पदार्थ भी प्रयोग में लाते थे। भारी, कफ़कारक पदार्थों को आप कभी नहीं चाहते थे, कहीं प्रारब्ध वश खाने पड़ गये तो शरीर का भोग जानकर स्वीकार कर लेते थे।

जैसे स्वाद को आपने विचित्र रूप से वश किया था, वैसे ही ब्रह्मचर्य्य को भी आपने अलौकिक रीति से साधा था। बालक के समान आप नर-नारियों के बीच में विचरते थे। शरीर की दुर्गन्धि आपको सदैव भासती रहती थी। स्त्री भाव ही मिट चुका था। शरीर को जैसे का तैसा बोध करते हुए आपका चित्त सब विकारों से मुक्त हो चुका था। इससे भ्रम भी पैदा हो जाता, भ्रम में अपमान भी होता, पर फिर भी आपकी वृत्ति अटल रूप से स्थिर रहती थी।

शुद्ध अन्न

पदार्थों के गुण-दोषों पर तो दृष्टि रहा ही करती थी, परन्तु शुद्ध कमाई का अन्न ही आपको पसन्द था। अन्याय की कमाई के अन्न से आपका चित्त सहज ही बहुत घबराता था और सुस्त पड़ जाता था। इसी कारण शुद्ध व्यवहार का उपदेश सदा देते

रहते थे। ऐसे भक्त से सेवा लेने में आप प्रसन्न होते जो शुद्ध भाव से दे, मोक्ष-साधन में कटिबद्ध हो, उत्साही हो और निष्काम भाव से सेवा करता हो।

रमते राम

संन्यास का भाव आप में पूर्ण रूप से भरा था। रमते राम की तरह बने बनाये मकान में ठहरने की इच्छा रहती थी। कहीं कुटी को ठीक भी किया ता Temporary (चलाऊ तौर से) काम के लिये ही। प्राय: जब उसकी अवस्था सुधरने लगती, तो आपका उधर आना ही बन्द हो जाता। इस प्रकार आप पूर्ण स्वतन्त्रता से विचरते रहे, किसी उलझन में अपने मनको अटकाना आपके लिये असम्भव था।

सरलता

आपकी रहन-सहन में किसी प्रकार का आडम्बर नहीं था। संन्यास के बाह्य आडम्बरों से आपका चित्त सर्वथा मुक्त था। कपड़े का रँगना तो दूर रहा, उसे बहुत सफ़ा रखना भी आप एक व्यसन समझते थे। आपने बाहरी रंगढंग पर कभी ध्यान नहीं दिया। लोग मेरे को क्या समझेंगे इस ओर आपका ध्यान कभी गया ही नहीं। इससे बनावट के पुजारियों को बड़ा भ्रम हो जाता था। सर्दी होती तो बाल बढ़ने ही देते, गरमी अथवा खुजली होने लगती तो कटवा देते। खाने में कष्ट होता तो केवल मूछों के बाल कैंची से काट लेते। सरलता की तो आप मूर्त्ति ही थे। बनावट और आडम्बर से आपको बड़ी घृणा थी, दूसरे को प्रभावित करने का

विचार तो आपके मन में कभी आया ही नहीं। कपड़े फटने लगते, तो चीथड़े होने पर भी काम चलता रहता। यही हाल जूते का रहता था। ज़रूरत पड़ने पर पाजामा भी पहन लेते। निर्वाह पर दृष्टि रहती, शरीर की ज़रूरत को देखते, दूसरे क्या कहेंगे, क्या समझेंगे, इसका विचार नहीं आता था।

तप

अपनी आवश्यकता के अनुसार शरीर को दुबला, पतला तथा मोटा करते रहते। कभी सर्दी सहारने का यत्न करते, कभी गरमी, कभी निराहार रहते, कभी मन में आया तो खा लिया, शरीर को तप में रखना ही आपको भाता था। शरीर को एक भाड़े के टट्टू की तरह समझ कर उसे खूब कस कर काम में लाते थे।

तपोभूमि में रहना आपको पसन्द था। जाने में मोटर व रेल का आराम हो, रहने को बढ़िया मकान हो, खाने को सब प्रकार के फल और तरकारियाँ मिलें, ऐसी बातों की आप कभी चिन्ता ही नहीं करते। शरीर के आराम और स्वाद की चिन्ता से मुक्त थे। चित्त की निर्मलता बनाये रखने में ही आनन्द मानते थे। कशमीर, शिमला, मसूरी, मरी जैसे रजोगुणी स्थानों से आपका चित्त घबराता था। शहरों में रहना भी आपको कदापि पसन्द नहीं था; पर करुणावश अपने चित्त के स्वभाव के प्रतिकूल ही आपको सत्संगियों की हित-साधना के लिये आना ही पड़ता था।

उत्तराखण्ड की भूमि, चित्रकूट की पहाड़ियाँ आपको विशेष पसन्द थीं। यही शुद्ध धारणा ही आपको कैलाश-यात्रा में ले गई कि जहाँ आपने अपने पंचभौतिक शरीर को सवदा के लिये त्याग दिया।

शारीरिक कष्ट में आप डाक्टरों, वैद्यों से बहुत कम सहारा लेते थे। हठयोग की क्रियाओं और सात्विक भोजन और साधारण औषधियों से ही काम चलाया करते थे। ऐसी ही स्वतन्त्रता का उपदेश सब सेवकों को दिया करते थे।

नित्य नियम

प्रातःकाल का समय तो ध्यान-पूजा में व्यतीत होता था, फिर साधकों से मिलते। ३ बजे शाम को सतसंग लगता। मैदान में रहते तो नित्य प्रति हवन करते। घूमने का आपको बड़ा अभ्यास था। चित्त न होता तो महीनों तक मकान के अन्दर भी रह लेते, कभी चित्त न घबराता। सब प्रकार के बन्धनों और व्यसनों से सर्वदा मुक्त रहते थे।

मित्र-भाव

आप सर्वदा मित्र-भाव से ही सबसे बर्ताव करते। शिष्यों को कभी महसूस ही नहीं होता कि आप उनसे किसी प्रकार की सेवा अथवा नम्रता की चाह रखते हैं। नये जिज्ञासु और पुराने परिचित के मिलने पर आपके हाथ जुड़े रहते थे तथा मस्तक झुका रहता था। संन्यासी भक्तों के चरण छूने में आपको आनन्द आता था।

करुणा

हृदय आपका कोमल था। दूसरे के कष्ट को देखकर अधीर हो उठते थे। दुखी प्राणी को उपदेश देकर, समझा-बुझा कर, साधन सम्पन्न कराकर, हाथ पकड़ कर, घसीट कर, और उठाकर

भी जैसे होता उसे परले पार पहुँचाने का यत्न करते। सेवक की त्रुटियों को भूल कर उसके उत्साह को बढ़ाने का उद्योग करते। यह जानते हुए भी कि सेवक अधिकारी नहीं है, उसकी कृपा-परवश होकर सहायता करते रहते थे। आप सचमुच करुणा के सागर, दया के भण्डार और कृपा के स्रोत थे।

उत्साही भक्त आपको प्रिय थे। आलसी पुरुष पर तरस खाते; पर डट जाने वाले को देखकर बड़े प्रसन्न होते थे। आप प्राय: कहा करते थे :— "माया को मर्दन करना वीरों का काम है, कायर कुछ नहीं कर सकते।"

सूक्ष्म वृत्ति

आप सत्य के प्रेमी थे। छल-कपट, और कूट नीति से बड़ी घृणा थी। चित्त इतना निर्विकार कि मनुष्यों को देख, उनका वर्णन सुन, स्थानों का नाम जान कर ही आपको उनके वास्तविक गुणों के अनुकूल ही फुरना होती थी। चित्त में उत्साह, सुस्ती, घृणा, और प्रसन्नता जैसा भाव उठता वैसा ही सहज भाव से बर्ताव करते थे। आपका (astral body) सूक्ष्म शरीर अत्यन्त निर्मल और शुद्ध था। आपकी बुद्धि बड़ी सूक्ष्म थी। शब्द-जाल में फँसना, लच्छेदार वाक्यों में उलझना आपके लिये असम्भव था। स्पष्ट बात कहना प्रिय था। स्पष्ट वक्ता देखकर आप बड़े ही प्रसन्न होते। बात की तह तक पहुँचने की इच्छा और प्रयत्न करते थे।

ग्रहस्थ होते हुए भी लोभ पर पूरा अधिकार था, पीछे भी अधिकारियों को भक्तों से सहायता दिलाते रहे और यथाअवसर अपने को कष्ट में डाल दूसरे की सहायता करने में कभी भी पीछे नहीं रहे। कभी कभी ऐसा भी होता कि अपनी भिक्षा औरों को देकर

अपना कष्ट में ही गुजर कर लेते। इस से ही आपको अद्भुत आनन्द मिलता।

संस्कारों को उलट-पुलट करना आपको अच्छा लगता था, किसी प्रकार के रीति-रिवाज का विचार नहीं करते थे, धर्मानुकूल जैसा चित्त में सहजता से स्फुरित होता वैसा करते।

परमहंस

सब प्रकार से आप परमहंस वृत्ति से विचरते रहे। जैसे व्यवहार और आचार में पूर्ण स्वतन्त्र थे, वैसे ही विचारों में भी थे। सनातन धर्मानुसार तीर्थ-यात्रा और साधु-सेवा में सदा अग्रसर रहते थे, संन्यासी होते हुए भी नित्यप्रति हवन करते थे। कर्म-अकर्म के सम्बन्ध में मीमांसकों की तरह वेद-शास्त्र के अन्धे पुजारी, भक्तों की तरह ईश्वर-परायण, सन्तों के समान सब वर्णों से सम व्यवहार करते थे। अँग्रेजी विद्वान होते हुए सब बातों में छान-बीन कर सत्यासत्य की जाँच करने का यत्न सदैव करते रहते थे। नर-नारियों के समान हितैषी थे। ध्यान की विधि बताने और योग-साधन कराने में पूरे दक्ष थे। किसीको जाप कराया, तो किसी को मूर्ति पूजा से साधन में लगाया। किसी को व्रत कराते तो किसी को हठयोग की शारीरिक क्रियायें कराते। एक को प्राणायाम की विधि बताई तो दूसरे को नाम का सहारा दिया। यदि एक को ध्यान बताया तो दूसरे को विचार मार्ग से चलाया। जो जिस साधना के लिये उपयुक्त होता उसे उसमें ही लगाते और साधना में प्रवृत्त करने के पूर्व यह अच्छी तरह देख लेते कि इस की शारीरिक और मानसिक स्थिति क्या है तथा इसे किस प्रकार की साधना से वास्तविक लाभ पहुँचेगा। पर यह सब तर्क के आधार से नहीं अपनी सहज स्वाभाविक चित्त की स्फुरणा से ही जानते

थे। स्वयं सभी प्रकार की साधनाओं में निपुण तथा अनुभवी होने के कारण सभी प्रकार के साधकों को ठीक रासते पर ले चलने में आप को कभी कोई कठिनाई नहीं हुई। साधक अपनी कमजोरी से हिम्मत हार जाय तो दूसरी बात है। अधिकार के अनुसार किसी को एक रास्ते से चलाते, किसी को दूसरे से। किसी विषेश पन्थ या मत का प्रचार नहीं करते थे; परन्तु विचार यही रहता था कि प्राणी को उसके अवस्थानुसार कल्याण के मार्ग पर लगा देना चाहिये। इसी से आप कर्मिष्ठ, विचार-शीलों और भक्ति-भाव से पूर्ण सबको समान रूप से हितेच्छु प्रतीत होते थे। योग के साधक और ज्ञान के पिपासु दोनों को आपसे पूर्ण सहायता मिलती थी।

आपकी कार्य्य-कुशलता, योग-विषयक दक्षता, पुरुषार्थ-प्रियता, स्त्री-जाति के उद्धार की इच्छा और सब योगों के अनुष्ठान को देखकर आनन्द-कन्द योगीराज भगवान श्री कृष्ण की याद आती है। आपका वृन्द्रावन में रहना, जमुना-तट पर विचरना, आपका सखा-भाव और मित्रवत दृष्टि बाल-गोपाल नन्दलाल की मोहनी मूर्ति को आँखों के सामने ला खड़ी कर देती है।

आपकी वेद-शास्त्र में अगाध श्रद्धा से जैमिनी मुनि की स्मृति हरी हो आती है। तीर्थ-यात्रा में रुचि, साधु-सेवा में प्रसन्नता, राम और कृष्ण में अनुराग, प्रभु में अनन्य भक्ति को देख सन्त कबीर, सूरदास, तुकाराम, तुलसीदास, नानक और महाप्रभु चैतन्य सामने आ जाते हैं।

आपके मुख से अहिंसा का निरूपण सुन, आपकी मित्रवत दृष्टि को देख, दुःख निवृत्ति का उपदेश सुन, जिज्ञासुओं को वनों अथवा पहाड़ों में साथ ले निर्वाण उपदेश देना माहात्मा बुद्ध और भिक्षुओं का चित्र सामने खड़ा कर देता है।

आपका चित्रकूट में घूमना और साधुओं के दर्शनों को जाना

मर्यादा पुरुषोत्तम राम की स्मृति को जगाता है। आप के तर्क और विवेचना को ध्यान में लाते ही महात्मा सुक्रात और महामुनि गौतम की याद आती है। संसार की असारता और क्षणभंगुरता का निरूपण आपको आदि मुनि कपिल के साथ जा ठहराता है। कल्पना-जाल को तोड़ने का उपदेश देते समय आप शंकराचार्य्य के समान गूढ़ विचारों और तर्क की अलौकिक रचना करते थे।

तप और तितिक्षा में पुरातन ऋषियों के समान थे। वेद-शास्त्र, दर्शन, इतिहास और पुराणों में पारंगत होने के कारण आप वेद-व्यास से लगते थे। योग के तथ्य समझाने में और समाधि के गूढ़ रहस्य और साधन सुझाने में आप भगवान पातंजल के समान जँचते थे। सरलता में श्री रामकृष्ण परमहंस ही प्रतीत होते थे।

आप सरलता की मूर्त्ति, नम्रता के अवतार, बात के धनी, स्वतंत्रता के अनन्य भक्त, प्रभु-परायण, दृढ़-प्रतिज्ञ, तपस्वियों में तपीश्वर, योग में प्रवीण, कार्य्य में कुशल, ज्ञान के भण्डार, समझाने और शिक्षा देने में दक्ष, परिणाम में तटस्थ, सब प्रकार से गुणों की खान थे।

सन्तों की महिमा अपार है, जब वेद भी सन्त की महिमा नहीं जान सकते तो फिर मेरी तुच्छ बुद्धि उसकी थाह कैसे पावे। नानकदेव ने ऐसे मुक्त पुरुष का अपने पदों में इस प्रकार वर्णन किया है :—

जो नर दुःख में दुःख नहीं माने।
सुख स्नेह अरु भय नहिं जाके, कञ्चन माटी माने ॥ १ ॥
नहिं निंदा नहि अस्तुति जाके लोभ मोह अभिमाना।
हर्ष शोक से रहे न्यारा, नाहिं मान अपमाना ॥ २ ॥
आशा, मनशा सकल त्यागे, जग से रहे निराशा।
काम क्रोध जेहि परसे नाहीं, ते घट ब्रह्म निवासा ॥ ३ ॥

ऐसे महापुरुषों में ही ब्रह्म का निवास है। यही चिन्ह जीवन मुक्त में पाये जाते हैं।

लोभ मोह माया ममता पुनि, अरु विषयन की सेवा ।
हर्ष शोक परसे जेहि नाहीं, सो मूरत है देवा ॥ १ ॥
स्वर्ग नरक अमृत विष, ये सब, त्यों कञ्चन अरु पैसा ।
अस्तुति निन्दा यह सम जाके, लोभ मोह पुनि तैसा ॥ २ ॥
दुःख सुख यह बाँधे जाहि नाहीं, तैं तुम जानो ज्ञानी ।
नानक मुक्त ताहि तुम मानो, यह विधि को जो प्राणी ॥ ३ ॥

जागृति

योगीराज सन्त सियारामजी महाराज ने पैंतीस वर्ष की अल्प आयु में उस परम अवस्था को प्राप्त किया था कि जिसका वर्णन हम श्रीमद्भगवद्गीता अथवा उपनिषदों में ब्रह्मनिष्ट अथवा स्थितप्रज्ञ के रूप में पाते हैं। तत्पश्चात आप पूरे २० वर्ष तक उस आत्मप्रसाद को बड़ी लगन और प्रेम के साथ बाँटने का कार्य्य करते रहे। बिना भेद-भाव के अनेक नर और नारी, युव और वृद्ध आपकी देख रेख में रह कर मोक्ष साधन में लगे तथा अपने-अपने संस्कारों के अनुसार थोड़ी-बहुत उन्नति कर पाये। योग्य-साधकों ने आत्मज्ञान के तत्त्व को समझा, श्रद्धा सम्पन्न भक्तों के हृदयों में आत्म ज्योति जग गई, परम पद के प्रकाश की झलक ने मन को सर्वदा के लिये माया-मोह से हटा कर आत्मा में अर्पण कर दिया। भगवान की अनन्य भक्ति ने सरल और भावुक हृदयों को पूर्ण शान्ति से भर दिया। निष्काम कर्म के रहस्य को सेवक सेवा में रहकर समझने लगे।

बीस वर्ष तक प्रभु प्रेरणा के अनुसार आप जिज्ञासुओं के सन्देहों को चूर्ण करते रहे। मुमुक्षुओं को आपने मार्ग दिखाया, भक्तों

को भगवान की भक्ति का रहस्य समझाया, कर्मचारियों को मोक्षदायक कर्म सिखाया, और संसार-दुःख से पीड़ित प्राणियों को परम आनन्द का मार्ग बताया। अन्त में परम निर्वाण का अद्भुत दृश्य दिखा कर शरीर को सर्वदा के लिए शान्त कर दिया।

निर्वाण

ऐसे परम कृपालु सद्गुरु के वियोग को भक्तों ने बड़ी वेदना से सुना। 'अनाथ हो गये, अवसर हाथ से निकल गया, अब क्या होगा, कौन सहारा देगा' ऐसे ही विचार सबके हृदय में उठते थे। सन्तोष यही था कि महाराज ने बड़ी उदारता से बिना मुट्ठी बन्द किये उन्मुक्त रूप से, बिना किसी दुराव या छिपाव के अपने जीवन काल में ही सब रहस्य समझा दिया था, मार्ग भली भाँति दिखा दिया था, सब ऊँच-नीच सुझा दिया था, अनेकों साधनों का अनुष्ठान सिखा दिया था, अन्त में, भगवान कृष्ण का ऊधव को आदेश 'पुरुपार्थ करो' और महात्मा बुद्ध का आनन्द को आदेश 'अपना सहारा आप बनो' की याद दिलाते हुए आपने भी यही कहा था कि 'जिसको करना होगा, वह अब जान भिड़ा कर पुरुपार्थ करेगा।' इस अन्तिम नाद की गूंज सबके कानों में समा गई और महान त्यागी योगीराज ने जिस शान्ति से काया को सर्वदा के लिए शान्त कर दिया, उसीकी स्मृति ही रास्ता दिखाने का कार्य्य कर रही है। परमात्मा की कृपा हो, यह नाद सब मुमुक्षुओं को सुनाई दे, यही आदर्श उनके हृदयों में घर करजाय।

शांति ! शांति !! शांति !!!

मोक्ष-साधन-माला

पहला पुष्प ... साधन-पथ (उपदेश-पूर्ण पत्र)

दूसरी बार — ॥)

दूसरा पुष्प ... महाराज के जीवन चरित्र

दूसरी बार — १)

तीसरा पुष्प ... मोक्ष-साधन (सदुपदेश)

दूसरी बार — ॥)

[तय्यार हो रहा है]

मिलने का पता :—

(१) श्री रामतीर्थ पब्लिकेशन लीग, लखनऊ
(२) वज़ीरचन्द्र शर्मा, बुकसेलर, लाहौर
(३) सेवा - सदन, चांदनी चौक, देहली
(४) गौतम ब्रादर्स एण्ड कं० लिमिटेड, कानपुर

योगीराज श्री स्वामी सियारामजी महाराज

की

जन्म-कुंडली
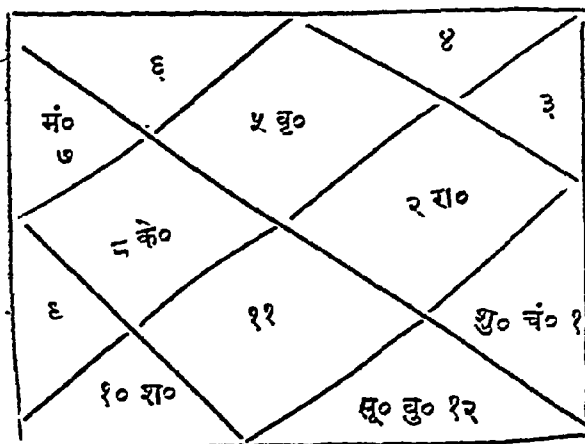
तृतीया, चन्द्रवार, शुक्ल पक्ष, चैत्रमास, १९३० सम्वत्
समय २८ घड़ी, ३६ पल
३१ मार्च १८७३, ४ बजकर, २६ मिनट, सायंकाल.

[जन्म कुण्डली]

सार: — ग्रहों की स्थिति देखकर साधारण रूप से ऐसा दिखलाई देता है कि ग्रह-बल सांसारिक विषय में साधारण परंतु मानसिक और आध्यात्मिक विषय में बहुत ही अनुकूल हैं।

ग्रहों के विशेष योग :— धर्म-स्थान में चन्द्र, शुक्र योग है। बृहस्पति की दृष्टि पंचम पर और नवम पर पूर्ण है। चन्द्र, शुक्र, बृहस्पति का त्रिकोण योग होता है। नवम का स्वामी मंगल अपने स्थान को पूर्ण दृष्टि से देखता है। राहु, केतु, शनि स्वस्थान

में बलवान हैं। सिंह लग्न में बृहस्पति है, और उनके स्थान (अष्टम) में सूर्य्य हैं। व्ययेश भाग्य स्थान में हैं।

प्रभाव :— मानसिक उन्नति, उच्च आदर्श, आनन्द प्राप्ति, स्वतन्त्र विचार, उदारता, योग-अभ्यास में रुचि, पराक्रम, धृति, वैराग्य और दूसरों को प्रभावित करने वाला चरित्र आदि गुणों की ओर निर्देश करते हैं।

निर्वाण-कुंडली
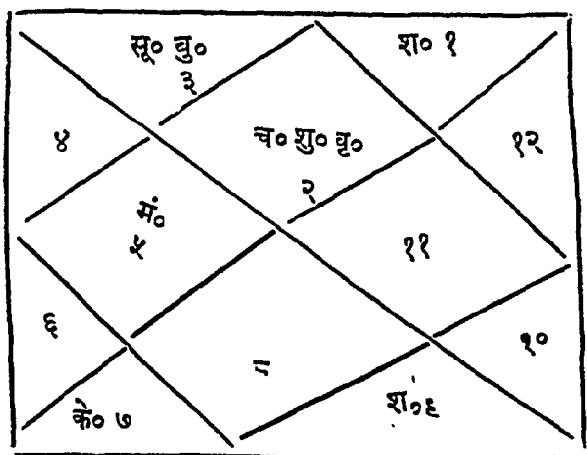
द्वादशी, कृष्ण पक्ष, आसाढ़ मास, १८८६ संवत्

४, जुलाई, बृहस्पत, ३॥ बजे, प्रातःकाल

सन् १९२९ ई०

[निर्वाण कुण्डली]

विशेषता :— लग्न में उच्च का चन्द्र व स्वग्रह का शुक्र वृहस्पति के साथ संयोग करते हैं। राहु, केतु, शनि बलहीन द्वादश, षष्ट और अष्टम में हैं। मंगल, शत्रु ग्रह में चतुर्थ में होकर लग्न को देखता है। सूर्य्य की पूर्ण दृष्टि अष्टम स्थान में शनि पर है।

प्रभाव :— पित्त के आधिक्य से दस्त, क़ै आदि उदर-रोग और वायु का कुपित होना दिखलाई देता है। मन की स्थिति शान्त, आनन्दमय और चित्त का ध्येय में मग्न होना और मोक्ष-दायक गति मालूम पड़ती है। वृहस्पति, चन्द्र, शुक्र का योग ही विशेष है और पुण्य-सूचक है।
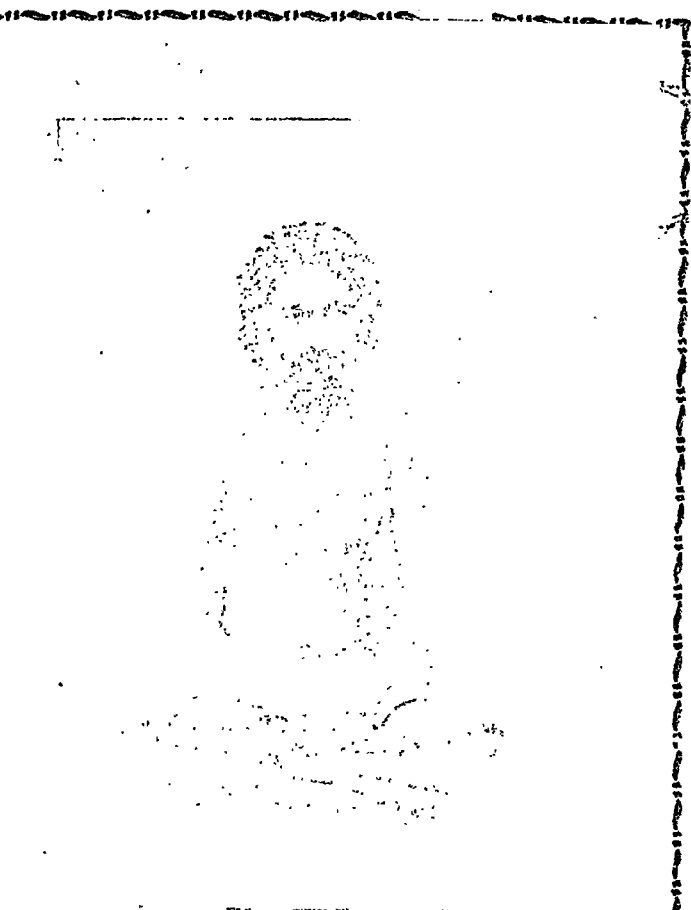
नोट :—ज्योतिश शास्त्र के पण्डितों के अध्ययन के लिये यह दोनों कुण्डली तथा ग्रहों का प्रभाव संक्षेप से दिया जाता है। वे जीवन-चरित्र को पढ़कर शास्त्र के तत्व को अधिक समझने का यत्न करेंगे।

मेरा लक्ष्य

"मेरा यह लक्ष्य था कि मैं पुरुषों तथा स्त्रियों में इस बात की जागृति करा दूँ कि यदि व्यवहार को शुद्ध कर, आहार सात्विक कर और शरीर को ठीक रक्खें और विषयों से मन को हटाकर अन्तर्मुख करें, तो उनको अपने भीतर के ख़ज़ाने का पता लग सकता है।"

सियाराम.

योगीराज श्री स्वामी सियाराम जी महाराज

स्वामी जी की हस्त-लिपि

ॐ

मेरे में तो कोई शिकायत नहीं है - प्रभु से प्रार्थना करना चाहिये कि जैसा चाहें वैसा कर सकते हैं - अपने मन को ऐसा बनाना चाहिये कि जिस तरह जिस हाल में प्रभु रखें उसमें संतोष करो तभी वे भी प्रसन्न होते हैं।

::

सियाराम

१

शिक्षा-काण्ड

पहला प्रकरण

जन्म

बुन्देलखण्ड की भूमि बड़ी पवित्र है। यहाँ के लोग बड़े परिश्रमी होते हैं। इसी देश की पहाड़ियों में श्रीरामचन्द्रजी ने सीता तथा लक्ष्मणजी के साथ वनवास के कुछ दिन बिताए थे। यहाँ पर अनुसूयाजी ने अपना तपोमय जीवन व्यतीत किया था। इसी जगह वाल्मीकि मुनि डाकू से ऋषि बने थे। चित्रकूट का नाम कौन हिन्दू नहीं जानता? जैसे आदि कवि वाल्मीकि ने संस्कृतज्ञ पण्डितों के बोधार्थ इस भूमि के यश को गाया है, वैसे ही श्री गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामचरित-मानस रूपी अमृत द्वारा इस भूमि को सर्व साधारण के लिये विख्यात तथा अमर कर दिया है। बुन्देलखण्ड के मामूली पढ़े लिखे लोग भी रामायण की चौपाइयों और दोहों को हर समय गाते रहते हैं। स्त्रियाँ प्रत्येक मङ्गल कार्य्य में सीता और राम के चरित्र गाना आवश्यक समझती हैं। जैसे पंच नद के उत्तरीय प्रदेश में ग्रन्थ साहब के पदों का पाठ अनेक हिन्दू तथा सिक्खों के

घरानों में होता है, वैसे ही इस तरफ़ रामायण भी छोटे, बड़े, कुलीन ब्राह्मण तथा साधारण परिश्रमी शूद्र, सब के हृदय में गूंजती है। पश्चिमी सभ्यता के दिल-दादा जिन लोगों को असभ्य और मूर्ख समझते हैं और उच्चवर्णीय अभिमानी लोग जिनको घृणा की दृष्टि से देखते हैं, उन्हीं लोगों को जब हम रामायण का पवित्र पाठ करते और स्वर और भक्ति सहित सीताराम के पावन चरित्र को गाते देखते हैं, तो कुछ समय के लिये हमारा हृदय श्रद्धा से जगमगा उठता है, और हम किसी दूसरी दुनिया में पहुँच जाते हैं। राम तथा कृष्ण हमारे जीवन-मार्ग के चाँद और सूरज हैं। जन-साधारण के लिए शास्त्रों की बारीकियां और उपनिषदों के गूढ़ रहस्यों को समझना आसान नहीं। वेद-पाठ उनके लिए ऐसा मार्ग है, जिसमें वह एक क़दम भी नहीं चल सकते। इतिहास और पुराण हिन्दू धर्म के प्राण हैं। रामायण, महाभारत और श्रीमद् भगवद्गीता के सरल सीधे श्लोक पण्डितों और ज्ञानियों को भी मुग्ध कर लेते हैं। वैसे तो राम, कृष्ण आदि महापुरुषों का यश सारे भारतवर्ष में फैला हुआ है, पर संयुक्त प्रान्त तथा बुन्देलखण्ड में तो प्रत्येक हिन्दू के हृदय में इन्हीं का राज्य है। जिस प्रकार वृन्दावन, मथुरा और सारे व्रज देश में कृष्ण के पावन चरित्र पर सब नर-नारियाँ मुग्ध हैं, उसी प्रकार अवध, चित्रकूट और सारे बुन्देल-खण्ड के निवासी राम तथा सीता के अमृतमय जीवन पर लट्टू हैं। रामायण सुनकर उनकी आँखें सजल हो जाती हैं। प्रेम और बलिदान के जितने प्रकाश-पूर्ण दृष्टान्त इस पुस्तक में पाये जाते हैं उतने अन्य स्थान में मिलना असम्भव है। पारि-वारिक जीवन को मधुर तथा रसमय बनाने के लिये रामायण से बढ़कर उपयोगी ग्रन्थ हमारे साहित्य में नहीं मिलता। जैसे गीता

और महाभारत राजनीतिज्ञों के लिये नीति धर्म का और मुमुक्षुओं के लिए मोक्ष पद का निरूपण करते हैं तथा प्रभु के भक्तों को पराभक्ति का अमृत पान कराते हैं, वैसे ही परस्पर साधारण जीवन में प्रेम की धारा बहाने के लिए, मर्यादा-पुरुषोत्तम राम की कथा कितनी मोहिनी और उपयोगी है यह कहना आसान नहीं। राम जैसा पुत्र कौन नहीं चाहता। स्त्रियाँ राम जैसे वीर पति की कामना करती हैं। राम और भरत के भ्रातृ-प्रेम की कहानी सुनकर मनुष्य मुग्ध हो जाते हैं, प्रेम और त्याग का ऐसा अनुपम मेल आपको दूसरी जगह कम मिलेगा। लक्ष्मण के तप तथा सेवा की प्रशंसा कौन नहीं करता। सीता तो भारतवर्ष की स्त्रियों की आदर्शदेवी है। कौन माता है, जो यह न चाहती हो कि उसकी बेटी सीता जैसी सती-साध्वी बने? कौन पुरुष है जो यह न चाहता हो कि उसे सीता जैसी पतिव्रता नारी मिले। ऐसे सौभाग्य के लिए तो लोग शायद सारे जीवन का वनवास लेने को भी तैयार हो जाएँ। कैकेयी इस पुष्प-वाटिका का काँटा है, मगर वह भी अपने पुत्र के प्रेम में ही अन्धी होकर कुल का अनिष्ट कराती है। कुलक्षणी मन्थरा का भी अपनी रानी पर अगाध प्रेम है। हनुमान जैसा सेवक होना बड़ी बात है। हमारे सेवक-दल हनुमानजी की छत्र-छाया के नीचे खड़े होने में अपना अहोभाग्य समझते हैं। सुग्रीव की मित्रता, अङ्गद की स्वामि-भक्ति और विभीषण की धर्म-परायणता सब के हृदय को मुग्ध करने वाली है। ऐसे भगवान श्रीराम के शुद्ध तथा पावन चरित्र की गाथा जिस भूमि में गाई जाती है, उसी बुन्देलखण्ड के एक छोटे से ग्राम में महात्मा सियारामजी का जन्म हुआ।

बाँदा बुन्देलखण्ड का एक विख्यात जिला है। बाँदे से पचीस मील पर 'बबेरू' नाम की तहसील है। इससे पाँच मील दक्षिण की ओर 'साथी' एक छोटा सा गाँव है। एक दो मकानों

के सिवाय यहाँ सब मकान कच्चे हैं। इस ग्राम में प्रायः कुर्मी राजपूत रहते हैं। यहीं के एक क्षत्रिय कुर्मि राजपूत कुल में महात्मा सियाराम जी का जन्म हुआ। आपके पिता का नाम अन्शुप्रसाद था और माता का नाम मोहिनी। पिता अन्शु बात के पक्के तथा स्वभाव के हठीले थे, परन्तु मोहिनी स्वभाव की भोली तथा हृदय की सरल थी। मोहिनी का चित्त उदार था, जब कभी कोई पड़ोसिन उससे सहायता माँगती तो मोहिनी कभी इन्कार न करती। परन्तु इतनी अमीर न थी कि दान ही करती चली जाती। प्रायः लौटा देने का वचन देकर भी लेजाने वाली जब उस अन्न आदि को वापस न करती, तो मोहिनी का हृदय दुखी हो जाता। फिर भी दुखिया पड़ोसिनों को कोरा जवाब देने का उसमें साहस न था, कोई कठोर हृदय ही ऐसा कर सकता है। ऐसी करुणा तथा दयालुता की मूर्ति माता मोहिनी की पवित्र गोद में सम्वत् १६३०, चैत्र मास, शुक्ल पक्ष तृतीया, चन्द्रवार के दिन, दोपहर के पश्चात् तीन बजे, हमारे चरित्र-नायक सियाराम जी ने जन्म लिया।

वसन्त ऋतु उत्साह तथा स्फूर्ति का ऋतु है। प्रेमी और कवि तो इस सुहावने समय पर मुग्ध होते ही हैं, पर परिश्रमी और उत्साही साधक तथा ज्ञानी भी इस शुभ अवसर से पूरा लाभ उठाते हैं। वसन्त का उत्साह महात्मा जी के प्रत्येक कार्य्य में दिखलाई देता था। पिता अंशु की तरह सियारामजी जैसे हठीले तथा दृढ़व्रती थे, वैसे ही माता की सरलता तथा मृदुता से परिपूर्ण थे। करुणा तो उनके रोम-रोम में बस गई थी। उनके चरित्र को पढ़ने से यह सब भली भाँति प्रगट हो जाता है।

सियारामजी से पहले उनके बड़े भाई जानकीदास का जन्म हो चुका था। जानकीदास के दो पुत्र हुए। छोटे पुत्र का नाम

रामधनी है जिन पर चाचा की बड़ी कृपा थी और जो उनमें बड़ी भक्ति रखते हैं। भाई भी उनसे बड़ा स्नेह तथा आदर करते थे। उनकी पुण्य स्मृति सब सम्बन्धियों के हृदयों को गद्-गद् कर देती है। घर का काम ज़िमींदारी है। खेती से साधारण गृहस्थ का कार्य्य बड़ी सरलता से चला जाता है। अंशुजी भी इसी प्रकार अपने गाँव के दूसरे कुर्मि लोगों की तरह खेती ही से अपना जीवन निर्वाह किया करते थे।

प्रभु की लीला विचित्र है। जो धनी साहूकार हैं तथा धन-वैभव से सम्पन्न जीवन व्यतीत करते हैं, वे अपने आपको ईश्वर की कृपा का विशेष पात्र समझते हैं। दूसरे भी प्रायः उनको इसी दृष्टि से देखते हैं। परन्तु अनेक वीर तथा सन्त लोग उन माताओं की गोदों को पवित्र करते हैं जिनको लोग ईश्वरकी कृपा से वञ्चित समझते हैं। जहाँ जानकीदास तथा सियाराम का जन्म हो वहाँ प्रभु की भक्ति की कैसे कमी हो सकती है। यह नाम ही दर्शाते हैं कि इस खण्ड के लोगों के हृदय मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र जी तथा सती साध्वी सीता माता की भक्ति से ओत प्रोत हैं।

अन्शुजी से लोग डरते थे। निस्सन्देह उनकी ज़िमींदारी बड़ी न थी, पर लोग उनका दबदबा मानते थे। सच्चे राजपूत की तरह वे अपने वचन के पक्के थे; परन्तु उनकी माता का स्वभाव ब्राह्मणों का सा था। उनके पिता क्रोधी तथा दृढ़ प्रतिज्ञ थे; परन्तु मोहिनी सरल तथा सहृदय थी। सियाराम जी ने अपने चरित्र में दोनों से गुण ग्रहण कर लिए। गुणग्राहक वृत्ति का उपदेश वे सदैव दिया करते थे। जन्म से ही यह वृत्ति उनमें स्वाभाविक थी। माता की सरलता तथा पिता की दृढ़ता, दोनों को उन्होंने अपनाया। उनकी उदारता, उनका करुणामय

हृदय, उनका सरल स्वभाव इन सब का निमित्त उनकी माता थी। यदि पिता से उनको दृढ़ प्रतिज्ञता न प्राप्त होती तो यह सब गुण सार्थक न हो सकते, और सरलता विद्या से मिल कर विवेक का रूप न धारण कर सकती। दृढ़ता के सहारे ही आप ने सत्य और असत्य, सार और असार की विवेचनात्मक शक्ति प्राप्त कर पाई थी। हृदय की पवित्र तथा अतिप्रिय भावनायें माता ही प्रदान करती है, पिता अपनी इच्छा-शक्ति, का बल देता है कि जिसके बिना कार्य्य में सफलता होना असम्भव है।

दूसरा प्रकरण

बाल्य काल

चित्रकूट प्रसिद्ध तीर्थ है। आस पास के लोग प्रायः एकादशी, अमावस्या तथा पूर्णमासी पर चित्रकूट की आकर्षक पहाड़ियों के दर्शन और श्री सीता और रामचन्द्र जी महाराज के पावन चरित्रों की पुण्य स्मृति से हृदय को पवित्र करने के लिये आया करते हैं। वैसे तो भारतवर्ष के सभी प्रान्तों की हिन्दू जनता यहाँ तीर्थ यात्रा को आती है, पर आस-पास के रहने वाले तो यहाँ अनेक बार आते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अंशुजी भी इस यात्रा पर कई बार आये। पिता तथा भाई के कन्धे पर सवार होकर सियारामजी ने भी इस पवित्र भूमि की अनेक बार परिक्रमा की। इसीसे ही उनके हृदय में साधु-संगति तथा तीर्थ-यात्रा और प्रभु-भक्ति के सुसंस्कार जग पड़े तथा दृढ़ होते गये। उनकी जीवन-लीला पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट पता चलता है कि यदि कोई

कार्य्य है जिसको वे बालकपन से आरम्भ करके शरीर के अन्त होने तक करते रहे तो वह था साधु-सङ्गति और तीर्थ-यात्रा। प्रभु में उनका अटल विश्वास था, शास्त्रों में पर्वत समान अचल श्रद्धा। सन्तसेवी तो वे एक ही थे। तीर्थ-यात्रा करने से तथा पुण्य भूमियों के दर्शन करने से उनका हृदय-कमल खिल उठता था। उच्च शिक्षा और विचारमय जीवन के कारण वह पण्डों तथा पुजारियों के फन्दे में कभी नहीं फँसे। निगम आगम के मर्म को वे भली भाँति जानते थे। तीर्थ-यात्रा का महत्व भी वे खूब समझते थे। इन सब सद्गुणों के लिए उनके माता पिता को ही श्रेय है जिन्होंने बाल्य-काल से ही चित्रकूट की अनेक यात्राओं में, साधु-सन्तों और राम के पावन चरित्र से सम्बन्धित स्थानों के दर्शनों से, उनके कोमल हृदय में सन्तसेवा, ईश्वर-विश्वास तथा तीर्थ-यात्रा के अंकुर डाल दिये। बाल्यकाल के ये संस्कार उनके जीवन की तीन बड़ी तथा विशेष कलायें बने रहे।

ये सब बातें इस जीवन चरित्र को पढ़ कर धीरे धीरे पाठक स्वयं ही अनुभव करने लगेंगे। अपने देवता के बाल्य-काल की कुछ घटनाओं का उल्लेख करना हमारे लिए पर्याप्त है। अधिक हम नहीं जानते, पर जितना कुछ पता चला है उतने से ही स्पष्ट है कि "होनहार विरवान के होत चीकने पात"।

पिता से कुछ समय आप हिन्दी भाषा सीखते रहे। देहातों में समय को अधिक महत्व नहीं दिया जाता। सब कार्य्य अपने ढंग से होता है, लोग घड़ियों की चाल से बँध कर काम नहीं करते। आप जब सात-आठ वर्ष के हुए, तो अक्षर पहचानने लगे। सियाराम जी को पढ़ने में आरम्भ से रुचि थी। जब आप घर पर ही पढ़ते थे, तो एक दिन अन्शु जी अपने

तहसीलदार साहब के पास लगान देने गए, और छोटे पुत्र को भी साथ ले गए। तहसीलदार ने बात-चीत करके इस बात पर आग्रह किया कि बालक को पढ़ने के लिए 'बबेरू' भेज दिया जाये। अन्शु जी ने माता के मोह तथा स्नेह का वर्णन किया जिससे उनकी पढ़ाई रुकी हुई थी। घर लौट कर जब माता की ममता के कारण वे फिर ढीले होगये तो छोटे प्रतिभाशाली बालक ने खुद 'बबेरू' भेजे जाने के लिए आग्रह शुरू कर दिया। जब सुनवाई न हुई तो कहने लगे अगर हमको बबेरू न भेजोगे तो हम तहसीलदार साहब से शिकायत कर देंगे। बालक की यह प्रबल धारणा देख कर माता को मोह का पाश ढीला करना पड़ा, और उसने कलेजे पर पत्थर रख कर बालक को 'बबेरू' भेज दिया। इस एक ही घटना से पता चलता है कि छोटेपन से ही आप कितने विद्या-प्रेमी और दृढ़-सङ्कल्प थे।

'साथी' में ही आप कई बार आस-पास जहां-तहां साधुओं के दर्शनों को चले जाया करते, चुपचाप उनकी बातों को सुना करते और जो कोई काम वह बताते उसको बड़े चाव से किया करते थे। 'बबेरू' में रहते हुए भी एक महात्मा का उनको सङ्ग मिल गया। अनेक बार उनकी सेवा में गये। इतनी छोटी आयु में जो कुछ भी उनकी समझ में आया हो, पर इतना तो अवश्य हुआ कि उनके हृदय में त्याग के भाव तीव्रता से जाग उठे। घर को पता दिये बिना ही वे महात्मा जी के सङ्ग हो लिये। उन्होंने बहुतेरा मना किया पर हठीला बालक कब मानता? उनके साथ चले गये, और पूरा साल भर उनके साथ घूमते रहे।

जब आपके माता पिता को पता लगा कि उनको पढ़ने की अपेक्षा सन्त-सेवा अधिक प्यारी है और 'बबेरू' से मदरसा छोड़कर ला-पता हैं, तो वे उनकी खोज करने लगे। पता चला कि सात

मील की दूरी पर 'मरोल' ग्राम में एक साधु के पास ठहरे हुए हैं। वहाँ उनके पिता आये, बहुत समझाया कि 'शिक्षा तो पूर्ण करनी चाहिये'; पर आप यही कहते थे कि "मुझे नौकरी तो करना ही नहीं, तब इस पढ़ाई से क्या लाभ, साधु ही होना है तो व्यर्थ समय तथा शक्ति का ह्रास क्यों किया जाए।" धमकाया भी गया, पर धमकाने से तो बालक और भी हठी हो जाते हैं। लाचार अन्शु जी ने महात्मा जी से निवेदन किया तो उनके समझाने से बालक फिर पढ़ने को राज़ी हो गया।

तीसरा प्रकरण

प्रारम्भिक शिक्षा

अबकी बार आपको पढ़ने के लिए 'बसींढा' में (जो पहले बाँदा की तहसील थी) भेजा गया। यहाँ आपने दत्त-चित्त होकर पढ़ना शुरू कर दिया। इस समय आपकी आयु लगभग बारह वर्ष की होगी।

कई कारणों से हमारे अभागे देश में बाल-विवाह की कुप्रथा प्रचलित है। आप भी बहुत छोटी ही अवस्था में विवाह-पाश में जकड़ दिये गए; परन्तु अपनी शिक्षा के समाप्त होने तक उन्होंने अपनी स्त्री की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। उसके युवा होने पर जब आप हाई स्कूल बाँदा में और पीछे आगरा के कालिजों में पढ़ते रहे, तब भी छुट्टियों में बहुत कम घर आया करते थे। एक बार उनकी स्त्री ने यह आशंका प्रकट की, कि यदि तुम मेरी ओर से इसी प्रकार बेपरवाह रहे, तो सम्भव है, मेरे पाँव सत्य-मार्ग से इधर-उधर हो जाएँ। बात मामूली न थी, मगर आपने इसे महत्ता न दी, बोले :—

"यदि तुम्हारी रुचि पाप की ओर है तो मैं तुमको खुली छुट्टी देता हूँ। तुम्हारा जो जी चाहे करो। परन्तु इतना सोच लो, कि पाप का भय और दुख-रूपी फल तुम्हीं को सतायेगा"। बेपरवाही और उदासीनता उनके स्वभाव में कूट कूट कर भरी थी, इसी का परिचय इस घटना से भली भाँति मिलता है।

'वर्सांडा' में शिक्षा प्राप्त करके आप 'बाँदा' चले गये। वर्नाक्यूलर मिडिल स्कूल की अन्तिम परीक्षा में सरकारी वजीफा मिल गया। फिर सरकारी हाई स्कूल में पढ़ने लगे। इन दिनों अन्शुजी का शरीर छूट गया। आप उस समय घर न पहुँच सके। कुछ दिनों के बाद घर गये और जल्दी लौट आये। कोई विशेष चिंता और शोक नहीं किया। फिर उसी प्रकार पढ़ने-लिखने में लीन हो गये। साइन्स पढ़ने का आपको बहुत शौक़ था, मगर गणित आपका उससे भी प्यारा विषय था। बाँदा में पढ़ते हुये आपको आर्यसमाज के प्रसिद्ध सेवक चौधरी प्राणीसिंह जी से बहुत सहायता मिलती रही जिनके आप अन्त तक कृतज्ञ रहे। जब कभी आप चित्रकूट जाते उनके यहां जरूर ठहरते और उनको अपने सत्सङ्ग से वैसे ही कृतार्थ किया करते जैसे कि आप स्वयं उनके ऋणी थे। निजी तौर पर भी वे लड़कों को पढ़ा कर अपना खर्च पूरा किया करते थे। बाँदा में पढ़ते समय उनका स्वास्थ्य बहुत अच्छा नहीं रहता था, प्रायः कान में दर्द की शिकायत रहती थी। यह शिकायत बाद में भी जारी रही। शरीर तो आपका कमजोर था ही; परन्तु फिर भी आपने पढ़ने लिखने में कोई कसर न उठा रक्खी। मैट्रिक की परीक्षा में आप छठे नम्बर पर पास हुए और सरकारी छात्र-वृत्ति प्राप्त की। कुर्मि-क्षत्रिय बालकों में आप सब से प्रथम थे इस लिए अखिल भारतीय कुर्मि-क्षत्रिय महासम्मेलन लखनऊ

ने आपको पुरस्कार दिया। १८९५ ई० तथा सम्वत् १९५३ में जब आपने मैट्रिक पास कर लिया, तो आपके भाई आपको बाबू गयाप्रसाद डिप्टी कलेक्टर के पास ले गए और कहा, "साहब, इन्हें कहीं सरकारी नौकरी दिला दें, तो बड़ी कृपा हो, आप हमारी बिरादरी के हैं, इसलिए आप से बहुत आशा है।" पर जब उन्होंने आपके पढ़ने का शौक़ देखा, तो और पढ़ने की राय दी, और कहा कि यदि जरूरत पड़े, तो मैं सहायता देने को तैयार हूँ।

चौथा प्रकरण

किशोर-अवस्था

साइन्स तथा ज्ञान के प्राप्त करने के शौक़ से सियाराम जी १८९५ ई० के जुलाई मास में सेंट जान्स कालिज आगरा में (Free Scholar) फ़ीस माफ़ विद्यार्थी के तौर पर भरती होगये। औसत ४ साल एफ़० ए० तथा बी० ए० की पढ़ाई इसी कालिज में करते रहे। इस समय प्रोफ़ेसर बेनीमाधव सरकार यहाँ गणित पढ़ाया करते थे। वे सियाराम जी पर बहुत खुश थे। आप भी प्रोफ़ेसर साहब के बड़े कृतज्ञ थे। प्राय: उनके सच्चरित्र, साफ़गोई और कार्य्य कुशलता की प्रशंसा किया करते थे। गणित में आप की विशेष रुचि थी। आपकी विवेचना-शक्ति को गणित के जटिल प्रश्न सुलझाने में विशेष उत्साह तथा आनन्द प्राप्त होता था। इससे गुरु शिष्य में और भी समीपता हो गई। प्रो० सरकार आपको पैत्रिक स्नेह से पढ़ाया करते और अन्य व्यवहार तथा धर्म की बातों में भी अनुभव से भरी और खरी-खरी राय दिया

करते थे। हृदय के भी वे उदार थे। सियाराम जी पर उनका स्नेह इतना बढ़ा कि उन्होंने आपको अपने घर में आने जाने की भी पूरी आजादी दे दी। धन आदि से भी वे इनकी सहायता किया करते। इस कारण आप उनके बड़े ऋणी थे; और इस ऋण को चुकाने का आपने बाद में प्रयत्न भी किया।

एक घटना का उल्लेख करना यहाँ अति आवश्यक प्रतीत होता है। उस समय भी आपके सहपाठी आपकी सरलता से मोहित होकर आपको "महात्मा" कहकर बुलाया करते थे। एक दिन आपको रोने का दौरा हुआ। किसी गंभीर तथा दारुण दुःख से आप विह्वल हो उठे, और फूट-फूट कर रोने लगे। सारा दिन यही हाल रहा। जब कालिज क्लास में भी गये, तो भी रोना बन्द न हुआ। लाजिक के प्रोफ़ेसर दत्त ने इस रोने का कारण पूछा, पर यहाँ रोने के अतिरिक्त कोई उत्तर नहीं था। इस चुप्पी से खिन्न होकर उन्होंने आपको कमरे से बाहर निकल जाने को कहा। आप बाहर चले गये, मगर रोना फिर भी बन्द न हुआ। दूसरे प्रोफ़ेसर भी इसका कारण पूछते रहे, पर रोने से छुटकारा मिलता तो कारण भी बताते। हास्टल में गए, तब भी रोते ही रहे।

अयोध्याप्रसाद फाटकवाला जी की आपसे विशेष मित्रता थी। इनका मकान आगरा ही में था। सायंकाल को आपके एक सहपाठी मेवाराम जी ने फाटकवाला जी के घर पर जाकर सूचना दी कि "महात्माजी आज सारा दिन रोते रहे हैं, कुछ कारण नहीं बताते। आपने आज भोजन भी नहीं किया।" यह सुनकर अयोध्याप्रसाद जी बोर्डिङ्ग हाउस गये, तो देखते क्या हैं, कि आप पैरेलल बार्स (Parallel bars) पर चुप-चाप बैठे हैं, और आँखें दिन भर के रुदन से लाल हो रही हैं, और

सूज गई हैं। उनको देखते ही आप नीचे कूद पड़े। जब उन्होंने पूछा कि क्या बात है तो आपने कहा कि 'कुछ नहीं'। उनके कहने पर आप वैसे ही नंगे सिर नंगे पैर उनके साथ हो लिये। वे आपके वास्ते कुछ खाने को भी जेब में डाल आये थे, पर सारा दिन भूखा रहने पर भी खाने में आपकी कुछ रुचि न हुई। डेढ़ मील चलने के बाद हरि पर्वत की चार दीवारी पर दोनों मित्र बैठ गये। इधर उधर की बातों के बाद, अयोध्याप्रसाद जी ने फिर बड़ी सहानुभूति से पूछा "अरे भाई! तुम्हारे रोने का कारण क्या था?" आपने कहा "संसार की समस्या का हल नहीं सूझता। ईश्वर ने हमको इस सृष्टि में क्यों भेज दिया है। इतने कष्ट सहते हुए भी हम इसका मर्म नहीं जान सकते। यह भी पता नहीं चलता कि हमारा क्या कर्त्तव्य है? और हमारे जीवन का क्या लक्ष्य है?" यह सुनकर वे कुछ देर चुप रहे, इसके बाद बोले :—

> ज़िन्दगी क्या है तमन्ना-ओ-वफ़ा में जीना ।
> दीन क्या है किसी कामिल की परस्तिश करना ॥

इस पर आपने पूछा "तमन्ना और वफ़ा क्या है और 'कामिल' कहाँ मिल सकता है"? संसार की दुःखरूपता का आप प्रायः उपदेश दिया करते थे। यही चिन्ता आपको उस समय भी सताया करती। प्रायः साधु-महात्माओं का सत्सङ्ग भी किया करते थे। अयोध्याप्रसाद जी ने धीरज दिलाया कि घबराना व्यर्थ है, कोई न कोई पथ-प्रदर्शक मिल ही जायेगा। योगियों की तलाश तो आपको लगी ही रहती थी। एक दिन आप राय सालिगराम बहादुर (जिन्होंने राधास्वामी-मत की स्थापना की है) के पास गये और देर तक बात-चीत करते रहे। उनकी बातों से आपको सन्तोष तो न हुआ; पर उन्होंने इतना अवश्य कहा

"आप जन्म से योगी हैं, और समय आने पर आपको पूरी सहायता और सन्तोष मिल जावेंगे"।

एफ़० ए० में आप साइन्स पढ़ा करते थे। आपका ध्यान अध्यात्म सम्बन्धी बातों में बहुत लगा करता था। साधु महात्माओं का सङ्ग बहुत प्रिय था। पुस्तकें तक ख़रीदने की फ़िक्र नहीं होती थी। आपके एक सहपाठी ला० दीनानाथ जी आपकी पुस्तक आदि से बहुत सहायता किया करते थे। १८६७ ई० में एफ़० ए० की परीक्षा पास कर ली। बी० ए० में गणित तथा साइन्स पढ़ने लगे। परन्तु ध्यान फिर भी अपने लक्ष्य की ओर ही था। पढ़ने के दिनों में आपको क्रिकिट के खेल का अच्छा अभ्यास था, बड़ा अच्छा बाल फेंकते थे। परन्तु इस खेल की ओर अधिक ध्यान न दे सके। (Indoor games) घरेलू खेलों का आपको ज़रा भी शौक़ न था। अकेले घूम कर बहुत खुश होते थे।

पढ़ाई का खर्च अपनी ट्यूशन से ही पूरा किया करते थे। हाँ घर जाकर कभी-कभी मां से थोड़ा बहुत आटा, दाल, चावल ले आया करते। आप प्रायः कहा करते थे "कि जितना ख़र्च कम हो उतना ही अच्छा है। इससे बाद में रुपये कमाने की फ़िक्र नहीं रहेगी। थोड़े में ही निर्वाह हो जायेगा।" १८६६ ई० में आपने बी० ए० की परीक्षा दी। तत्पश्चात् इलाहाबाद कटरा में अयोध्याप्रसाद जी के साथ दो सप्ताह तक रहे। चार पाँच सहपाठी भी आपके साथ थे। परीक्षा के समाप्त होने पर तीर्थ यात्रा का निश्चय हुआ। सोलह तथा सत्तरह जनवरी को त्रिवेणी जी का स्नान किया। अक्षयवट तथा प्रयागराज के दूसरे पुण्य स्थानों का दर्शन करते रहे। अठारह जनवरी को गङ्गा जी के उस पार झूसी में अनेक साधुओं के दर्शन किये।

कई एक पुराने मन्दिर भी देखे। बारह मील तक घूमते घामते आपके साथी तो थक गये थे, परन्तु आप वैसे ही प्रसन्न थे। अपनी हँसी ठठोल और मनोरञ्जक कहानियों से साथियों को उत्साहित करते रहे। जहाँ भी जाते आपकी श्रद्धा के कारण साधु भी आप से बड़े प्रेम से बातचीत करते। उन्नीस को यह सब मित्र शहर के विख्यात लोगों से मिलने गये। परन्तु इसमें सियाराम जी को कुछ रुचि न थी। केवल साथ ही देते रहे। एक दो स्थानों पर तो वे बाहर ही फाटक पर खड़े रहे। दूसरे दिन सोमवती अमावस्या थी। आप साथियों सहित नाव में बैठ कर त्रिवेणी के सङ्गम की ओर गये। वहाँ अनेक स्त्रियां स्नान कर रही थीं। आपके युवा मित्र सौन्दर्य के पुजारी थे। परन्तु आपको यह अच्छा न लगा। अकेले ही वहाँ से दूर चले गये। स्त्रियों से आप उदासीन ही रहा करते थे। गर्मी की छुट्टियों में भी घर जाकर स्त्रियों में रहना पसन्द न करते। इक्कीस को ये सब विन्ध्याचल को गये और विन्ध्यवासिनी देवी के मन्दिर का भी दर्शन किया। यहाँ छोटी लड़कियों ने आपको पकड़ लिया और भिक्षा माँगने लगीं, पर आप पर इसका कुछ प्रभाव न पड़ा। वहाँ से ये सब लोग अयोध्याप्रसाद जी के चचा के वसीले से, एक नाव आठ आना दिन पर किराया करके, पानी के रास्ते बनारस की ओर चले। जब आप मिर्जापुर पहुँचे तो नाववाला गिड़गिड़ा कर जाने की छुट्टी माँगने लगा। आपने झट उसको छोड़ दिया और गाड़ी से बनारस पहुँचे। बाईस-तेईस को वे विश्वनाथ जी का मन्दिर, गोस्वामी तुलसीदास जी का घाट, क्वींस कालिज, रामनगर का क़िला, और महाराजा बनारस का महल आदि अनेक स्थान देखते रहे। चौबीस जनवरी को सब लोग अपने अपने घर चले गये।

पांचवाँ प्रकरण

युवा काल

गरमी की छुट्टियों के बाद सियाराम जी बी० ए० की परीक्षा पास कर चुकने पर आगरा आये। आपका विचार था कि कोई नौकरी मिल जाये। परन्तु प्रो० सरकार के समझाने पर आपने एम० ए० में भरती होना स्वीकार कर लिया। आशा यह थी कि एम० ए० पास कर लेने के बाद किसी कालिज में काम मिल जाएगा, जहां ज्ञान-ध्यान के लिए अधिक समय मिल सकेगा।

प्रो० बेनीमाधव सरकार अब सेन्ट जांस कालिज आगरा को छोड़ कर आगरा कालिज में चले गये थे। आप भी उनके साथ वहीं डी० एस-सी० की परीक्षा के लिए पढ़ने लगे। वहाँ ही कालिज में कुछ थोड़ा पढ़ाने का काम भी आपको मिल गया। इम्तिहान देने की इच्छा तो तीव्र थी ही नहीं, इसलिए ढीले हो गये। सन् १९०० ई० के फरवरी मास में आप फिर अयोध्या-प्रसाद जी के साथ तीर्थ-यात्रा को गये। इलाहाबाद से झूंसी और नैनी होते हुये चित्रकूट पहुँचे। वहाँ आप अपने पन्डा बाबूलाल के घर एक सप्ताह ठहरे। प्रातःकाल घूमने निकलते और सायंकाल को लौट आते। कोट तीर्थ, देवांगना, हनुमान धारा, सीता जी की रसोई, फटकशिला, अनुसूइया जी, गुप्त गोदावरी, सीता कुण्ड, लक्ष्मण कुण्ड, भरत कूप आदि अनेक स्थानों के दर्शन किये। उधर ही एक स्थान में एक साधु बाबा रामशरणदास जी के आपको दर्शन हुए। सायंकाल को खाना खाने के पश्चात् आप सब हठ योगी लक्ष्मणदास की सेवा में जाया करते थे। उनकी आयु सौ वर्ष की कही जाती थी, पर देखने में वह तीस वर्ष

के युवक प्रतीत होते थे। इस प्रकार १२ फरवरी को आप लौट कर घर चले गये।

१६०१ में अपने मित्र अयोध्याप्रसाद जी के अनुरोध पर आपने फर्स्ट डी० एस-सी० की परीक्षा दी। म्योर कालिज के प्रो० काक्स के पर्चे में आप एक प्रश्न की अशुद्धि निकालते रहे। जब इस बेपरवाही पर अयोध्याप्रसाद जी ने आपको बुरा-भला कहा, तो आपने दूसरे पर्चे में कमी पूरा करने का निश्चय कर लिया। दूसरे दिन जब प्रो० काक्स आपकी प्रतिभा पर प्रसन्न होकर आपसे मिलने आये, तो परीक्षा के समय आपने उनको टाल दिया "कि मेरा समय व्यर्थ नष्ट न किया जाये।" इसके पश्चात् आप उनसे मिले। काक्स महोदय ने आपकी गणित विषय में गति की मुक्त कण्ठ से सराहना की। आपको विलायत जाकर सीनियर रेङ्गलर बनने के लिए कहा। इस पर आपने धन का अभाव बताया। प्रो० काक्स बड़े साधु पुरुष थे, उन्होंने सहायता देने की आशा दिलाई। पर आपने बड़ी उपेक्षा से उत्तर दिया :— "Literary fame" (साहित्यिक प्रसिद्धि) की मुझे इच्छा नहीं है और न मैं इसमें अधिक परिश्रम करना ही चाहता हूँ। खैर प्रो० काक्स की साधुता के कारण आप First D. Sc. में तो उत्तीर्ण हो गये। फिर १६०३ में आपने Second D. Sc. की परीक्षा दी। फिर भी आपने वैसेही क्राइस्ट चर्च कालिज कानपुर के प्रो० मैकाली के प्रश्न-पत्र में अशुद्धि निकालने में समय व्यतीत कर दिया। अब की बार परीक्षक आप से रुष्ट हो गये, इसी कारण आप को Second D. Sc. की अर्थात् एम० ए० की परीक्षा में उत्तीर्ण न होने दिया।

इसी बीच में आप दो-एक महीने के लिए प्रेम महाविद्यालय वृन्दावन में भी साइन्स और गणित के पढ़ाने का कार्य्य कर

आये थे। गणित पढ़ने में आपको एकाग्रता का बड़ा अभ्यास हो गया था। यथार्थ बोध पर आपकी दृष्टि सर्वदा रहा करती। लच्छेदार शब्दों में आप कभी न उलझते। बात की तह तक पहुँचने का यत्न किया करते थे। कुछ काल पहले स्वामी राम भी यहां आये थे। उनके पास आप कई एक फ़िलासफ़ी के विद्यार्थियों के साथ अद्वैत विषय पर बातचीत करने के लिए गये। आपको अपने गहरे प्रश्नों का कोई सन्तोषजनक उत्तर न मिला। स्वामी जी ने फिर आकर मिलने के लिए कहा; परन्तु इस टाल-मटोल से आपकी श्रद्धा कुछ हट सी गई। वैसे तो आप स्वामी राम के ज्ञान तथा सच्चरित्र की बड़ी प्रशंसा करते थे। उधर आप आर्य-समाज के प्रसिद्ध सन्यासी श्री स्वामी दर्शनानन्द जी और काशी के विख्यात पंडित श्री केशवदेव जी शास्त्री से भी मिले थे। उनसे बातचीत करने पर आपको पता चला कि जो कुछ वे आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध में कहते हैं, वह केवल ग्रन्थों के आधार पर है। उनको उस विषय में कुछ अनुभव नहीं है। इससे आपकी रुचि ग्रन्थों के पढ़ने तथा व्याख्यानों के सुनने से और भी हट गई। किसी अनुभवी योगी की तलाश में आप सदा साधुओं के पास जाया करते थे। "जिन ढूँढा तिन पाया" के अनुसार आपकी यह आशा शीघ्र पूरी हुई। त्याग, लग्न, संसार की दुःखरूपता और दृढ़प्रतिज्ञता यह सब बातें आपके विद्यार्थी-जीवन में स्पष्ट दिखलाई देती हैं।

प्रो० सरकार की आप पर बड़ी कृपा रहा करती थी। आप भी कृतज्ञता के रूप में उनके बच्चों को पढ़ाया करते थे। प्रो० सरकार ने आपको इस बात का उपदेश दिया था कि "यकायक किसी की बढ़ी-चढ़ी बातों में फँस नहीं जाना चाहिये। हर एक बात को अपने अनुभव की कसौटी पर कसना चाहिये।" इसी से

इतनी श्रद्धा होते हुए भी आप हमेशा सचेत रहते थे। उनके दो वाक्यों को आप प्रायः सुनाया करते थे 'First marriage is a mistake' पहिला विवाह भूल है, 'Second marriage is a crime' दूसरा विवाह जुर्म है। वे स्वयं विवाहित थे; परन्तु विवाह को बड़ा बखेड़ा समझते थे। अपने शिष्यों तथा पुत्रों को यही राय देते कि यदि इससे बच सको तो अच्छा है।

प्रो० सरकार की सहायता से सितम्बर १९०३ ई० में आप रन्धीर कालिज कपूरथला में साइन्स और गणित पढ़ाने के लिए प्रोफेसर नियुक्त हो गये।

नोट :— उस समय एम० एस-सी० की परीक्षा को ही डी० एस-सी० की परीक्षा कहा करते थे।

२

साधना-कांड

—०—

पहला प्रकरण

साधन की तैयारी

प्रो० सियारामजी ने ४ भादों सं० १६६० तदनुसार १६ अगस्त १६०३ ई० को कपूरथला कालिज में काम करना आरम्भ किया। अपने पढ़ाने के कार्य्य में वे वड़े परिश्रम से यत्न किया करते थे। विद्यार्थी और प्रिन्सिपल दोनों ही आपके कार्य्य से अत्यन्त सन्तुष्टरहा करते थे। थोड़े ही दिनों वाद आपने अपनी सचाई और कार्य्य-कुशलता के कारण पाँच मास के लिए अर्थात् ४ भादों सम्वत् १६६३ से ३ माघ सं० १६६३ तक प्रिन्सिपल के पद पर कार्य्य करने का अवसर पाया। इसी वीच में पञ्जाव यूनिवर्सिटी की ओर से कालिज के निरीक्षण करने के लिए एक कमीशन आया जो आपके प्रवन्ध को देख कर वड़ा प्रसन्न हुआ। साइन्स की लेवोरेटरी के सम्वन्ध में जव पूछा गया कि "कैसी अवस्था में है?" तो आपने उत्तर दिया "जैसी है, आप देखकर निर्णय कर सकते हैं।" ऐसे सीधे, सरल उत्तर से वे वड़े हैरान हुए और कहने लगे " आप तो वड़े विचित्र

पुरुष मालूम होते हैं।" साथ ही उन लोगों ने आपके सुप्रबन्ध से प्रसन्न होकर आप से पूछा "आप स्थायी रूप से प्रिन्सिपल होने का यत्न क्यों नहीं करते?" आपने बड़ी उपेक्षा से उत्तर दिया "मैं तो केवल पढ़ाने के कार्य को भी विघ्न रूप समझता हूँ। फिर भला एक नये बखेड़े को कैसे ग्रहण कर सकता हूँ।" इस प्रकार त्याग की भावना तो सदैव आपके हृदय में विराजमान रहती थी।

आप बड़ी सादगी से अपना जीवन व्यतीत करते थे। एक साधारण पाजामा व क़मीज़ पहनते, उसके ऊपर चादर ओढ़ लिया करते। आपके रहन-सहन से किसी को यह विचार न होता कि आप कालिज में पढ़ाने का कार्य करते हैं।

ईमानदारी तो आप में कूट-कूट कर भरी थी। रियासत के एक बड़े कर्मचारी चाहते थे कि प्रो० सियाराम जी उनके लड़कों को गणित पढ़ाया करें; पर आप से कहने की हिम्मत न पड़ती। प्रिन्सिपल साहब को भी यह साहस न होता कि वे आपसे कहें। निश्चय यह हुआ कि किसी अवसर पर जब प्रोफ़ेसर साहब प्रिन्सिपल के क़मरे में आयें, तो वे कर्मचारी उन से ऐसा प्रबन्ध करा देने के लिये कहें। फिर वे आपही प्रोफ़ेसर साहब से कह देंगे। ऐसा ही किया गया। पर आपने इन्कार कर दिया और कहा "ऐसा करने से मेरी मानसिक शक्ति व्यर्थ व्यय होगी। उतनी ही कालिज के काम में कमी आ जायेगी। पर कालिज से तो वेतन मिलता है। यदि मैं अपनी शक्ति का व्यय बाहर कर दूं तो पाप का भागी बनूंगा। इससे विद्यार्थियों को भी हानि पहुँचने की सम्भावना है।" ऐसा सच्चा उत्तर सुनकर वे अवाक रह गये। परन्तु कर्मचारी को सन्तुष्ट करना आवश्यक था। प्रिन्सिपल साहब ने कहा "मैं आपको इस काम के लिये आज्ञा देता हूँ। मैं ही सब काम का

ज़िम्मेदार हूँ। इससे आप पर किसी प्रकार का दोष नहीं लग सकता'।" यहां काम से जी चुराने का विचार तो था ही नहीं कि कोई नई आपत्ति उपस्थित करते। आपने झट स्वीकार कर लिया। पर फिर भी कह दिया "आपकी आज्ञानुसार मैं इनके लड़कों को घर पर पढ़ा दिया करूंगा; पर इससे यदि दूसरे विद्यार्थियों को कुछ हानि हुई, तो उसकी जवाबदेही मुझ पर नहीं होगी।"

जब यह लड़के आपके घर पर गये तो वहां बड़ी सादगी से निर्वाह होता था। मेज़ कुर्सी के अभ्यासी लड़के इस पर संतुष्ट कैसे हो सकते थे। उन्होंने अपने पिता से इस बारे में जाकर कहा। प्रो० सियाराम को सन्देश मिला कि यदि वे चाहें तो कुछ मेज़ कुर्सी भिजवा दी जायें। आपने कहला भेजा "मुझे तो आवश्यकता नहीं है, आप अपने लड़कों का सुभीता सोचलें।" लोभ तो था ही नहीं और सादगी स्वाभाविक हो गई थी फिर भला और क्या उत्तर देते।

पीछे जब आप गुरुकुल काँगड़ी में गये तो वहां वेद के आचार्य्य के अतिरिक्त शेष सब उपाध्याय मेज़-कुर्सी का सहारा लेते थे। आपने मुख्याधिष्ठाता से आग्रह किया कि आपको बैठने के लिए तख़त दिया जाये, क्योंकि बैठ कर काम करने में बड़ा सुभीता रहता है। जब आप अपनी मांग पर अड़े रहे, तो लाचार उनको भी स्वीकार करना पड़ा।

कालिज में पढ़ते हुये भी आपने अपने लक्ष्य को सामने रक्खा। इसी कारण पढ़ाई में बड़ी ढील से काम होता रहा। अब जबकि आप खाने-कमाने की फ़िक्र से मुक्त हो गये, तो आपका सारा ध्यान साधन की ओर लग गया। साधु-सङ्गति से तो आप पहले से ही लाभ उठाया करते थे, परन्तु इस समय से

अपने उद्देश्य की सिद्धि में आप बड़ी गम्भीरता से दत्तचित्त होकर जुट गये। आपको किसी प्रकार के धन-वैभव की तो इच्छा थी ही नहीं, कालिज का काम तो एक साधन था जिसकी सहायता से आप अपने लक्ष्य को सिद्ध करना चाहते थे। हम १६०३ से १६०६ तक के काल को साधना काल कह सकते हैं। छः सात साल के थोड़े समय में आपने ऐसे साधन किए जिससे आपकी भूमिका दृढ़ हो गई, वैराग्य पक्का हो गया, विषय - वासना निवृत्त हो चुकी ; मोह के दोप, काम की चञ्चलता, और क्रोध का रोष सब शान्त हो गये। योग के परम ध्येय को प्राप्त कर लिया। ज्ञान का सागर उमड़ पड़ा। भव-भय नितान्त उठ गया। इस थोड़े काल में इतनी ऊँची अवस्था प्राप्त कर लेना स्पष्ट प्रकट करता है कि जन्म जन्मान्तरों के उद्यम से आप बड़े पुण्य संस्कार लेकर आये थे कि जिससे शीघ्र ही आपने कर्मो को पूरा कर लिया। परमहंस रामकृष्णजी काली मंदिर में पूजा के आधार से जैसे तुरंत परम सिद्धि को पा गए, वैसे ही आपने भी थोड़े ही काल में जहां-तहां से गुण ग्रहण करके सबसे उपदेश ले अपने आपको परम सिद्धि तक पहुँचा दिया। यह साधन कुछ तो कपूरथला में रह कर किया, शेप गुरुकुल कांगड़ी में पूरा कर लिया। अब हम यथाशक्ति इस साधन का कुछ निरूपण करेंगे।

दूसरा प्रकरण

काम-जय

सब से कठिन रुकावट जो एक युवा साधक के सन्मुख उपस्थित होती है वह है काम का विकार। युवावस्था प्राप्त होने पर शरीर में कुछ ऐसे परिवर्त्तन होते हैं कि जिनका प्रभाव अन्तःकरण में काम-भावना को जगा देता है। चित्त में स्त्री का मोहक रूप खलवली पैदा करने लगता है। यह तो रही साधारण पुरुषों की बात। पूर्व जन्म से सुसंस्कृत पुरुष भी इस विकार से थोड़ा-बहुत दुःखित जरूर होते हैं। हाँ वह शीघ्र ही इस व्याधि पर विजय पाकर सर्वदा के लिए निर्भय हो जाते हैं। प्रो० सियाराम जी ने भी इस दुर्जेय शत्रु पर विजय पाने के लिए अनेक कठिन तथा विचित्र साधन किये।

जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है आपका विवाह बड़ी छोटी अवस्था में हो गया था। पर सारे शिक्षा-काल में, युवा होने पर भी, आप बहुत कम घर जाया करते। छुट्टियां तो साधु-संतों के दर्शनों और तीर्थयात्रा में ही व्यतीत हो जाती थीं। आपकी स्त्री का नाम 'यशोदा' था, उसका पैतृक गृह 'मलाथू' ग्राम में था जो 'साथी' से दो मील पश्चिम की ओर है। उस थोड़ी चंचलता को छोड़ कर जो सब स्त्रियों में स्वाभाविक होती है, इस देवी का स्वभाव अच्छा था। सास की बड़ी सेवा करती थी। यदि उसके अन्दर कोई और संस्कार थे भी, तो उनको फलीभूत होने का अवसर नहीं मिला। इसका कारण था उसके पति की उदासीनता, इन्द्रियनिग्रह, दृढ़प्रतिज्ञता और मातृ-भक्ति।

कपूरथला में काम आरम्भ करने के थोड़े काल बाद दशहरा की छुट्टी में आप घर गए। वहाँ से माता, धर्म-पत्नी और एक नौकर को साथ ले आये।

देहात में चक्की चलाने की प्रथा अभी तक चली आती है। वृद्धा स्त्रियाँ युवती पुत्र-वधुओं से ऐसा काम कम कराती हैं; परन्तु सियाराम जी ने इस बात पर आग्रह किया कि उनकी माता अपनी पुत्र-वधू से घर के सारे काम पूरी तरह से लिया करें। चक्की चलाना भी इन्हीं कार्यों में सम्मिलित था। माता मोहिनी तो मोहवश चाहती थी कि यशोदादेवी अपने कुछ युवा काल को शृंगार तथा ऐश्वर्य से गुज़ारे; परन्तु ऐसे मातृ-भक्त, दृढ़-प्रतिज्ञ, वैराग्य-सम्पन्न पुत्र के कारण यह आशा पूरी न हो सकी। अतएव यह कार्य्य भी यशोदादेवी को करना पड़ा। ऐसा कराने में माता ने कितना कड़ा दिल किया होगा इसे ममता-पूर्ण हृदय ही जान सकता है। पहले पहल परिश्रम करने से कुछ कष्ट ज़रूर होता है। इससे यशोदादेवी की बाहों तथा छाती में कुछ दिनों दर्द रहा, जिसकी शिकायत रात्रि को दबे शब्दों में उसने अपने पति से की। पर यहाँ तो रंग ही दूसरा था। बड़े गम्भीर भाव से, दृढ़तापूर्ण उत्तर मिला "क्या तुम यह चाहती हो कि हमारी बूढ़ी माँ तो ऐसे कठिन कार्य्य को करती रहे और तुम बीबी बनकर रहो, तुम्हारी पूजा की जाय। क्या तुम्हें इसमें शरम नहीं लगेगी? ऐसी आशा तुमको मुझसे नहीं करनी चाहिए। स्त्री का धर्म है कि पति की आज्ञा का पालन करती हुई सास की सेवा में तत्पर रहे। यदि तुम्हें हमारे पास रहना है तो सेवा धर्म के बिना कोई दूसरा चारा ही नहीं।" ऐसा कड़ा उत्तर पाकर फिर उस देवी ने कभी किसी प्रकार की शिकायत न की, अपितु पति के अनुकूल रहकर वह सब प्रकार

से सास की सेवा में जुट गई।

कामी पुरुष युवाकाल में स्त्री को अधिक अपने पास रखने की चाह रखता है। उसके संग से आमोद-प्रमोद प्राप्त करता है। स्त्रियाँ भी ऐसा अवसर पाकर अपना अधिकार जमा लेती हैं। फिर काम के संस्कार दृढ़ होने पर उनसे छुटकारा मिलना बड़ा कठिन हो जाता है। यहाँ पर तो दृष्टि ही दूसरी थी। धर्म-परायणता मुमुक्षु के लिये अति आवश्यक है। जिसको स्त्री तथा संसार के अनेक पदार्थों से सुख की बड़ी लालसा है, उसका हृदय प्रभु-प्राप्ति के लिये अभी जगा ही नहीं, प्राप्त करना तो दूर रहा। यह भी सुना था कि काम-काज न करने से शहर की स्त्रियों में कोई-कोई दुराचार में पड़ जाती हैं। इस वास्ते भी आप चाहते थे कि यशोदा देवी स्वाभाविक परिश्रम का जीवन बसर करे। स्त्री को संयम के पथ पर डालना आवश्यक था। आपने आरम्भ से ही उस देवी के प्रति ऐसा व्यवहार रक्खा कि जिससे उसके विचार भी शुद्ध होते गए, और काम-मोह के संस्कार बहुत कुछ क्षीण हो चले।

युवाकाल में मनुष्य स्वभावतः अच्छा खाना तथा अच्छा पहिनना चाहता है। स्त्री तो रूप में फँसी हुई है, चमकीले कपड़े और भूषण उसको भले लगते हैं, इससे देह-अभिमान जरा बढ़ जाता है। ऐसी स्वाभाविक वृत्ति का उदय होना कोई बड़ी बात नहीं। एक दिन वह देवी अपनी पड़ोसिन के घर गई। वहाँ देखा कि पड़ोसिन सोने के नये कंगन पहने हुए है। उसका भोला चित्त भी चलायमान हो गया। खाना खाते समय इस बात की सूचना पतिदेव को दे दी। "पंडित जी की स्त्री ने सोने के नए कंगन बनवाये हैं, बहुत भले प्रतीत होते हैं।" प्रोफ़ेसर साहब बात तो

ताड़ गये, पर अनसुना करके चले गए। दूसरे दिन फिर इस सूचना को दुहराया गया। पर यहां तो उसकी इच्छा को स्पष्ट जान लेने का विचार था। अतः कुछ उत्तर न दिया। स्त्री चपलता से भी काम लेती है। जैसे कैकेयी ने रुद्र-रूप धारण करके बूढ़े दशरथ से वचन ले लिया, उसको दारुण दुःख दिया, बिचारे के प्राण भी चले गए, नगर-वासी भी बहुत दुःखित रहे। ऐसे ही यशोदा माई ने भी रुद्र-रूप धारण कर लिया। मुंह फुलाए खाना बनाती रही। क्रोध से हृदय भी जल रहा था। प्रो० सियाराम ने बहुतेरा यत्न किया, अनेक बातें चलाईं कि वह अपने क्रोध के कारण को स्पष्ट प्रकट कर दे। पर जब क्रोध की अग्नि प्रचण्ड हो जाती है तो विवेक नष्ट हो जाता है। वह अपनी इच्छा प्रकट करने का सीधा मार्ग ग्रहण न कर सकी। अवसर को हाथ से जाने दिया। प्रोफेसर सियाराम जी भला ऐसी चपलता को कैसे सह सकते थे? उसका हाथ पकड़ कर दूसरे कमरे में ले गए। बड़ी कड़ी ताड़ना की। रोने-चिल्लाने से उसने पड़ोसियों को सूचना देने का यत्न किया। पर यहां किसी से डरने वाले तो थे नहीं कि भय खा जाते। लाचार चुपचाप सब कुछ सहना पड़ा। कुछ दिन बिचारी बीमार रही। आप उसकी सेवा-शुश्रूषा और दवा-दारू बड़ी सावधानी से करते रहे। कभी-कभी पूछ भी लिया करते कि कङ्गन अच्छे तो थे। आपका यह सदैव दृढ़ विचार रहा कि मुमुक्षु को स्त्री की चपलता के वश नहीं होना चाहिये। यदि समझाने-बुझाने से काम न निकले तो कभी ऐसी ताड़ना भी कर देनी चाहिये कि जिससे वह समझ ले कि कैसे दृढ़ पुरुष से वास्ता पड़ा है। फिर कभी ऐसा हठ या दुराग्रह करने का साहस नहीं करेगी। जो पुरुष स्त्री के दास बने रहते हैं, वे इस मार्ग में नहीं चल सकते। यह बात भी आप जानते थे कि

"बिन भय होय न प्रीति" अवसर अनुसार भय दिखाना जरूरी होता है। पर ऐसा करने से वही पुरुष विजय पा सकता है जो संयमी हो। कामी चाहे जितना क्रोध करे, ताड़ना करे, उसका उल्टा ही प्रभाव पड़ता है। आप तो इतने संयमी थे कि केवल क्रोध-वश ताड़ना कभी नहीं करते थे, परन्तु विचार पर आरूढ़ हो, लक्ष्य को ध्यान में रख कर दूसरे के कल्याण पर भी उतनी ही दृष्टि रखते थे जितनी अपने हित पर। धीरे-धीरे यशोदा माई पर भी यह भली भांति प्रकट हो गया कि यहां चपलता की दाल नहीं गलेगी। उसके स्वभाव में सरलता और साधुता आने लगी और थोड़े ही दिन में वह देवी बन कर रहने लगी। आप कई बार उसके साधु स्वभाव की प्रशंसा करते थे। पड़ोसियों का प्रभाव पड़ता ही है; पर यदि किसी के हृदय में कुछ अच्छे संस्कार हैं तो अनुकूल स्थिति में वे बढ़ने लगते हैं। ऐसी कड़ाई के नियमित व्यवहार से थोड़े ही दिन में यशोदा देवी साध्वी बन गई।

श्रीमद्भगवद्गीता में महाबली अर्जुन ने शिकायत की थी कि काम और क्रोध को जीतना महा दुष्कर है। कोई विरला शूर-वीर ही काम को जीत सकता है। जिन्होंने इस शत्रु से कभी लड़ाई की है वे जानते हैं कि इसके बाण कितने तीक्ष्ण हैं। पर महापुरुष इन बाणों की नोकों को शीघ्र ही कुन्द कर देते हैं। उनके लिये इस स्थूल शत्रु पर काबू पाना तो साधारण सी बात है। सियाराम जी शिक्षा काल में स्त्री से उदासीन रहा करते थे; परन्तु जब स्त्री उनके पास रहने लगी, तो समर-भूमि में शत्रु को सन्मुख देख कर मुक़ाबले में डट गये। इस लड़ाई में स्त्री को भी कष्ट सहना पड़ा। पर जब तक स्त्री काम के वश में है, और काम का अस्त्र बनकर पुरुष पर चोट करती रहती है, तब तक उसको भी लड़ाई के ज़ख़्म खाने पड़ते हैं। यशोदा देवी भी

जब तक काम के हाथ में नाचती रही, काम से मुक़ाबला करने वाले के प्रहार के कष्ट से न बच सकी।

अच्छे भड़कीले कपड़े तो काम-उत्तेजना के साधन हैं। यह उसको कहां मिल सकते थे? सुगंधित तेल आदि का प्रयोग भी काम का शस्त्र है। ऐसी वस्तु से उसको बचाना ही आवश्यक था। इस कारण उस देवी को ऐसा कोई साधन प्राप्त नहीं हुआ जिससे काम को सहायता मिल सके। शरीर की दुर्गन्ध पर आपकी बड़ी दृष्टि रहा करती थी। जब स्त्री आपके पास आती तो आप उसको भी प्रत्यक्ष बोध कराते कि देख! किस प्रकार से तेरे प्रत्येक अंग से दुर्गन्ध आती है। नहाने-धोने से भी यह दुर्गन्ध नहीं जाती। उसके दांतों में अंगुली मल कर खुद भी सूंघते, उसको भी सुंघाते कि देख यह शरीर कितना दुर्गन्ध छोड़ता है। इस पर आसक्त होना महा मूर्खता है। पशु भी सूंघ करके काम-पूर्त्ति करता है। मनुष्य रूप में अंधा होकर अपनी सूक्ष्म घ्राण-इन्द्रिय को काम में नहीं लाता। मल-मूत्र से भरे हाड़-मांस के पुतले पर आसक्त रह कर काम के वश होता रहता है। यदि स्त्री-पुरुष भी इन्द्रियों का पूरा उपयोग करके शरीर की बनावट पर हर समय ध्यान रक्खें और प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा इस यथार्थ बोध को बार-बार दृढ़ करें, तो शीघ्र ही शरीर से उनको घृणा हो जाये, और काम पर वे आसानी से विजय पा सकें। जैसे साइन्स का विद्यार्थी प्रत्येक वस्तु से मूल-तत्व को खोजने का प्रयत्न करता है, और फिर उसके गुण-दोष जान करके उसको काम में लाता है, ऐसे ही गृहस्थ की लेबोरेटरी में यदि स्त्री-पुरुष वैज्ञानिक रीति से तजर्बा करते हुए शरीर के यथार्थ बोध पर दृष्टि रक्खें तो वे काम पर पूरा अधिकार प्राप्त करलें। गंदगी के पुतले को चिमट जाने तथा आलिंगन-चुम्बन करने का भाव

जल्दी ही ढीला हो जाए और फिर ऐसे कार्य्य से घृणा होने लगे। ऐसी ही कई बार आपने भी अपनी स्त्री से व्यवहार किया। उस देवी को जो दारुण दुःख सहना पड़ा वह काम से व्यथित स्त्री ही जान सकती है; पर ठीक बात तो ऐसे ही है। सत्य तो कड़ुआ लगने पर भी अपना प्रभाव धीरे-धीरे डालता ही है। इस प्रकार जहां आपने इस शरीर के यथार्थ बोध से अपना काम पूरा कर लिया और काम पर पूर्ण अधिकार जमा लिया, वहां आपकी स्त्री भी इस तत्व को समझने लगी और पीछे स साधन में लग गई। अपने मित्रों से स्त्री के दुर्गन्धित शरीर का प्राय: जिक्र किया करते थे। सच्चे साधक और योगी की तरह आपको "शौच" के सिद्ध करने का पूरा फल प्राप्त हो गया। जैसा कि पातंजल योग-दर्शन में वर्णित है "शौचात् स्वाङ्ग जुगुप्सा परैरसंसर्ग:" अर्थात् 'शौच के सिद्ध होने से अपने शरीर में घृणा होती है और दूसरे शरीर के साथ संसर्ग की इच्छा नहीं रहती'। आप अपनी स्त्री की बहुत सराहना करते थे और उस देवी को पूजा भाव से देखा करते थे। क्योंकि उसने बहुत कष्ट और मानसिक व्यथा सहन करके आपको काम के बन्धन से सर्वदा के लिए मुक्त कर दिया था। इसी से आपकी इच्छा थी कि वह वैराग्य को दृढ़ करके भजन-साधन में लग जावे। कुछ लगी भी, पर फिर उसका शरीर शीघ्र ही छूट गया।

रामकृष्ण परमहंसजी ने अपनी स्त्री में मातृ-बुद्धि दृढ़ करने का साधन किया था। उनका हृदय बड़ा भावुक था। काली की पूजा करते हुए आपने मातृ-दृष्टि को परिपक्व किया था। वहां ही रहते हुये बाजार से वेश्याओं को बुलाते, उनको धन देकर नंगा कर दिया करते। अपने गले में रस्सी बाँध कर बैठ जाते। जब उनके दर्शन-स्पर्श से काम का भाव स्फुरित होता, तो आप ज़ोर

से गले का रस्सा कस देते और "मां" से यह याचना करते हुए रुदन करने लग जाते, कि "मां ! मेरी रक्षा करो"। इस प्रकार से शीघ्र ही उनकी अवस्था दृढ़ होगई थी। फिर जब उनकी स्त्री उनके पास आकर रहने लगी, तो साल भर तक वह उनके साथ एक पलंग पर लेटी रही। जब उनकी अन्तरात्मा ने साक्षी दे दिया और वे इस कठिन परीक्षा में पास हो गए, तो उन्होंने उसका देवी के रूप में पूजन किया। माता के समान उससे वर्ताव करने लगे। इसी प्रकार संत सियाराम जी ने भी यथार्थ बोध पर खड़े होकर अपनी स्त्री के प्रति ऐसी धारणा दृढ़ कर रखी थी। स्वभाव से ही आप शांत थे। गणित तथा साइन्स पढ़ते-पढ़ाते आपकी भावुकता, जो कुछ भी शेष थी, मिट गई। सर्वदा यथार्थ बोध पर दृष्टि रहा करती। 'जैसे को तैसा जान कर वैसा ही उससे वर्ताव करना' यही वैज्ञानिक अन्वेषण में होता है। जब तक एक पुरुष एक बर्तन को सोने का समझता है, उसमें खट्टा पदार्थ भी रख छोड़ता है, उसको सोने के दाम में ही खरीदने बेचने का भाव उसके हृदय में रहता है। पर जब उसे यह बोध हो जाए कि 'यह पीतल का है, तो न उसमें दही आदि खट्टा पदार्थ रख सकता है और न उसका मूल्य ही उतना अधिक रहता है। ऐसे ही आपने शरीर की बनावट तथा हाड़-मांस, रुधिर कफ आदि पदार्थों से भरे और बने शरीर का यथार्थ बोध, अपनी स्त्री से बारबार वैसा वर्ताव करके, इतना दृढ़ कर लिया था किसी प्रकार का रूप-यौवन और चर्बी की चमक आपको इस यथार्थ ज्ञान से नहीं हटा सकती थी। इसी कारण पीछे से अवसर आने पर, आप स्त्रियों के बीच में बालकों के समान निर्भय होकर विचरते रहे। उनसे आपका व्यवहार इतना सरल तथा स्पष्ट होता था कि साधारण पुरुष उसको समझने में असमर्थ ही रहता

और इसीलिये प्राय: आप ग़लतफ़हमी का शिकार होते रहे। परन्तु इस निन्दा को सहारना भी आपका स्वभाव बन गया। जहां स्त्रियों के शरीर की दुर्गन्ध को सहारते, वहां उस निन्दा अपमान को भी सह लेते। करुणा भरे हृदय से दूसरे के कष्ट को निवारण करने के लिये और उसको कल्याण मार्ग पर आरूढ़ कर देने के लिये आप प्रत्येक साधन का प्रयोग करते। साधारण लोग जो निन्दा करते थे उनका भी दोष नहीं था। वह बिचारे उस उच्च भूमिका को भला क्या समझते कि जिस पर आप ऐसे कठिन साधन से दृढ़ हो चुके थे। इस सबके वास्ते आप सदैव अपनी स्त्री को स्मरण करके उसके प्रति बड़ी कृतज्ञता का भाव प्रकट करते। और कहते कि "उस देवी को धन्यवाद है कि जिसने हमारा इतना कल्याण किया। काम के भय से हमें हमेशा के लिये छुड़ा लिया।"

ऐसे ही साधन की शिक्षा आप अपने शिष्यों को सदैव दिया करते थे और कहते कि "गृहस्थ एक लेबोरेटरी है। शास्त्र का उद्देश्य भी यही है, कि मुमुक्षु अपने कल्याण के लिए भ्रांति का निवारण करले।" पर ऐसा साधक कोई विरला होता है जो सब बात का विचार छोड़ कर अपने लक्ष्य पर डट जाय और सब साधनों का उपयोग करके काम जैसे महाबली शत्रु पर अपना पैर रख दे। ऐसे माता-पिता धन्य हैं कि जो रामकृष्ण और सियाराम जैसे दृढ़प्रतिज्ञ और पवित्र पुत्रों के जन्म-दाता हैं।

स्त्री के होते ही आपने निश्चय कर लिया था कि स्त्री को मैके छोड़ कर आप स्वच्छन्द होकर रहेंगे। उसके निर्वाह के लिये थोड़ा रुपया भी जमा कर लिया था। वह अब बिलकुल उनके अनुकूल होकर रहने लगी थी। इस वास्ते वह प्रार्थना

करती थी कि "जैसे आप रहें और जैसे मुझे रक्खें — मैं उसी में सन्तुष्ट हूँ। केवल इतना निवेदन है कि अपने चरणों से अगल न करें।"

तीसरा प्रकरण

मोह-मर्दन

काम से मोह कम बलवान नहीं है। यदि काम के बाण तीक्ष्ण हैं तो मोह के पाश कोमल होते हुए भी बड़ी कड़ी है, जिसको तोड़ना बड़ी कठिनाई का काम है। स्त्री के संग में आपको रुचि तो नहीं थी, परन्तु उसके कष्ट को देखकर और उसको निराश्रित जानकर कभी संग हो ही जाया करता था। वह चाहती थी कि उसके एक पुत्र हो। बहुत समझाने पर भी जब उसकी यह इच्छा दूर न हो सकी तो आपने कहा—"पुत्र तो तुम्हारे हो जायेगा, परन्तु उसके पालन-पोषण और रक्षण का भार तुम्हीं पर रहेगा, जहाँ चाहो तुम उसको अपने साथ रख सकती हो, मुझे तो उसकी ज़रूरत नहीं। जब तुम अकेली मेरे लिये बंधन हो, तो एक और नया बंधन मैं कैसे सहार सकता हूँ।" इस प्रकार से आप पुत्रेषणा से मुक्त हो चुके थे। पर, जिस देवी ने आपका इतना कल्याण किया था उसकी कामना भी पूरी करनी थी। ऐसा ही हुआ। यशोदा देवी के एक पुत्र हुआ। परन्तु थोड़े ही काल के पश्चात् वह बालक तथा वह स्वयं इस लोक से चल बसे। जब उसका शरीर भस्म हो गया, तो उसकी चिता की राख को अपने मस्तक में लगा करके आपने प्रण किया—"जैसे तू सती हो गई, वैसे ही मैं भी अब साधु हो जाऊँगा।" करुणामय हृदय से उसके दुःख की चिन्ता

आपको सदैव रहा करती थी, पर फिर भी उसे साथ रखने में आप बड़ा बन्धन मानते थे। उसके शरीरान्त पर और भी उसका धन्यवाद किया कि उसने इस चिन्ता से भी आपको मुक्त कर दिया। महापुरुष जहाँ स्त्री को काम का अस्त्र समझ कर उससे कड़ाई तथा ला-परवाही का बर्ताव करते हैं, वहाँ मनुष्य के नाते उसके दुःख को देखकर वैसे ही व्यथित भी हो जाते हैं, परन्तु कर्म-फल का भोग जानकर सब सह लेते हैं। एक बार स्वामी रामतीर्थजी को हरिद्वार में उनकी स्त्री मिलने गई। उन्होंने उसके बड़े निवेदन करने पर भी उसे तुरन्त वापस लौटा दिया और बड़ा रूखा सा जवाब दिया। इस रुखाई को देखकर उनका एक शिष्य बिगड़ पड़ा और कहने लगा, "महाराज, आप तो बड़े निष्ठुर तथा दयाहीन हैं।" जब उनकी स्त्री चली गई, तो उन्होंने शिष्य से कहा—"प्रिय, तुम समझते हो कि मेरे हृदय नहीं है।" ऐसी करुणा महापुरुषों के हृदयों में सदा रहती है; पर अपने लक्ष्य की ओर ही एक मात्र दृष्टि होने के कारण इससे भिन्न कोई उपाय ही नहीं होता। यह सब देखते हुए भी डटे रहना उन्हीं का काम है। साधारण पुरुष में इतनी सहनशीलता ही नहीं कि दूसरे के दुःख को सह सके। यही असहनशीलता उसको गिरा देती है जिससे वह अपने पुरुषार्थ को ढीला कर देता है और प्रायः घबराकर छोड़ भी बैठता है।

जब आपकी स्त्री का शरीर छूट गया, तो उसी दिन सायंकाल यथानियम आप पं० रामनाथ के पास सत्संग करने चले गये। पण्डित जी वृद्ध पुरुष थे। उनके पास आप प्रायः शास्त्रों की चर्चा करने जाया करते थे। जब कालिज और स्कूल के अध्यापक सायंकाल में आपके घर पर शोक प्रकट करने आये तो आपको घर पर न पाया। घर में कोई शोक के विशेष चिन्ह

भी न थे। जब तलाश कराने से आप घर बुलवाये गये और आकर बैठे, तो सब लोगों ने शोक प्रकट किया; पर आपने सब कुछ सुनकर बड़े धैर्य से यही कहा, "जो हो चुका और जिसको हम टाल नहीं सकते, जिसका कोई इलाज भी न हो, उस पर शोक प्रकट करना वृथा है। आप तो सब बुद्धिमान हैं, व्यर्थ के काम में समय और शक्तिको लगाना बे-समझी ही मालूम होती है।" जब सब लोगों ने यह बात कही कि आपको रोज़ सायंकाल घर पर रहना पड़ेगा और जो लोग शोक प्रकट करने आया करेंगे उनसे बात-चीत करनी होगी, तब तो आप बहुत घबराये और विचारने लगे कि एक तो हमारी स्त्री गई, दूसरे हमारा समय भी व्यर्थ नष्ट होगा, इस प्रकार दोनों ओर से घाटे में रहेंगे। तत्काल आपने कालिज से पन्द्रह दिन की छुट्टी ले ली। स्त्री की चिता पर अभी अग्नि गरम थी, आपने पानी डलवा सब राख आदि बोरियों में भरवा ली और हरिद्वार को चल दिये। वहाँ, वह सब सामग्री कहीं गंगा जी में डाल दी। माता और नौकर को किसी सुरक्षित स्थान में ठहरा दिया और खुद महात्माओं का सत्संग करने लगे। ऋषिकेश में स्वामी मंगलनाथ जी का भी कुछ दिन सत्संग करते रहे।

आपको माता से बड़ा प्रेम था। उसके सुख-दुःख की चिन्ता रहा करती थी। माता से कहते—"जो जो इच्छा तुमको हो वह सब हम से कह डालो और मुझसे पूरी करा लो ताकि शरीर छोड़ते समय किसी प्रकार की चिन्ता न रहे।" माता मोहिनी की कामना थी कि उनको चारों धाम कराये जायें। आपने गरमी की छुट्टियों में स्त्री और माता को संग लेकर जगन्नाथ, द्वारिका आदि की यात्रा की। मातृ-भक्ति तो आप में कूट-कूटकर भरी थी। इसी कारण माता की प्रत्येक इच्छा को, जो विशेष

वन्धन का कारण न होती, जरूर पूरी करते; परन्तु स्वयं तीर्थों में श्रद्धा रखते हुए भी आपने अपनी बुद्धि का प्रयोग कभी नहीं छोड़ा।

जगन्नाथजी की यात्रा में चित्रकूट के वैरागी साधु, रामावतारजी भी आपके साथ थे। रास्ते में एक स्टेशन पर सरकार की ओर से यात्रियों की देख-भाल होती थी कि कोई छूत के रोग से वीमार तो नहीं है। वहाँ एक थानेदार थे जो अपनी शक्ति का वेजा प्रयोग करके यात्रियों को दिक़ करते और उनसे घूस लेकर किसी को कम किसी को अधिक देर तक रोक रखते थे। पहले तो आप इस लीला को चुपचाप देखते रहे, फिर वड़ी गम्भीरता से उससे वात चीत चलाई कि वह क्यों ऐसा अनुचित कार्य्य कर रहे हैं। आपके कपड़े तो सीधे-सादे थे; पर आपने यह न जताया कि आप कौन हैं। उससे वात-चीत करके उसको उस घृणित कार्य्य पर शरमिन्दा किया और उसे यात्रियों से अधिक सभ्यता का वर्ताव करने पर वाधित किया।

जब आप जगन्नाथ जी पहुँचे तव रथ की लीला देखी। कभी तो रथ वहुत लोगों के खींचने पर भी नहीं हिलता था, पर कभी सहसा ही चल पड़ता था। पुजारी इसको जगन्नाथ की लीला कह कर भोले-भाले यात्रियों को ठगते थे। यहाँ तो साइन्स पढ़ते-पढ़ाते अन्वेषण की बुद्धि प्राप्त की थी। विचार ऐसी लीला को कव मानता था। आपने रात के समय मोम-वत्ती और दिया-सिलाई उठाई और स्वामी रामावतारजी को वुलाकर जहाँ रथ खड़ा था वहाँ जाने का विचार किया। स्वामी रामावतारजी ने मना किया कि कहीं मन्दिर के पुजारी विगड़ न जायें और मारना-पीटना न शुरू कर दें। पर आप तो दृढ़ थे कि "हम

कोई चोरी थोड़ी करने जा रहे हैं।" वहां जाकर देखा कि रथ के पहिये में एक ब्रेक लगा है। ऊपर लोहे का एक डण्डा था जिसको नीचे गिराने से ब्रेक से रथ अटक जाता था।

ऐसी ही एक दूसरी घटना आपको रामेश्वर-यात्रा में पेश आई। वहां यह गाथा प्रसिद्ध है कि गंगोत्री का जल डालने से शिव-लिंग डेढ़ हाथ बढ़ जाता है। आप ऐसी कल्पना पर कैसे विश्वास कर सकते थे। पुजारी से अन्दर जाकर जल चढ़ाने की आज्ञा मांगी; पर वहां तो लीला ही और थी। पुजारी ने कहा—"राजा से आज्ञा लेनी पड़ेगी।" फिर आपने लालच देकर पूछा कि "एक पुरुष को अन्दर जाकर जल चढ़ाने की बड़ी इच्छा है, यदि ज़रूरत हो तो वह रुपया भी खर्च करने को तैयार है।" पुजारी ने हज़ार रुपया माँगा। लोभ का भाँडा फूट पड़ा। बिचारे भोले-भाले यात्री दस रुपये की, गङ्गोत्री जल की ढाई तोला की शीशी देवता पर चढ़ाते थे। कोई-कोई अधिक धन देकर ज़्यादा जल चढ़ाया करते। आपने इस भूल से तो रुपया न दिया क्योंकि पहले इसी में सन्देह था कि जल गङ्गोत्री का है कि नहीं। एक दूसरी खिड़की से समीप जाकर देखने लगे। लिंग फूलों से ढका रहता था। सब जल इकट्ठा करके घड़े में डाल दिया जाता। फूलों से ढके हुये लिंग को तो दूर खड़े यात्री स्पष्ट नहीं देख सकते थे; पर जब ऊँचे से जल की धारा उस पर पड़ती तो फूल हट जाते और लिङ्ग दीखने लगता। भोले-भाले यात्री यही समझते थे कि लिङ्ग बढ़ रहा है। ऐसा भ्रम पैदा करना कोई बड़ी बात नहीं। आप पुजारियों की ऐसी-ऐसी लीला को देख कर विचारते रहे कि मनुष्य लोभ-वश तीर्थ स्थान में भी पाप करने से नहीं चूकते। श्रद्धालु यात्री तो ठगे जाने पर भी अपनी तपस्या का लाभ अवश्य प्राप्त करता है और

पाण्डे और पुजारी भी अपने कुकर्म का फल अवश्य पाते हैं। सच है, 'ठगा जाना ठगने से बहुत अच्छा है।'

'कबीर' आप ठगाइये, और न ठगिये कोय।
आप ठग्यां सुख ऊपजे, और ठग्यां दुःख होय॥

शास्त्रों में आपकी बड़ी श्रद्धा थी परन्तु पुजारियों के लोभ-जाल को आप सदैव बुरा कहते थे और उससे बचने का विचार रखते थे। इस प्रकार माता को संतुष्ट करने के लिए उसको चारों धाम करा दिये। जब बद्रीनारायण की यात्रा पर गये, तब स्त्री का शरीर तो छूट चुका था, केवल माता और भाई को साथ ले गये थे। बद्रीनारायण की सेवा में प्रार्थना और प्रण कर आये थे कि 'प्रभु! आपका आशीर्वाद रहा, तो एक बार साधु वेष में आपके दर्शन करूंगा।'

इतना होते हुए भी आपने विवेक और विचार को कभी हाथ से न जाने दिया। जब आपकी स्त्री का शरीर छूट गया और माता और भाई ने बहुत आग्रह किया कि विवाह जरूर करना होगा और यह भी धमकी दी कि हम बिना पूछे ही सगाई कर लेंगे, तब शर्म के मारे तुम्हें विवाह करना ही पड़ेगा; तो यहां पर आप कड़े होगये और कहने लगे :—"यदि कोई षड़यन्त्र हमारे विरुद्ध रचा गया तो हम शीघ्र साधु हो जायेंगे और यदि माता ने कहीं सम्बन्ध कर भी दिया, तो हम स्पष्ट उनको इन्कार लिख भेजेंगे। जो भी बदनामी होगी वह तुम्हीं लोगों की होगी और जो कुछ इससे लड़कीवालों को कष्ट होगा उसका पाप भी तुम्हीं को होगा।" इस दृढ़ता को देख कर वह सब चुप हो गये। स्त्री के शरीरान्त के उपरान्त आपने उसके जेवर इत्यादि सब दान कर दिये थे। इससे भी आपकी दृढ़ता प्रतीत होती है। फिर माता मोहिनी ने यही कहा, "बेटा, जब तक मेरा

शरीर है, तब तक तो निर्वाह कर, पीछे जैसी तुम्हारी इच्छा हो करते रहना।" माता की सेवा का भी विचार था; पर इस सम्बन्ध में आपने उससे कहा :—"मैं एक रुपया रोज़ पर भी नौकरानी रख कर तुम्हारी सेवा कराऊंगा। वैसे तो मैं खुद भी हर समय तैयार हूँ पर विवाह नहीं कर सकता।"

लोकेषणा की भी कोई इच्छा नहीं थी। जब आप कपूरथला के राज्य-कर्मचारी के लड़कों को पढ़ाया करते, तो उनका यह विचार था कि और नहीं तो बदनामी के भय से ही वह विद्यार्थी फ़र्स्ट इयर में तो पास हो जायेंगे, क्योंकि आपही उनके परीक्षक थे। जो लड़के एक ही अध्यापक के पास कालिज में भी पढ़ते हों, घर में भी वह उनको पढ़ाता हो, फिर यदि वही उनका परीक्षक हो और वह लड़के फ़ेल होजायें, तो यह पढ़ानेवाले की बदनामी है। पर यह विद्यार्थी फ़र्स्ट इयर के इम्तहान में फ़ेल हो गये; और जब ऐसे विचार प्रोफ़ेसर जी ने सुने, आप कहने लगे कि "ऐसी आशा हमसे करना फ़ज़ूल है। जब विद्यार्थी कम समझ है तो उसे फ़ेल ही होना है। बदनामी के भय से पास कर देना पाप है। यह मुझसे कैसे हो सकता है।"

गुरुकुल में रहते हुए आप माता मोहिनी से बालकों का सा बर्ताव करते। कभी उसकी गोद में लेट जाते, कभी उसको गोद में उठा लेते, कभी उसकी छाती से चिमट जाते और बालकों की तरह माता के स्तनों को मुंह में डाल लेते। बूढ़ी माता इससे ज़रा घबराती भी तो आप झट कहते "जब बचपन में मुझे दूध पिलाया है, तो अब इस वृद्धावस्था में किस बात का संकोच है। शरीर के अंग तो वैसेही हैं, जैसे पहले थे।" रुग्ण अवस्था में आप सब प्रकार से माता की सेवा करते, नहलाते और भोजन भी कराते थे।

यदि कोई शेष स्त्री-रूपी संस्कार था भी, तो ऐसी वालक वृत्ति के रहन सहन से नष्ट हो गया। हाड़-मांस-चाम के पुतले के संस्कार इतने गड़ गये कि युवा-वृद्ध सव स्त्रियों को देख कर उनकी शरीर-रचना का ही सदैव विचार रहता और सवको माता रूप जान कर नमस्कार कर लेते। यदि वेश्या भी सामने आ जाती तो उसके चरणों में माथा झुक जाता। आप कहा करते थे, "ज्ञानी की दृष्टि में सव स्त्री एक समान हैं। काम के वश जैसे वेश्या है वैसे गृहिणी भी।"

आपकी वृत्ति अव वहुत ऊपर उठ चुकी थी। माता के साथ रहना भी वंधन प्रतीत होता था। कपूरथला से चलते समय जो ७००) रुपये पुरस्कार में मिले थे वह इस विचार से रख छोड़े थे कि यदि माता का शरीर न छूटा और चित्त पहले ही उपराम हो गया, तो इस धन से माता का निर्वाह होता रहेगा। परन्तु इसकी आवश्यकता न पड़ी। एक दिन माता नियमानुसार गंगा-स्नान करने गईं फिर लौट कर न आईं। आपने जान लिया कि माँ ने शरीर दाह करने का कष्ट भी पुत्र को नहीं देना चाहा। जव आचार्य्य जी ने कहा कि जाल डलवाये जायें और वृद्धा का शरीर तलाश किया जाये, तो आपने वड़ी उदासीनता से उत्तर दिया—"इससे क्या लाभ है? फिर भी तो गंगा जी में डालना है। यह उसकी कृपा है कि उसने इतना कष्ट भी नहीं दिया।" मोह पर आपने पूरी जय प्राप्त कर ली थी। माता जी के इच्छानुसार अपने भाई को रुपये देकर गया में पिंड भराने के लिए भेज दिया। मातृ-भक्ति और विवेक का कैसा अनुपम मेल है।

चौथा प्रकरण

लोभ-त्याग

लोभ पर भी क़ाबू पाना अब कोई बड़ी बात न थी। कपूरथला में रहते हुए भी बहुत सा रुपया पुण्य कार्य्य में ख़र्च किया करते थे। अपना तो निर्वाह मात्र ही करते थे। बड़ी सादगी से जैसे लोग ग्राम में रहते हैं वैसे ही रहा करते थे। तीर्थ-यात्रा तथा साधु-सेवा में ही धन अधिक व्यय होता था। भाई को भी यथा अवसर सहायता देते रहते थे, परन्तु उससे कभी पैतृक सम्पत्ति में से कोई आशा न करते। जब स्त्री का शरीर छूट गया, तो आपकी जरूरतें और भी कम हो गईं। अब ऐसा विचार हुआ कि किसी ऐसी जगह पर जायें जहां जीवन अधिक सरलता तथा सुगमता से कट सके। गुरु-कुल कांगड़ी के आचार्य्य मुन्शीरामजी ने, कई बार, वहां आने को कहा था। सं० १९६४ की ३० वैसाख को आपने स्तीफ़ा दे दिया और गुरुकुल में जाकर गणित तथा साइन्स पढ़ाने का कार्य्य करने लगे। वहां पर पहले ५०) रुपया मासिक लेते थे। पीछे जब देखा कि यह जरूरत से अधिक है, तो केवल पैंतीस रुपया मासिक लिया करते।

यहां पर आप गुरुकुल की हद के पार गंगा के समीप कुटी बनाकर रहा करते थे। बन्धन कम होने से अवसर अनुसार खरी-खरी बात कहने से कभी न चूके। एक बार आचार्य्य जी ने सब अध्यापकों को बुलाकर पूछा कि यदि उनके प्रबन्ध में कोई दोष हो तो उनको बताया जाये। बाक़ी तो सब लोग दबे रहे परन्तु आपने बड़ी सरलता से जैसी-जैसी त्रुटि आप खुद अनुभव करते थे या आपके दूसरे मित्र कहा करते थे, वैसेही

कह दिया। यह वा एक दूसरे भक्त को बुरी लगीं। वह कहने लगे कि यह कहां का तरीक़ा है कि मुख्याधिष्ठाता को बुला कर उसके काम में दोष लगाये जायें। आपने उत्तर दिया "जब आचार्य्य जी ने हमें इसी लिये बुलाया है, तो हमारा भी कर्तव्य है कि जो कुछ हम समझते हैं उनसे स्पष्ट कह दें। यदि उनको यह सब बातें सुनने की इच्छा न होती, तो हमें बुलाया ही क्यों? वैसे अपने आप हम लोग क्यों कहने आते थे।" पीछे से यह सब बातें आचार्य्य जी को भी बुरी लगने लगीं। कुछ लिखा-पढ़ी भी होती रही। आपको धमकी भी दी गई कि यदि यह सब बातें आपकी सरविस-बुक में लिखी जायें, तो उसका प्रभाव आपके लिये भविष्य में दुःखदाई होगा। पर यहां तो लोभ पहले ही छोड़ चुके थे। इस धमकी से आप कैसे डर सकते। खैर आचार्य्य जी की इच्छानुसार वह सब पत्र फाड़ डाले गये। यदि आपको धन की चिंता होती तो कपूरथला छोड़ कर ही क्यों आते 'आपतो गुरुकुल भूमि से पहले ही बाहर रहते थे और फिर शीघ्र ही इसको छोड़कर स्वतन्त्र वृत्ति से विचरने लगे।

पाँचवाँ प्रकरण

शारीरिक साधन

आपने जितने साधन किये उनमें से अभी तक हमने उनका ही वर्णन किया है जिनका सम्बन्ध वैराग्य से है। वैराग्य तो व्यवहार में ही परिपक्व होता है। अपने दिन-रात के कार्य्य को शुद्ध करने के लिए कैसे-कैसे यत्न आपने किये, यह स्पष्ट हो चुका है। उपरामता-उदासीनता से सब कार्य्य करते रहे। अपने लक्ष्य

पर आपकी दृष्टि सदैव बनी रही। किसी दूसरी चिन्ता को अपने रास्ते में बाधक नहीं होने दिया—चित्त को किसी नई उलझन में न फँसाया और सादगी से जीवन का निर्वाह करते रहे। प्रयत्न इसी बात का रहता था कि जो कुछ लगाव-लपेट है उसका सर्वनाश करके पर-वैराग्य सिद्ध कर लिया जाय। अपनी जीवन-यात्रा को बड़ी सरलता, उदासीनता, तप, विवेक और दृढ़ता से गुजारते हुए सियारामजी ने अपने आपको एक निष्पाप, नर्द्वन्द्व, निर्मोह, स्वच्छन्द सन्यासी के जीवन के लिये तैयार किया।

अभी तक हमने योग-सम्बन्धी साधनों की ओर निर्देश भी नहीं किया। अब हम ऐसी साधना की ओर ध्यान देते हैं। आगरे में रहते हुए भी आपको अनेक साधु-सन्तों के दर्शन होते रहते थे। बड़े-बड़े सन्यासियों और विद्वानों के साथ वार्त्तालाप करने से आपको यह निश्चय हो चुका था कि बिना अनुभव के तत्त्व का ज्ञान नहीं हो सकता। केवल वाक्‌युद्ध से संसार पर विजय पाना मृग-तृष्णा का जल पीना है। आपका अनथक प्रयत्न था कि किसी ऐसे सिद्ध योगी की भेंट हो जो आपको उच्च साधन में लगाकर परले पार पहुँचा दे। कई ऐसे लोगों से आगरा में भेंट हुई, पर उनकी बढ़ी-चढ़ी बातों से आपको सन्तोष न मिला।

पहला साधन आपने कपूरथला में किया। वहाँ हरिहर नामी हठ-योग में निपुण एक ब्रह्मचारी रहते थे। वे लोगों को हठ-योग सीखने की प्रेरणा किया करते; परन्तु बहुत कम लोगों की रुचि इस ओर होती। हरिहर जी का शरीर बड़ा बली था। आप लम्बे तेजस्वी पुरुष थे। भूतपूर्व काश्मीर महाराज के राज-गुरु ब्रह्मचारी नित्यानन्दजी भी आपके ही शिष्य थे। कनखल के विख्यात वैद्य वागेश्वर जी जोशी ने भी आपसे ही हठ-योग की दीक्षा ली थी। सियारामजी ने भी इन्हीं से हठ-योग सीखा। फिर गरमी की

छुट्टियों में आप हरिहरजी के साथ वैष्णव देवी तथा काश्मीर गये। और हठ-योग की अनेक क्रियाओं का पूर्ण अभ्यास करते रहे। यह ब्रह्मचारी हठ-योग के पूरे मास्टर थे। प्रोफेसर कहें तो बेजा न होगा। इससे आपको कुछ शरीर-शुद्धि और चित्त की निर्मलता तो प्राप्त हुई पर असली वस्तु कुछ न मिली। यह खेल तो वैसे तजर्बे के तौर पर किया था और जो लाभ इससे होना था वह आपको पूर्णतया प्राप्त हो गया।

छठा प्रकरण

गुरु-परिचय

परन्तु राज-योगी बनने की लालसा भी आपको लगी रहती थी। ईश्वर बड़े दयालु हैं। जो प्रभु का दरवाजा खटखटाता रहता है उसको वह निराश नहीं करते। शीघ्र ही परम देव ने आपकी यह शुभ कामना पूर्णरूप से पूरी कर दी। कपूरथला में रहते हुए आपको पता चला कि फ़ीरोज़पुर में एक महात्मा रहते हैं, जो बड़े विरक्त हैं और राज-योग में बड़े कुशल और प्रवीण हैं। उनकी प्रशंसा सुन कर श्रद्धा पैदा हुई, और शीघ्र ही आप उनके पास पहुँच गये।

महात्माजी के गृहस्थ तथा सन्यास के नाम का पता नहीं। कई सज्जन उनको अद्‌भुदानन्द के नाम से निर्देश करते हैं। उन्होंने स्वयं किसी ऐसी उपाधि का पता नहीं दिया। इनका जन्म-स्थान 'राहों' जिला जलन्धर था। क्षत्री खोसले कुल में उत्पन्न आप तीन भाई थे। एक आपसे बड़े थे और एक छोटे। व्यापार आपका गृहस्थी धन्धा था। पटियाला में भाइयों समेत

जीवन व्यतीत करते थे। जब आपकी आयु तीस वर्ष की थी तो स्त्री का शरीरान्त हो गया। आप भी योग के इच्छुक थे। संतान थी ही नहीं। भाइयों के आग्रह करने पर भी आपने दुबारा इस फांसी को अपने गले में डालना स्वीकार न किया। उनसे केवल ५००) रुपये लेकर बाक़ी सम्पत्ति उनको दे दी। वहां से आप सच्चे पथ-प्रदर्शक की खोज में निकले। सुन रक्खा था कि नर्मदा के तट पर कोई ऐसे महात्मा हैं। उधर को ही चल पड़े और मध्य-प्रांत खँडवा देश के जब्बलपुर नगर में पहुँचे।

यहां पर आपने हाथी-दाँत अथवा जवाहरात और अन्य ऐसी वस्तुओं का कारोबार शुरू कर दिया। आप जवाहरात के परखने में बड़े दक्ष थे। थोड़े ही काल में काम भली-भांति चल पड़ा। इधर खर्च तो था ही नहीं। अन्न, वस्त्र, कम्बल आदि का सदाव्रत चला दिया। जो साधु ब्राह्मण किसी याचना को लेकर आता वह तुरन्त पूरी कर दी जाती। किसी प्रकार की पूछ-ताँछ नहीं की जाती थी। जैसे आप सत्य पर आरूढ़ थे, वैसे ही आप को मुनीम भी सद्‌ग्रहस्थ मिल गये, जो बड़ी सचाई से सब कार्य्य आज्ञानुसार और नियमपूर्वक करते थे। साथही शास्त्रों का विचार और चर्चा भी चलती रहती थी। रमते साधुओं से योगियों के सम्बन्ध में पूछते रहते थे। आपको पता चला कि तिब्बत में लामा लोग योग में बड़े निपुण हैं।

इसी भावना से सौदागर के रूप में खच्चरों पर माल लदाकर घोड़ों पर आरूढ़ हो काश्मीर पहुँचे। मध्य-प्रांत का कार्य्य अपने विश्वासपात्र मुनीमों को सौंप आये। दो साल तक व्यापार की आड़ से गुरु की खोज में लगे रहे। तिब्बत का माल हिन्दुस्तान भेजते रहे और यहां का उधर मँगाते रहे।

प्रभु ने आशा पूरी करदी। पता चला कि एक मेला होने

वाला है जिसमें बड़े-बड़े महात्मा लामा योगी भी आयेंगे। इसी विचार से उस मेले में तिब्बत पहुँचे। वहाँ एक वयोवृद्ध विरक्त महात्मा मिले। दुभापिये की सहायता से गुरु-शिष्य में वार्त्तालाप हुआ। आज्ञा हुई कि "एक साल ठहरो, अपने भोजन आदि के वास्ते कुछ धन रख लो। शेष सब आदमियों को वापस करदो।" उचित आज्ञा देकर सब को देश लौट जाने को कह दिया। साल भर गुरु-सेवा में साधन करते रहे। जब अवस्था अच्छी हो गई, तो गुरुजी के आदेश के अनुसार आप वापस देश में लौट आये। आज्ञा थी कि दो तीन साल चुपचाप साधन करते रहना, जब तक अवस्था परिपक्व न हो जाए। तत्पश्चात् जैसी रुचि हो, स्वच्छन्द वृत्ति से विचरना।"

वापस आकर आप अभ्यास में लग गये। अभ्यास बहुत पक्का होना चाहिये था। "दीर्घ काल तक निरन्तर सेवित होने से दृढ़ भूमि होती है।" निर्विकल्प अवस्था में ठहरना बहुत कठिन है, अतीव कठिन है। जब तक तमाम पाशों को तोड़ न दिया जाय, तब तक वह अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती। निरन्तर और दीर्घ काल इसलिये आवश्यक है कि शरीर की अवस्था चलने-फिरने से वा खान-पान के नियमित न रहने से बिलकुल प्रतिकूल हो जाती है, और जब भी जोर दिया जाता है, केवल पुराना पाठ ही चलता है अन्य परा अवस्था नहीं आ सकती। इसलिये नियम सहित चिरकाल तक अखण्ड एकरसता से अभ्यास का सेवन होना चाहिये। ऐसी ही धारणा को लेकर आप लगातार पूरे चौदह वर्ष बराबर अभ्यास करते रहे। तब आप पूर्ण अवस्था को प्राप्त कर पाये। पांच वर्ष के क़रीब एक ही आंगन में रहे, वहीं थोड़ा टहल लेते, फिर पड़े रहते। बाहर जाने को उनका चित्त नहीं चाहता था, वैसे तो पूरी स्वतन्त्रता थी ही। इसका अभ्यास बढ़ते-बढ़ते

इतना हो गया था कि विना परिश्रम वा प्रयत्न के वृत्ति आत्माकार रहती थी। चलना-फिरना, आना-जाना अथवा व्यवहार का जारी रखना यही सब शरीर को कितने विगाड़ने वा मन को क्षोभित करने वाले विघ्न हैं। जब तक परम अवस्था न आ जाय, तब तक परम कल्याण नहीं हो सकता। इसका एक मात्र उपाय राग-द्वेष के तमाम पाशों को विचार और शुद्ध व्यवहार द्वारा काटना है। कोई विरला अभ्यासी ही इस अवस्था को पहुँचता है। हर एक प्रकार के बन्धन से अपने चित्त को निर्विघ्न करके अभ्यास करता जाए, तो सम्भावना है कि उस अवस्था में स्थिति हो, नहीं तो नीचे तो केवल दिल्लगी है, अभ्यास नहीं। इस प्रकार चौदह वर्ष तक आप बड़े बन्धन से अभ्यास करते रहे।

कारोबार मुनीम लोग करते थे। दान-प्रणाली भी खूब चलती रही। कभी-कभी वेदान्त शास्त्रों का पाठ भी सुना करते। बहुत समय तो अन्दर ही रहकर साधन करते थे। आपके धन-वैभव, दान, ध्यान और ज्ञान की चर्चा आपके भाइयों के कानों तक भी पहुँची। वह लोग यहाँ आकर कहने लगे कि "आपकी सम्पत्ति का प्रबन्ध हम करेंगे। यहाँ तो धन ऐसे ही लुटाया जा रहा है।" पर आपने इसको स्वीकार न किया और कहा, "इस सम्पत्ति से आपका कुछ वास्ता नहीं, यह धन तो है ही लुटाने के लिए। मैं तो केवल आपसे ५००) रुपये लाया था, वह आप वापस ले सकते हैं। इसके अतिरिक्त आप किसी प्रकार की आशा न रक्खें।" ऐसी दृढ़ता देखकर वे विचारे अपना सा मुंह लेकर वापस चले गये। आपने मोह और लोभ पर तो पूरा आधिपत्य प्राप्त कर लिया था।

इन दिनों आपका भोजन बहुत ही सात्विक और सूक्ष्म हुआ करता था। इस प्रकार जब आपकी भूमिका दृढ़ हो गई और

स्वाभाविक तौर पर ही ब्रह्म-स्थिति होने लगी; तो आपने घोषणा की कि " 'आत्मा' का 'बुद्धि' से विवाह होगा।" बड़ा समारोह हुआ। बाजे बजाये गये। सब इष्ट मित्रों तथा अभ्यागतों का नाना व्यंजनों से आतिथ्य सत्कार किया गया। कई दिन तक खूब आमोद-प्रमोद होता रहा। दान भी खूब दिया, मानो धन लुटाते ही रहे। परन्तु लोग बड़े चकित थे कि विवाह तो किसी का न हुआ, शेष तो सब कुछ हो गया। आपने कहा "क्योंकि अब 'मति' का 'आत्मा' से सम्बन्ध हो चुका है, अतः यदि यह संसार के कार्य्य में विचरेगी, तो व्यभिचारिणी हो जायगी। अब तो आठों याम आत्म-चिंतन ही रहा करेगा। अव्यभिचारिणी भक्ति का अनुष्ठान करने के लिये अब हम इस सब चिन्ता से मुक्त होते हैं।" जब मुनीमों ने पूछा कि शेष सम्पत्ति को क्या किया जाय, तो आपने कहा, "जो जिसके पास है वह उसको रक्खे।" इसके बाद आप वित्तेषणा को छोड़, संसार-चिन्ता से मुक्त हो, लोभ पर लात मार, ईश्वर-आधार हो विरक्त वृत्ति से विचरने लगे।

आप बहुत साल तक बड़े कड़े नियम से रहते रहे। स्त्रियों का तो दर्शन ही नहीं किया करते थे। आपका विचार था कि "यह वृथा ही समय गँवाती हैं, कुछ करती-धरती नहीं हैं। इनके पास आने से निन्दा के सिवा क्या मिलना है। काजल की कोठड़ी में जाने से मुंह काला ही होता है।" रुपये का भी दर्शन नहीं किया करते थे। आटा-वस्त्र जितना कुछ आवश्यक होता, उतना ही रक्खा करते।

शेष जीवन के सम्बन्ध में हम बहुत कम जानते हैं। अनेक स्थानों पर आप विरक्त वृत्ति से विचरते रहे। पटियाला भी गयें। वहां आप के भतीजों ने एक कम्बल भेंट किया, परन्तु आप बिना

आवश्यकता ग्रहण नहीं करते थे। जब उन्होंने कहा, "किसी को दे दीजिये," तो उत्तर मिला "ऐसी धारणा को लेकर मैं अपनी सम्पत्ति छोड़ कर नहीं चला था, अब दान देने की इच्छा नहीं है।" पिछले कई सालों से आप फीरोज़पुर में आकर रहने लगे थे। एक ही कुटी में कई वर्षों रहे। वाहर बहुत कम आते-जाते थे। भक्त लोग थोड़ा आटा-दाल भेज दिया करते, उसी में निर्वाह हो जाता। उसी कुटी में ही आपका शरीर शान्त हो गया। स्वामी बलदेवानन्द जी बहुत काल से आपकी सेवा करते रहे थे। शरीरान्त के पश्चात उसी स्थान में आपकी समाधि भी बना दी गई।

सातवाँ प्रकरण

योग-साधना

१६०६ ई० में (सं० १६६३) बड़े दिन की छुट्टियों में सियारामजी ने फ़ीरोज़पुर जाकर साधन आरम्भ किया। थोड़े दिन पश्चात् जब प्लेग के कारण कालिज में दस दिन की छुट्टी हो गई थी, तो भी आप श्री गुरुदेव के चरणों में रहकर साधन करते रहे। कपूरथला में आकर साधन में एक चित्त होकर लग गये। वैराग्य तो पहले ही बढ़ा-चढ़ा था, मोह आदि के संस्कार क्षीण हो चुके थे, विचार के आधार पर संसार निरर्थक भासने लगा था, वृत्ति शीघ्र अन्तर्मुख हो गई। कालिज के पढ़ाने के समय से अतिरिक्त शेष सारा समय अन्दर ही रहते। नौकर को कह दिया था कि कोई भी मिलने आये, उनसे कह दो कि आराम करते हैं, कालिज में मिलेंगे। दो-तीन मास के अन्दर

आपकी शक्ति जग पड़ी। षट-चक्रों की लीला को भी बड़ी उत्सुकता से देखते रहे। प्रकाशसमाधि के विचित्र अनुभव किये। इस प्रकाश में सब हड्डी-पसली दीखने लगी, कुण्डलिनी के भी दर्शन हुए। माया की स्त्रियों का आक्रमण भी हुआ, परन्तु जब काम-संस्कार ही न था तो वे क्या करतीं, उदासीन वृत्ति से सब कुछ देखते रहे। तत्पश्चात् तपस्वी साधु-संतों और सिद्धों के दर्शन भी होने लगे। कोई अत्यन्त शीत काल में निर्वस्त्र विचर रहे हैं और कोई समाधि में मस्त दिखाई पड़े। यह सब खेल आप उदासीन वृत्ति से देखते रहे। आत्म-शक्ति के जगने पर निर्मल-स्वच्छ प्रकाश में आपका चित्त मस्त रहने लगा। प्राण की तेज गति के कारण बहुत-कुछ शारीरिक कष्ट भी सहारना पड़ा, परन्तु सब बातों का विचार छोड़कर गुरु-आज्ञा अनुसार आप प्राण-उपासना में लगे रहे। तीन-चार महीने में आपने वह अवस्था प्राप्त करली जिसे कोई विरला ही बारह साल में प्राप्त कर सकता है। प्राण की तेजी का यह हाल था कि पढ़ाते-पढ़ाते समाधिस्थ होने लग जाते। बड़ी मुशकिल से सँभल कर रुक-रुक कर बोलते। स्त्री का तो पहले ही शरीर छूट चुका था, अब यह काम आपके लिए बन्धन प्रतीत होनें लगा। शीघ्र ही वैशाख १९६४ में काँगड़ी चले गये। वहाँ आपने अपनी कुटी के नीचे एक गुफा खुदवा ली थी। सारा समय उसी में रहकर साधन करते रहते। बारह बजे के बाद ही पढ़ाई का काम किया करते। गुरु-कुल में काम बहुत हलका था, समय भी बहुत मिलता था। जैसा निर्जन स्थान आप चाहते थे और जिसके अभाव के कारण कपूरथला को छोड़ा था, वैसा आपको यहाँ सुप्राप्य था। कपूरथला में तो आपको भजन का रस बहुत न आया, परन्तु यहाँ रहकर आपने खूब

कमाई की। आपको यह चिन्ता रहा करती थी कि गुरु जी का शरीर वृद्ध और कमज़ोर होने के कारण कहीं जल्दी न छूट जाय इस वास्ते शीघ्र ही काम कर लेना चाहिये। कार्तिक में आप फिर गुरुजी से मिलने आये। मार्गशीर्ष सं० १६६४ में गुरुजी का शरीर छूट गया; परन्तु आप बड़े उत्साह और गम्भीरता से अपने साधन में लगे रहे। गुरु-कुल पहुँचने के थोड़े काल ही बाद आपकी अवस्था बहुत उच्च हो गई। अनेक सिद्धियाँ प्रकट होने लगीं। मित्रों के पत्रों के आने की सूचना उनको पहले ही दे दिया करते थे। आत्मा के सत्य काम सत्-संकल्प होने का आपको पूरा-पूरा अनुभव हो गया। जैसा चाहते वैसा विषय उपस्थित हो जाता। परन्तु इन सब लीलाओं को आपने विघ्नरूप समझकर शीघ्र ही छोड़ दिया। ब्रह्माकार वृत्ति का अभ्यास दृढ़ करने लगे। संकल्प पर तो जय प्राप्त कर ही ली थी, अब वैराग्य के आश्रय से निराधार-निरावलम्ब अमृतरूपी पीयूष-धारा का आनन्द लेने लगे। मन-बुद्धि चित्त के संसर्ग को त्यागकर आत्मानन्द में मग्न होकर परम पद का अनुभव करने लगे।

आपको गुरुजी से थोड़ी ही सहायता लेने का अवसर मिला क्योंकि उनका शरीर शीघ्र ही छूट गया; परन्तु जो व्यवहार-शुद्धि और वैराग्य-सम्बन्धी साधन आप पहले कर चुके थे उससे आपको बहुत सहायता मिली। विचारशील तो आप थे ही, और फिर अभ्यास भी इतनी लगन से किया कि मानो बहुत देर से प्यासे पुरुष को अमृत-पान करने का अवसर मिल गया। जब संसार वृथा भासने लग गया, तो फिर चित्त को आत्मा की ओर शीघ्रता से जाना ही था। १६०७ ई० में जब गरमी की छुट्टी हुई, तो आप देहरादून 'नाला पानी' में जाकर रहने

लगे। मास्टर गौरीशंकर ने सब सुप्रबन्ध कर दिया। सब काम नौकर के सुपुर्द था। आप खुद आठों याम भजन में रहते। कुछ समय बाद नौकर भाग गया; पर पास के देहात से आपको सहायता देने वाले मिल गये। पानी तथा आहार वह पहुँचा दिया करते थे। केवल दूध और मक्खन के सूक्ष्म आहार पर बड़ी तेजी से छुट्टी भर साधन करते रहे। जब गुरु-कुल में पहुँचे, तो कई बार तो पढ़ाते-पढ़ाते आँखें उलटने लगती थीं और ध्यान खिंचता था। वृत्ति इतनी चढ़ गई थी कि पढ़ाने का बहुत थोड़ा सा काम भी विघ्न सा प्रतीत होने लगा। शीघ्र ही आपने इस स्थान को छोड़ने का निश्चय कर लिया।

आठवाँ प्रकरण

सत्संग

स्वतन्त्रता से विचरने के लिए आपने कई अनेक साधन किये, जिनका उल्लेख करना भी अति आवश्यक है।

आपकी गुण-ग्राहक वृत्ति सदैव बनी रही। अन्तरीय साधन तो जिस प्रकार से चल रहा था उसमें संतुष्ट होकर लगे रहे। गुरु जी का शरीर तो शीघ्र शान्त हो गया था; परन्तु उस थोड़े काल में स्वयं इतने अनुभव प्राप्त कर चुके थे कि फिर भटकने की भावना पैदा नहीं होती थी। फिर भी जहाँ-तहाँ पता लगता कि कोई विरक्त महात्मा रहते हैं, उनके दर्शनों को अवश्य पहुँचते और उनसे बात-चीत करके जीवन-मुक्ति की अवस्था के तत्व को समझने का यत्न करते। इनमें से कुछ सन्तों का वर्णन करना आवश्यक प्रतीत होता है।

स्यालकोट में एक संत रहा करते थे, उनका नाम फूलासिंह था। उनके दर्शनों को सियारामजी कई बार गये। यह महात्मा गृहस्थ में ही रहते-रहते इतनी उच्च अवस्था को प्राप्त हुए थे। वे स्वयं सत्य बोलने के लिए प्रसिद्ध थे, और उनका सारा कुटुम्ब भी सत्य पर आरूढ़ था। सारे इलाके में यह मशहूर था कि यह कुटुम्ब सत्य का बड़ा अवलम्बन करने वाला है। उस वक्त उनकी अवस्था वृद्ध थी, घर से बाहर एक कुटी बनाकर रहते थे। गायें, भैंसें उधर चरने आया करतीं, तो आप उनकी तरफ़ थोड़ा ध्यान दे देते; परन्तु स्वयं भजन में ही लगे रहा करते थे, पशु अपने आप चरा करते। वह किसी के खेत में नहीं जाते थे। यदि कोई दूसरा पुरुष निगरानी में होता, तो पशु किसी न किसी खेत में जा ही पड़ते। उनके लड़के रोटी वहीं पहुँचा दिया करते थे। वहाँ ही वह दिन-रात ईश्वर-ध्यान में मग्न रहते। रात को शायद दो घण्टे सोते थे। इन महात्माजी का कथन था कि "संसार को भोगना भुस का खाना है।"

अमृतसर में एक दूसरे विरक्त संत रहा करते थे। वे "कंघी वाले बाबा" के नाम से प्रसिद्ध थे। कंघी बेचकर जो कुछ उनको बचता उससे अपना निर्वाह किया करते। बिना किसी पर निर्भर रहे जीवन-मुक्ति का आनन्द इस स्वतंत्र वृत्ति से लेते रहते थे। आपने उनसे आज्ञा मांग रक्खी थी कि जब चाहें उनकी कुटी पर पहुँच जाएँ। एक दिन कपूरथला से किसी रात की गाड़ी में अमृतसर पहुँचे। मकान पर देर से गये। वे सो रहे थे। आप भी चुप-चाप जाकर सो गये। जब वे जगे तो दूसरे को सोया देखकर बुलाने लगे, परन्तु देखने के लिये कि क्या करते हैं आप चुप रहे। फिर बुलाया तो आप चुप रहे। तीसरी बार डंडे से इशारा करके कहा, "कौन है?" इस पर भी आप चुप

ही रहे। तत्पश्चात् वे उठे और डंडा उठाकर कुछ कहने को ही थे कि आप यह सोचकर कि कहीं मार ही न दें, बोल पड़े: "मैं सियाराम हूँ"। बाबा जी कहने लगे कि "बोलते न तो मैं मारने ही लगा था"। आपने पूछा—"महाराज, आपके पास धन तो नहीं है, यदि चोर भी आता तो मारने की क्या जरूरत है"। बाबा जी हँसकर कहने लगे "भाई, हमारी गुदड़ी भी कोई ले जाय, तो दूसरी कहाँ माँगते फिरेंगे"।

एक बार बाबाजी को चोट आ गई। उनके भक्त लोग उनके लिए खाना ले आया करते थे। कंघी का बेचना तो बन्द था। ऐसी अवस्था में थे कि सियारामजी वहाँ पहुँचे। भोजन के समय एक दम्पति भोजन ले आये। भोजन पा चुकने के बाद महात्मा जी उनसे कहने लगे, "अब कुछ आराम है, कल से भोजन न लायें, यथा पूर्व निर्वाह होता ही रहेगा"। पर वे आग्रह करते थे कि आप क्यों कष्ट करते हैं, हमें दो टिक्कड़ लाने में कोई दिक्क़त नहीं है। सियाराम जी ने भी इस बात का अनुमोदन किया कि अभी आपके पैर में दर्द है, कहीं बिगड़ ही न जाय। यदि आप इनकी सेवा ग्रहण करलें तो क्या हर्ज है? बाबाजी कहने लगे, "बेटा, तुम नहीं जानते, यह भोजन में 'बच' डाल लाते हैं, जिसके कारण पीछे से क़ै हो जाती है"। वे बिचारे बड़े हैरान थे। बहुत हाथ जोड़कर कहने लगे, "महाराज ज़ी, हमने तो ऐसा कभी नहीं किया, कोई दूसरे ऐसा करते होंगे।" जब वे चले गए तो फिर आपने पूछा, "यह 'बच' की बात मेरी समझ में नहीं आई"। बाबा जी ने उत्तर दिया, "बच्चा, यह दो पैसे की रोटी खिलाते हैं और दो हज़ार रुपये के पुत्र की भावना इसमें डाल लाते हैं। अब हमारे पास पुत्र कहाँ धरा है, इस वास्ते कष्ट सह लेना ही भला है"। आप

बाबा जी की वृत्ति की बड़ी सराहना किया करते थे और कहा करते कि जीवन-मुक्त पुरुष अनेक प्रकार से अपना निर्वाह करते हैं।

जब आप गुरु-कुल कांगड़ी में रहते थे, तो काठियावाड़ के एक महात्मा के सम्बन्ध में आपने सुना। छुट्टियों में गुजरात पहुँचे, और उनके सत्संग से लाभ उठाया। वह कुम्हार का काम किया करते थे, बर्तन बना देने पर बेचने के लिए लड़कों को दे दिया करते और खुद प्रायः भजन में रत रहते थे।

ऐसी गुण-ग्राहक वृत्ति से आपने अनेक महात्माओं, साधुओं और सज्जनों के दर्शन किये। उनके गुण तो ग्रहण करते ही थे; पर उनके दोष से भी अपने लिए चेतावनी ले लिया करते थे। दूसरों के दोष भी आपके लिए उपदेश रूप थे। कपूरथला में एक वेदान्ती ब्रह्मचारी रहते थे। उनसे बातें करने से पता चला कि वे कभी कभी काम वश हो जाते हैं और इस प्रकार कई स्त्रियों को पुत्र भी दान देते रहे हैं। ऐसा सत्य वचन सुन कर आपकी श्रद्धा उनके प्रति बढ़ गई कि उन्होंने मान अपमान का विचार छोड़कर सत्य-सत्य कहदिया। सियारामजी के सामने ही एक स्त्री इसी प्रकार की याचना के लिए आई थी और चाहती थी कि वे उस पर कृपा करें। इस बात का रहस्य आप पर तब खुला, जब आपने ब्रह्मचारी जी से कहा, "अबतो आप बहुत सिद्ध हो गये होंगे। क्या हर्ज है यदि उस बेचारी का काम भी हो जाय।" ब्रह्मचारी जी ने उत्तर दिया, "यह तो पहली बात की आशा करती है क्योंकि इनको स्वभाव ही वैसा पड़ा है; परन्तु मेरा शरीर अब बूढ़ा हो गया है। इस कष्ट को नहीं सह सकता।" अब आपको पता चला कि बूढ़े होते हुए भी अभी तक इन्होंने काम को नहीं जीता। ऐसा जानकर उनके सत्य कथन पर तो श्रद्धा रही, परन्तु यह

निश्चय हो गया कि "कोरा वाचक ज्ञान कुछ काम का नहीं, साधन के विना सब मानसिक विलास है, कथनी का वितण्डा-वाद है, निरर्थक ही नहीं, अपितु हानिकारक है।"

आपकी श्रद्धा पहले पहल अन्धी हुआ करती थी। पीछे, विचार के बढ़ने से, प्रोफेसर वेनीमाधो सरकार और पण्डित योगेश्वरजी की संगति से, आपको छान-बीन करने की आदत हो गई। छिद्रान्वेषण का स्वभाव तो आप में आ ही नहीं सकता था ; परन्तु जहाँ पहले दोष दीखता ही न था, वहां अब गुण-दोष दोनों दीखने लगे। गुण से तो आपको लाभ होता ही, दोष को भी जान कर यही विचार रहता कि प्रभु ही रक्षा कर सकते हैं, और यत्न करते कि 'यह दोष अपने में न आने पावे'। इस प्रकार सत्सङ्ग तथा विचार विवेक से आप अपने आप को सन्यास के जीवन के लिए तैयार करते रहे।

नवां प्रकरण

यम-सिद्धि

योग-साधन करने के वहुत पहले से ही यम-नियम का अनुष्ठान होता रहता था। जन्म से ही आप पुण्य संस्कार लेकर आये थे। जब आप कालिज में पढ़ते थे तब भी अपनी सत्य-प्रियता के लिए प्रसिद्ध थे। जिस बात को कह देते, उससे मुंह न मोड़ते। बात के बड़े धनी थे। सरल स्वभाव और कोमल हृदय के कारण ही आप सबको भाते थे। कांगड़ी में रहते हुए योगेश्वरजी से आपकी बड़ी मित्रता होगई थी। योगेश्वर जी भी गुरु-कुल में वैद्य का काम करते थे, अथवा वैद्यक पढ़ाया

करते थे। वे कनखल में बाल-बच्चों समेत रहा करते थे। एक बार जोशी जी बहुत बीमार हो गये। दिमाग़ की कमज़ोरी के कारण कुछ पागल से होने लगे। आपकी मित्रता तो थी ही, अतः ऐसे कष्ट के समय उनकी सेवा में कनखल ही रहने लगे। उनका सभी कारोबार और पत्रव्यवहार आपही किया करते थे। जब योगेश्वरजी को बहुत-कुछ आराम हो चला, तो उन्होंने एक पत्र अपने छोटे भाई को लिखवाया:— 'मेरा शरीर बहुत अस्वस्थ है, आराम होने की सम्भावना कम है, तुम्हारी तरफ़ कुछ हिसाब है, यदि भेज दो तो भविष्यत के प्रबन्ध में मदद मिलेगी'। आपने ऐसा लिखा, 'शरीर बहुत अस्वस्थ रहा, अब आराम होने की आशा है, हिसाब भेज दो तो भविष्य के प्रबन्ध में मदद मिलेगी', और यही उनको सुना दिया। योगेश्वरजी ने पूछा कि 'आपने यह क्या लिख दिया, जैसा मैंने कहा था ऐसा लिखने से शायद हिसाब जल्दी मिल जाता।' उत्तर दिया 'मरना तो तुमको है नहीं, आराम तो हो ही चला है, झूठ क्यों लिखते।' इस प्रकार से 'सत्य' आपको स्वाभाविक सिद्ध हो गया था। तभी तो आत्मा के सत्संकल्प का अनुभव स्फुरित होने लगा था।

'अस्तेय' के पालन में कैसे कमी हो सकती थी। जब लोभ और मोह की फाँस कट चुकी हो, तब किसी प्रकार से भी चोरी या बेईमानी कैसे प्रवेश कर सकती है? कपूरथला में पढ़ाते हुए किसी दूसरे को पढ़ा कर वेतन लेना तो आप अन्याय और अनुचित ही समझते थे। कांगड़ी आकर भी अत्यन्त थोड़े वेतन पर आप काम कर रहे थे। आपका विचार था कि धर्मार्थ संस्थाओं में बड़े कष्ट से रुपया आता है, दान देने वाले भी अनेक भावनाओं को लेकर दान देते हैं। हृदय की शुद्धि के लिए आवश्यक है

कि जितना थोड़ा धन यहां से लिया जाय उतना अच्छा है। आपका विचार ऐसा था कि 'किसी चीज़ को वेफ़ायदा सर्फ़ करना वद्दियानती है। वक्त का ज़ाया करना, किसी काम को वेतवज्जोह् से करना वद्दियानती है। जो काम करना हो, उसको ख़ास तवज्जोह् से करना चाहिये या जिस क़द्र वक्त हो, उस क़द्र काम में लगना चाहिये।'

'अहिंसा' का पालन वहुत होता था। आपका हृदय दूसरे के दुःख को सह नहीं सकता था। विद्यार्थी जव काम करके न लाते, तो उनको ताड़ना करने में भी कष्ट प्रतीत होता। वड़ी साव-धानी से पढ़ाने और पूरी तरह समझाने के पश्चात् भी यदि कोई विद्यार्थी उस कार्य्य को न करता तो आपको वड़ा दुःख होता। वहुत दिन तक कर्त्तव्य जान कर ताड़ना करते रहे। पीछे से इस कष्ट को नहीं सह सकते थे; छोड़ने की ही सूझी। करुणा के भाव जव जाग्रत हो जायें, तो फिर हिंसा होनी असम्भव हो जाती है। फिर भी कहा करते थे, "संसार इतना गड़वड़ है कि विना इच्छा भी, दूसरों को कुछ न कुछ कष्ट दिये विना काम चल ही नहीं सकता"। पर जव शरीर-यात्रा ही वोझ-रूप हो रही है, तो दूसरों को दुःख देना और भी असह्य हो जाता है। काँगड़ी में जिस गुफ़ा में आप रहा करते थे वहां साफ रखने पर भी विच्छू पैदा ही हो जाते। आपका आसन ज़मीन पर रहा करता था। जव कभी गुफ़ा को सफ़ा करते, तो चटाई के नीचे अनेक विच्छू चिपके हुए मिलते। इसी प्रकार आपकी माता की चारपाई पर भी विच्छू पाये जाते। परन्तु आपने नौकर को आज्ञा दे रक्खी थी कि विच्छू को मारना नहीं चिमटे से पकड़ कर दूर फेंक देना। दो वर्ष तक कांगड़ी में रहते हुए आपको

विच्छुओं से कभी कोई कष्ट नहीं मिला। आप उनकी रक्षा करते, वैसे वह भी आपके के लिए दु:खदायक नहीं बने। आप कहा करते थे, 'यदि तुम हिंसक जन्तुओं को न छेड़ो तो जब तक तुम्हारा प्रबल भोग न होगा वे तुमको कष्ट नहीं देंगे।' ऐसी वृत्ति को आप सदैव धारण करते रहे। आपकी सहन-शीलता, क्षमता और वैर अभाव के कारण ही निन्दक और विरोधी अपने अपराधों पर पश्चात्ताप करने को बाधित हो जाया करते थे।

'ब्रह्मचर्य्य' के कठिन साधन को तो आप करते ही चले आये थे; फलतः काम जैसे महाबली पर भी आपने विजय प्राप्त कर ली थी। जिस काम के वश में होकर विश्वामित्र और शृङ्गी जैसे तपस्वी अपने तप को भूल गये, ब्रह्मा आदि देवता भी जिसके तीक्ष्ण बाणों को सहन न कर सके, जिसके बन्धन में अनेक जीव जन्तु पड़े हुए असह्य दु:ख भोग रहे हैं, उस पर लात रख देना किसी सूरमा का ही काम है।

जब काम और मोह की ओर से चित्त का प्रवाह रुक गया हो तो 'अपरिग्रह' का साधन सुगम हो जाता है। जिस विवेकी के हृदय में संसार की असारता जड़ पकड़ गई है, जो बहुत विचार करने पर भी संसार के पदार्थों में सुख का भान नहीं करता, जो दु:ख को प्रति क्षण अनुभव करता हुआ केवल उसके निवारणार्थ ही पदार्थों का उपभोग करता है, जिसको संसार निरर्थक ही भासता रहता है, उसका चित्त भला विषयों की ओर कैसे जा सकता है? इन्हीं कारणों से 'प्रत्याहार' तो आपको स्वाभाविक ही सिद्ध था। इतनी शीघ्रता से वृत्ति का अन्तर्मुख होकर तदात्मकार हो जाना ही आपकी विषयों से उपरामता को प्रकट करता है।

दसवां प्रकरण

समर्पण

यमों का पालन जब इतना सुलभ था, तो नियमों के अनुष्ठान में कैसे कसर रह सकती थी? 'शौच' को सिद्ध करने से ही आप कामरूपी महाबली को जीत सके थे। चित्त की निर्मलता के कारण जब अपने ही शरीर से घृणा हो चुकी थी (उसके नव द्वारों से दुर्गन्ध ही सरता रहता है, रोम-रोम से सदैव मल निकलता रहता है), तब दूसरे के शरीर में कैसे आसक्ति हो सकती ?

'सन्तोष' के बिना कपूरथला को छोड़ कर चले जाना कैसे संभव था। वहां से चलते समय आपने अपने प्रमाण-पत्र आदि को अग्नि में भस्म कर दिया था। आपका लक्ष्य तो संसार की प्रत्येक वासना का त्याग करना था। फिर भला थोड़े से रुपये आपको कब विचलित कर सकते थे? प्रमाण-पत्रों को जला देने से आप अपनी संसार तथा धन सम्बन्धी वासनाओं का मानों नाश ही कर रहे थे। काँगड़ी पहुँच कर भी निर्वाह मात्र धन लेने लगे। अपने पास धन जमा करने का विचार तो आप में आता ही नहीं था, निर्वाह मात्र पर ही दृष्टि रहा करती थी।

'तपोमय जीवन' आप आरम्भ से ही व्यतीत कर रहे थे। सुख-दुःख, निन्दा-स्तुति, मान अपमान आदि द्वन्द्वों को सहन करने का अभ्यास किया ही करते थे। जब नौकरी छोड़ने का विचार तेज था, तब भूख, प्यास, सरदी, गरमी को सहने का यत्न भी होने लगा। एक मास तक शहद और पानी पर निर्वाह करते रहे। कभी कभी निराहार, केवल जल के आश्रय ही रहते। कई दिन भूंसा खाकर ही क्षुधा को तृप्त किया। तेल से आप

का चित्त घबराता था, तो योगेश्वर जी ने एक दिन आप से कहा, यदि भिक्षा में तेल में बनी तरकारी मिल गई, तो कैसे गुज़र होगा। उनके यहाँ तेल में तली पकौड़ियां खाने का अभ्यास करने लगे। धीरे-धीरे स्वभाव पड़ गया, बुरा भी नहीं लगता था। एक दिन आपने विचारा कि देखें मट्टी का तेल भी ऐसे ही सहन किया जा सकता है। जोशीजी को पता चला तो दो-तीन दिन के बाद छोड़ दिया। फिर जंगल की अनेक वनस्पति ढूंढ़-ढूंढ़ कर खाने लगे। उससे आपको बोध हुआ कि ऐसा पशुओं का आहार रहने से मल आदि भी दुर्गन्धित नहीं होते। तपती हुई ज्येष्ठ-आषाढ़ की गरमी में नङ्गे पैर अनेक बार योगेश्वर जी के यहाँ कनखल गये। सर्दी में भी बहुत थोड़े कपड़े से निर्वाह किया करते थे।

'स्वाध्याय' तो कई प्रकार से चलता ही रहता था। शास्त्रों की चर्चा तो आपको प्रिय थी ही, परन्तु अपने गहरे विचार से, अपने मन के अनुसन्धान से, अपनी गुण-ग्राहक वृत्ति से, अपने हृदय में प्रभु का ध्यान करने से आप ज्ञान के गूढ़ तत्वों को भली प्रकार समझ चुके थे। इस प्रकार तन मन को अनेक साधनों से कुन्दन कर लिया था। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कार, मदमत्सर पर जय प्राप्त कर चुके थे।

कपूरथला में रहते हुए यह विचार था कि "भिक्षा में शुद्ध अन्न का मिलना सुगम नहीं है। यदि अपनी नेक कमाई का कुछ रुपया रख छोड़ें, तो कुछ दिन तो निश्चिन्त होकर प्रभुभजन में लगे रहेंगे, दूसरे के गड़बड़ अन्न खाने से मन में विकार पैदा नहीं होंगे।" ऐसे विचारों को लेकर आपने अपने वयोवृद्ध मित्र पं० रामनाथ जी शास्त्री से परामर्श लिया। शास्त्री जी ने कहा, "शुद्ध अन्न की बात तो ठीक है पर ऐसा करने से कुछ

अहङ्कार और राग रह जाता है। जब आप सब कुछ ईश्वर पर छोड़ रहे हैं, तो फिर वे स्वयं इस बात की चिन्ता करेंगे"। यह बात आपको जच गई, और जो रुपया स्त्री के निमित्त रक्खा था उसको खर्च कर डाला, क्योंकि स्त्री का तो शरीर छूट ही चुका था। तब से आप 'ईश्वर-परायण' होकर ही रहा करते। इसी वृत्ति को हृदय में रखते हुए आपने १६०६ ई० (सम्वत् १६६६) वैशाख मास में गुरु-कुल काँगड़ी को प्रणाम किया, और ईश्वर-आश्रय होकर रहने लगे। पिछले छः साल में अनेक बार नित्य प्रति हवन करते हुए 'इदन्नमम' का पाठ किया था; परन्तु वह पाठ शब्द मात्र तो था नहीं, हृदय के त्याग की भावना ही उसको प्रेरित करती रही थी। आज उस आहुति का पूर्ण फल ईश्वर-समर्पण रूप से प्राप्त किया। उस समय आपने ईश्वर से कहा—

سپردم به تو مائیه خویش را تو دانی حساب کم و بیش را

'सपुर्दम ब-तो मायाऐ-ख्रेश रा,
तू दानी हिसावे कमो-बेश रा।

'मैंने अपना योग-क्षेम तो तेरे अर्पण कर दिया है। अब हानि-लाभ तथा घटी-बढ़ी का तू ही जिम्मेदार है'। ऐसे पूर्ण समर्पण के बाद ही मनुष्य संन्यासी हो सकता है। 'सर्व-संकल्प-संन्यासी'। जिसने लोक-परलोक की वासना तज दी है, जिसको अब कुछ करना नहीं, किसी वस्तु की प्राप्ति की चाह नहीं रही, किसी प्राप्य की रक्षा की चिन्ता भी नहीं, उसका चित्त प्रभु का क्रीड़ा-स्थल बन जाता है। जब अहंकार सर्व प्रकार से नष्ट हो चुका, तब शरीर-यात्रार्थ प्रभु जैसा नाच नचायें, वैसा खेल करना होगा। जीवन-मुक्ति का आनन्द इसी में है कि जैसा रास प्रभु रचाना चाहें, उसका साक्षी बनकर तन-मन की सारी

सामग्री उस कौतुकी नट-नागर के अर्पण करदें। ऐसे भावों से प्रेरित सियारामजी 'स्वामी' वनकर रहने लगे। जब दिल का चोला रंगा गया, तो वाहर का चोला रंगाने की चिंता किसको होती है! पहली सब उपाधियों का तो त्याग हो रहा था, फिर नये नाम की उपाधि कौन लेता! जब आनन्द का सागर हृदय के सरोवर से उमड़ रहा हो, तो फिर नाममात्र के 'आनन्द' से क्या लाभ! अब तो यही विचार था कि जिस काम में प्रभु लगाना चाहेंगे, उधर ही मन को जोड़ देंगे। उनकी प्रेरणा से जो भोग रोग मिलना है, जो किसी का हित और भला होना है, जैसी नौकरी और सेवा प्रभु को कराना है, वैसा ही करना पड़ेगा। इस परम सिद्धि का प्रकाश धीरे धीरे पाठकों पर हो जाएगा। ज्ञानी और वालक तो भगवान की लीला में आनन्द मानकर नाचते रहते हैं। जो स्तुति-निन्दा, मान-अपमान, सुख-दुःख और भलाई-बुराई वह करते कराते हैं, उस सब से वेपरवाह रहते हुए प्रभु की शरण ही उनका एक मात्र आश्रय है। उनके लिए तो 'संतोषे परम लाभः' यही महा वाक्य हैं। मज़ा इसी में है 'राजी हैं तेरी रज़ा में'।

"मालिक तेरी रज़ा रहे, और तू ही तू रहे।
वाक़ी न मैं रहूँ, न मेरी आरज़ू रहे॥"

सन्त कबीर ने सत्य कहा है :-

आपा मेट, जीवत मरे तो पावे करतार,

अब आप तो 'आपा' खो चुके थे, ईश्वराधार विचरने लगे।

३

सन्यास-कांड

पहला प्रकरण

मोह-परीक्षा

जो लोग गृह त्याग कर साधु का बाना पहिन लेते हैं व अपना नाम-रूप बदल कर ऐसे स्थानों में विचरते हैं जहां उनको कोई सम्बन्धी तथा मित्र न मिल सके। वैराग्य के भावों को दृढ़ करने के लिए, अपने चित्त के प्रवाह को परमार्थ की ओर पूर्णतया बहाने के विचार से, मोह और राग द्वेष की पाशों को ढीला करने के लिए शास्त्र में भी ऐसा ही नियम बतलाया है। पुराने सम्वन्धी और मित्रों के मिलते रहने से मोह के संस्कारों के क्षीण होने में देर लगती है। कुछ बाधा पड़ने का भी भय रहता है। यह सब नियम साधक के लिए तो हितकारी हैं। अथवा जो संसार के प्रलोभनों के आक्रमण से विह्वल हो कर भाग खड़ा हुआ है उस रण-छोड़ के लिए तो यही भला है कि जिनको वह अपना शत्रु अथवा विरोधी समझता है उनसे दूर ही रहे। प्रायः लोग इतनी छोटी

या कच्ची अवस्था में घर को छोड़ते हैं कि उनके कल्याण के निमित्त ऐसे ही नियम उपयोगी हो सकते हैं। परन्तु उपयोगी होने पर भी यह भीरुता है।

जो वीर रण-क्षेत्र में डटा रह कर शत्रु पर जय लाभ कर चुका हो, उसको तो दंगल में रहने का ही आनन्द आता है। वह तो, अपने आप को ऐसी स्थिति में ही डाल देने में अपना श्रेय समझता है, कि जिसमें रहने से यदि कोई सूक्ष्म राग-द्वेष के संस्कार रह गये हों, तो उनको जाँचने का अवसर मिल जाय, और जिनका मोह अपने बन्धन का कारण हो सकता है उनको निराश कर देने से फिर निर्भय होकर विचरने का आनन्द प्राप्त हो। अमृतसर के ऋषि पालाराम की कथा आप जानते ही थे। पंडित पालाराम शास्त्री थे। युवाकाल में ही घर छोड़ शास्त्र-वाक्य की परीक्षा पर निकलने का विचार हुआ। कुछ दिन सम्बन्धियों के यहां शरीर के भोग को ईश्वर-आश्रय पर छोड़ बिना काम के रहने लगे। थोड़े ही काल में वे सब उनको निकम्मा समझकर उनसे निराश हो गये। ऐसे ही विचारों को लेकर स्वामी जी शीघ्र अपने ग्राम 'साथी' को जाना चाहते थे; पर गरमी के कारण रुके रहे। कुछ देर योगेश्वरजी के पास कनखल में ठहरे रहे। हरिद्वार, ऋषिकेष के अनेक साधुओं और महात्माओं के सत्संग से लाभ उठाते रहे। अवधूत मथुरादास जी से भी बातें किया करते रहते थे। ऋषीकेष के स्वामी मंगलनाथ के विचारों से भी आपको बड़ी सहायता मिलती थी। उनका अद्वैतवाद तो आपको कभी जचा ही नहीं। परन्तु फिर भी उनके गहरे विचार से बड़ा सन्तोष मिलता था। कुछ काल देहरादून के आस-पास ठंडे स्थानों में विचरते रहे, तत्पश्चात् वर्षा ऋतु के आरम्भ होने पर 'साथी' पहुँचे।

वहां आप ग्राम के वाहर नाले के किनारे छतरा डालकर रहने लगे। दिन को कभी कभी धूप भी तेज पड़ती थी, पीछे बरसात वहुत होने के कारण मच्छरों ने भी सताया, फिर सर्दी से भी कष्ट होने लगा। पर इस सबको सह लेना तो ऐसा कठिन नहीं था। आप तो मोह का खेल देखने के लिए आये थे। भाई बन्धुओं ने वहुत चाहा कि घर पर रहें अथवा उन्हींके यहाँ भोजन किया करें। परन्तु उनका रोना-धोना कुछ काम न आया। आपतो ईश्वर-आश्रय भिक्षा-वृत्ति से रहना चाहते थे। जिधर चाहते, अथवा जिस ओर चित्त गवाही देता, वहीं का अन्न ग्रहण करते। जन्म से क्षत्रिय होने के कारण आपके भाई की यह इच्छा थी कि नीच वर्ण के घर का भोजन न लें। आप में इस प्रकार का अभिमान तो शेष था ही नहीं। जब गौतम बुद्ध पहले पहल वौद्ध धर्म का उपदेश करने के लिये कपिलवस्तु गये, तो दोपहर को, भोजन के समय, भिक्षुओं समेत नगर में भिक्षा मांगने निकल पड़े। उनके पिता, राजा को, यह बुरा लगा। वे आकर कहने लगे, "आप राज-पुत्र होकर यह क्या कर रहे हैं? ऐसा करने से कुल में कलङ्क लगता है। यदि और नहीं, तो हमारा आतिथ्य ही स्वीकार करना चाहिये। हमारे पास रहते हुए आपको ऐसा करना उचित नहीं।" परन्तु उन्होंने उत्तर दिया, "हमारे कुल की तो ऐसी ही मर्य्यादा है।" ज्ञानी-सन्यासी तो किसी प्रकार का वन्धन स्वीकार नहीं कर सकते, उनके लिए सव मनुष्य एक समान हैं। जहाँ तहाँ से भोग-अनुसार अन्न ग्रहण करते हैं। ऐसे ही विचारों से प्रेरित होकर स्वामी सियाराम जी महात्माओं की पद्धति के अनुसार अपनी भिक्षा जहां तहाँ से स्वीकार करने लगे।

जब कुछ काल पश्चात् भाई-बन्धुओं का मोह कम हो गया,

और वे भी उसी भाव से उनके पास आने-जाने लगे जैसे कि अन्य ग्राम के लोग आते थे, तब आप उनका भी अन्न ग्रहण करने लगे। इस प्रकार उनके बीच में रहते हुए आपने शूरवीर क्षत्रिय की तरह, रण में डटकर मोह की सारी सेना को परास्त कर दिया। आपके व्यवहार से सब लोग भली भाँति समझ गये कि अब आपसे किसी प्रकार की ऐसी आशा करना निरर्थक है, जैसी कि भाई तथा सम्बन्धी से की जाती है। हां, यदि आपके ज्ञान और पवित्र जीवन से कुछ लाभ उठाना है तो अधिकारी बन कर ही लाभ उठा सकते हैं।

एक दिन वहां एक काला साँप आपकी कमर में लिपट गया। जब ग्रामवालों को पता चला तो उन्होंने निवेदन किया कि "महाराज, आप ग्राम में चल कर रहें, बरसात में यह स्थान रहने के योग्य नहीं है।" स्वामीजी ने उत्तर दिया, "दो-एक दिन देख लें, क्या होता है।" दो-तीन दिन तो साँप आता रहा; पर महात्माजी के अविचल भाव से प्रभावित होकर फिर वह नज़र न आया। अहिंसा को धारण करके ही मुनिजन निर्भय पद को प्राप्त कर लेते हैं।

इन्हीं दिनों में, कनखल में योगेश्वर जी के पास एक पंजाबी ब्रह्मचारी पहुँचा। वह कहीं पहले महाराज जी के दर्शन कर चुका था, और अब उनसे मिलने के लिए बड़ा व्याकुल था। कभी कभी वह इतना उदास हो जाता कि रोने भी लग जाता। वहाँ से पता पाकर स्वामीजी के पास उनके ग्राम में पहुँचा। कुछ दिन उनके साथ रहा। उसे खाने पीने को बहुत लालसा रहती थी, इस दोष के कारण महाराज जी उसको बहुत समझाते और कभी कभी बड़े कड़े वचन भी कहा करते।

स्वामी रामावतारजी भी आपके सत्संग में आया करते और

उपदेशामृत पान किया करते थे। उनके सामने ही दो नागा बावा, शंकरदास और कालूदास स्वामी जी से मिलने आये। कुछ वार्तालाप करके चले गये। उनके जाने के पीछे स्वामी रामावतारजी ने पूछा, "महाराजजी, इनकी वृत्ति कैसी है ?" आपने कहा, "अच्छी है, परन्तु इतनी अच्छी नहीं।"

इन दिनों आप दर्शनों और उपनिषदों को फिर से आद्योपान्त देख रहे थे। एक वार सबको विचारपूर्वक देख डाला। देखने से जो कुछ सत्संग में सुना था, और अपने आत्मा के भीतर अनुभव किया था, उसकी साक्षी मिल गई। फिर पीछे आप कभी इस झंझट में नहीं पड़े। पुस्तकें देखने का अभ्यास न रहते हुए भी आप अपने उपदेशों में शास्त्रों की पर्याप्त गवाही पेश किया करते थे। इससे पता चलता है कि आपने कितने ध्यान से शास्त्रों का मनन किया था। आपका उपदेश अधिकतर अनुभव पर निर्भर रहा करता था। केवल सुनी-सुनाई और पढ़ी हुई वातों पर विना अनुभव किये आप वहुत कम विश्वास करते थे। यही कारण था, कि आप अपने सव काम अपनी अन्तरात्मा की साक्षी के अनुसार किया करते थे। आपकी गति आत्मा में ही रहा करती थी। केवल दिल वहलाने के लिए आपको पुस्तकों के पढ़ने का व्यसन कभी नहीं रहा। आपकी अवस्था उस ज्ञानी की थी जिसने निर्वाण पद को प्राप्त कर लिया है, और जो सर्वत्र अपने आत्मा से ही सन्तुष्ट रहता है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा है :—

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथाऽन्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ ५-२४.

'जो अन्दर ही सुखवाला, अन्दर ही क्रीड़ावाला, अन्दर ही दृष्टिवाला है, वह योगी ब्रह्म हुआ ब्रह्म में निर्वाण को प्राप्त होता है'।

ऐसे महात्मा को किसी शास्त्र तथा शब्द के आधार की जरूरत नहीं, वह तो आत्मा के ही आश्रित प्रभु के आज्ञानुसार विचरता है।

यहाँ पर ही आपने पहले-पहल एक वृद्ध ग्रामीण को भजन-साधन का उपदेश दिया। जब स्वामीजी ने उसको कहा, "अभ्यास में खुश्की होती है, कुछ घी आदि चिकने पदार्थ अधिक खाने चाहिये।" उसने कहा, "महाराज, हम देहाती लोग हैं, हमको खुश्की नहीं होती।" थोड़े दिनों में जब सुषुम्णा खुली, तो उसका सिर फटने लगा, फिर तो वह खूब घी-मलाई खाने लगा। तब उसे पता लगा, कि संतों के वचनों में कैसा सत्य होता है। इस ग्रामीण का हृदय सरल था। बड़ी वेपरवाही से रहता था। बहुत लाग-लपेट नहीं रखता था। अन्तःकरण शुद्ध होने के कारण उसको शीघ्र अच्छी अवस्था प्राप्त होने लगी। जहां उसने वृत्ति को अन्तर्मुख करके मन-बुद्धि का खेल बंद किया, वैसे ही आत्मा एकरस होकर रह जाता। महाराजजी उसकी उन्नति पर चकित थे। आपका पहले भी यह विचार था कि आत्म-साधन में पवित्र हृदय विद्या की अपेक्षा अधिक आवश्यक है। इस अनुभव से आपके विचारों को पुष्टि मिली कि कोरे वाचक ज्ञान से कुछ बहुत लाभ नहीं।

इस प्रकार नौ मास तक 'साथी' में रह कर, आपने मोह की सेना को सर्वदा के लिए परास्त कर दिया। वहां से चलकर गरमी के शुरू में आप आगरा पहुँचे।

दूसरा प्रकरण

आचार्य्य-दक्षिणा

इस वात का पहले भी वर्णन किया जा चुका है कि आप प्रो० वेनीमाधव सरकार के वड़े कृतज्ञ थे। वे आपको वड़े प्रेम और उत्साह से गणित पढ़ाया करते थे। अन्यथा भी आवश्यकता अनुसार धन आदि से आपकी सहायता करते थे। धर्म के सम्बन्ध में भी उनका यही उपदेश रहा करता कि किसी के शब्द-जाल में यकायक फँसना नहीं चाहिये, और अपने विचार और अनुभव पर प्रत्येक वात को कसना चाहिये। स्त्री के सम्बन्ध में, आपका यही उपदेश रहा करता था कि वह वन्धन का ही कारण है। ऐसे अनेक कारणों से आपके चित्त में उनके प्रति कृतज्ञता का भाव प्रायः प्रकट हुआ करता था। इस भाव से मुक्त होने की प्रेरणा को लेकर आप यहां आये थे।

जो रुपया आपको कपूरथला कालिज छोड़ते समय पुरस्कार रूप में मिला था वह माता के निमित्त रख छोड़ा था। उसको व्यय करने का अवसर ही प्राप्त न हुआ था। जव आप कांगड़ी छोड़कर देहरादून गये थे, तो पहली वात जो आपको सूझी वह उस रुपये के खर्च के सम्वन्ध में थी। देहरादून में चावल वहुत अच्छे मिलते हैं, आपने कुछ चावल रेल द्वारा प्रो० सरकार के पास भेज दिये।

परन्तु इतने से ही आपका हृदय चुप न रहा। कुछ और करने की ज़रूरत थी। उन दिनों प्रो० सरकार के वड़े पुत्र चारुचन्द्र सरकार एम० ए० की परीक्षा की तैयारी कर रहे थे। इस अवसर को पाकर आपने वहीं रहकर गुरु-दक्षिणा के

संस्कारों से मुक्त होने की ठान ली। जब आपने कपूरथला छोड़ा था, तब अपनी कुछ पुस्तकें भी इन्हीं को भेज दी थीं। गणित के ऐसे विषय जिनको आपने एम० ए० में भी छोड़ दिया था, जिनको प्रो० सरकार भी क्लिष्ट समझते थे, जिनकी ओर कभी ध्यान भी नहीं दिया था, अब आप छोटे सरकार को बड़ी सावधानी से पढ़ाने लगे। इस सबको देखकर, प्रो० सरकार बड़े चकित थे, और इस बात को उन्होंने स्वीकार किया कि योग-साधन में और चाहे जो फल होता हो परन्तु इतना अवश्य होता है, कि बुद्धि बड़ी सूक्ष्म हो जाया करती है।

स्वामीजी यहां पर पर्याप्त समय रहे। आप प्रायः प्रातःकाल तीन-चार बजे उठकर ध्यान में बैठ जाया करते थे। तत्पश्चात् गणित की पुस्तकों पर थोड़ा विचार करते। कभी-कभी प्रो० सरकार के साथ घूमने भी जाया करते थे और अनेक दार्शनिक विषयों पर विचार हुआ करता था। कई बार उनकी धर्मपत्नी से भी अनेक व्यवहार और परमार्थ सम्बन्धी बातें हुआ करती थीं। आप गुरु-पत्नी को बड़ी श्रद्धा से अनेक अच्छी-अच्छी बातें बताते जिससे कुटुम्ब का सारा काम करते हुए ही थोड़ा-बहुत ईश्वर का भजन भी साथ-साथ होता रहे।

प्रो० साहिब को कुछ मधुमेह का रोग था। स्वामीजी आपके लिए जंगल से कई जड़ी-बूटियां ले आया करते। इस प्रकार कई मास आगरा में रहते हुए चारुचन्द्र जी को गणित पढ़ाते रहे। इनके छोटे भाई-बहिन को कुछ अँगरेजी भी पढ़ाते थे। अँगरेजी व्याकरण को ऐसी सरल रीति से समझाते कि जिस विषय को वह बालक क्लिष्ट समझते थे, वह उसे अत्यन्त स्पष्ट अथवा सरल जचने लगा।

यह सब खेल इस लिए करते रहे कि चित्त में जो कृतज्ञता

के भाव प्रकट हो रहे थे उनसे सर्वदा के लिए छुटकारा मिल जाय। यह तो था नहीं, कि यह कार्य्य अच्छा है और दूसरा काम अप्रिय है। जो काम आ जाता उसी में मन लगा दिया करते। मन पर इतना अधिकार था कि सब काम को प्रारब्ध का भोग समझकर बड़ी सावधानी से करने लग जाते थे।

छोटे सरकार के पैरों में कुछ दोष था। इस कारण भी और वैसे भी उनके पिता और स्वामीजी दोनों ने उन्हें यही सलाह दी कि विवाह-पाश में फँसने से अधिक कष्ट होगा। इस उपदेश को छोटे सरकार ने ग्रहण कर लिया।

वे महाराज की गणित विषयक निपुणता और पढ़ाने तथा समझाने में दक्षता पर मुग्ध थे। कार्य्यकुशलता भी योगी का लक्षण है।

'योगः कर्मसु कौशलम्' ऐसा। गीताकार का वचन है।

यहां रहते हुए आप कई वार राधास्वामी सतसंग में भी गये। संगत की नम्रता तथा गुरु-भक्ति आपके चित्त को प्रसन्न करती थी। आपने उनके मार्ग का साधन थोड़े दिन तजवों के विचार से किया। उसके रहस्य को आपके सिद्धचित्त ने शीघ्र अनुभव कर लिया। परन्तु वैराग्य पर अधिक जोर न देकर केवल भजन को अधिक महत्ता देना आपको पसन्द नहीं था। केवल भजन से थोड़ा रस तो मिल जाता है परन्तु वैराग्य के विना परा-अवस्था नहीं प्राप्त होती। अयोध्याप्रसाद जी भी यहां आकर स्वामी जी महाराज से मिले। उनके साथ आप मथुरा, वृन्दावन, बलरामपुर, गुरु-कुल कांगड़ी, ज्वालापुर, देहरादून, दिल्ली आदि कई स्थानों पर उनके हितार्थ गए। २३ नवम्बर को फिर आगरे पहुँचे। जाड़ा भर यहीं रह कर आप अपने आचार्य्य प्रो० सरकार के कुटुम्ब की अनेक प्रकार से सहायता तथा सेवा करते रहे।

तीसरा प्रकरण

प्रारब्ध

१६११ ई० में गरमी के आने पर स्वामीजी पहाड़-यात्रा को चल पड़े। आपका चित्त चाहता था किसी तपोभूमि में रहें, और वहाँ जङ्गली कंद के आश्रित शरीर का निर्वाह स्वतन्त्रता से करते रहें। भिक्षा के निमित्त दूसरों के गड़बड़ अन्न पर निर्भर न रहना पड़े। सकाम दान और अशुद्ध अन्न से आपका निर्मल चित्त बहुत घबराता था। चित्त का प्रसाद पाये बिना हम इस घबराहट को समझने में असमर्थ हैं।

इसी धारणा से महाराजजी कुछ काल देहरादून रहकर शिमला की ओर चले आये। उन दिनों, आपके साथ एक नाथ और एक कोई दूसरा साधु था। उस नाथ ने अपने गुरु के आज्ञानुसार कछ ऐसा साधन किया था कि जिसके कारण उसकी भूख बहुत बढ़ गई थी। स्वामी जी के पास कुछ रुपया भी पड़ा था, आपने उसे इस आशय से साथ ले लिया कि जहां तक होगा कुछ दिन तक तो अपने शुद्ध अन्न पर निर्वाह करेंगे। नाथ को यह लालच था कि आपके रुपये के आधार से खाने-पीने में सुभीता रहेगा।

घूमते-घामते स्वामीजी महाराज जुब्बल रियासत में पहुँचे। वहां ठाकुर-द्वारा में ठहर गये। वहां ही एक कमरे में योगेश्वरजी के भाई पं० रामदत्त जोशी भी ठहरे हुए थे। जब पंडित जी ने स्वामीजी को देखा, तो दंडवत प्रणाम के पश्चात् वे आपको अपने डेरे पर ले गए। उन दिनों वहां वर्तमान राजा साहिब

का विवाह था। खूब चहल-पहल हो रही थी। प्राय: दो सप्ताह तक महाराजजी वहाँ ठहरे रहे। प्रात:काल उठ कर नदी किनारे चले जाते। दोपहर को भोजन करने के लिए आते और दो घंटे ठहर कर फिर बाहर चले जाते थे। सायंकाल को साढ़े सात बजे के पश्चात् लौटते। आप बहुत कम बोला करते थे। यदि कोई प्रश्न किया जाता, तो थोड़ा सा उत्तर देकर फिर चुप हो जाते। सिर में जटायें रहती थीं; शरीर कुछ बलवान था और कुछ विशेष शारीरिक क्रिया नहीं किया करते थे।

एक दिन राज्य के प्रधान मंत्री श्रीयुत् शेरसिंह जी आपसे मिलने आये। वे वेदान्त के बड़े प्रेमी थे। गीता के कर्म-योग के विषय में बातें करते रहे। वे गीता-रहस्य के प्रतिपादित कर्म-योग का समर्थन करते थे परन्तु महाराजजी ने बड़ी सरलता से संन्यास-मार्ग को ही अनुभव अनुसार उत्तम बताया।

भोजन इत्यादि के विषय में दरबार की ओर से प्रार्थना की गई। स्वामीजी ने यह कह कर इन्कार कर दिया, "जहां ठहरा हूँ, वहाँ का भोजन पर्याप्त है।" फिर आपने कहा, "एक दिन, पहले पड़ाव पर, कोट खाई में हमने यह संकल्प किया कि भोजन मांगने नहीं जायेंगे, न किसी को सूचना देंगे। देखें, भोग कैसा है। हमारे साथी तो भिक्षा करने ग्राम में चले गए परन्तु हम एक स्थान पर बैठ गये। कुछ समय बाद एक स्त्री वहां आई और उसने प्रश्न किया, 'बाबा' भोजन किया है या नहीं? हमने कहा कि 'नहीं।' वह एक बरतन में खिचड़ी लाई, आग सुलगाकर पास ही चढ़ा गई। यह तो हमने देखा कि आग शीघ्र बुझ गई परन्तु हमारा विचार कुछ करने को नहीं था। खिचड़ी कच्ची ही रह गई। थोड़ी देर पश्चात् एक पुरुष आया। उसने देखा कि खिचड़ी वैसे की वैसे पड़ी है और आग भी बुझ

चुकी है। वह अपने घर से खिचड़ी बना कर ले आया। पीछे से उस गाँव के रईस को खबर मिल गई, तो भोजन पहुँच जाया करता था।"

जोशी जी और उनके साथी कपड़े खोलकर धुली हुई धोती पहनकर भोजन बनाते और खाते थे। इस पवित्रता को देख कर एक दिन महाराज जी कहने लगे "शरीर मल-मूत्रमय है। यह शुद्ध तो हो नहीं सकता। साबुन से स्नान कर साफ कपड़े पहनो, दो घन्टे के बाद, अन्दर वाले कपड़े को देखो कुछ मैला और कुछ दुर्गन्ध अवश्य मालूम होगी। यदि शरीर शुद्ध होता तो बदबू अथवा यह मैल कहाँ से आ गये। नाक साफ करो थोड़ी देर बाद फिर वही हो जाता है। इसके प्रत्येक छिद्र से मल ही सरता रहता है। जब इस प्रकार सफाई करते करते यह शरीर फिर भी मैला ही दीखता है, तब मनुष्य का चित्त अपने शरीर से उपराम होता है। देह-आसक्ति ही अज्ञान की जड़ है। मनुष्य मिथ्याभास में फँस कर पीतल को सोने के भाव खरीदता रहता है। वास्तविक सुख से कोसों दूर रहता है।"

एक दिन श्री स्वामी जी के किसी अंग में कुछ चोट आगई पूछने पर आपने कहा, 'कुछ दर्द मालूम होता है।' जोशी जी ने एक संशय उपस्थित किया, "महाराज जब सुख-दुख आपके लिये सम है, फिर दर्द कैसे प्रतीत होता है। ऋषिकेप में स्वामी पूर्णाश्रमजी तो ठंढ में बाहर ही पड़े रहा करते थे। एक दिन किसी दुष्ट ने आपका कंधा शस्त्र से काट सा डाला; परन्तु उन्होंने कुछ न कहा और चुपचाप चले गये। इससे प्रतीत होता है उनको कष्ट ही नहीं भासता होगा।" महाराज जी ने उत्तर दिया, "दर्द सबको होता है। हां, सहन-शक्ति अवश्य कही जाती है। उस चोट से ज्ञानी के नित्य नियम भजन आदि में कोई

बाधा न पड़ेगी। एक दिन एक पठान ने किसी बात पर अड़कर यह कहा, 'हमारी अंगुली काट लो, हम जरा भी नहीं घबरायेंगे,' उसने अँगुली सीधी कर दी और दूसरे आदमी ने सचमुच काट ही डाली, पर वह जरा भी न डिगा। यह आत्म-ज्ञान नहीं है सहन-शक्ति है।"

श्री स्वामीजी अपने साथियों समेत जुब्बल से रामपुर बुशहर, कुल्लू और चम्बा में होते हुए त्रिलोकनाथ को चल पड़े। रास्ते में एक स्थान में बड़ी बस्ती मिली। आपके साथी तो आलस्य के कारण भिक्षा करने चले गये, परन्तु आपने दुकान से बर्तन आदि लेकर अपनी ही रोटी बनाई। एक दूसरे यात्री के पास मँडुवा (पहाड़ी अन्न) की रोटी देखकर आपके चित्त में आया कि तजर्बा से देखना चाहिये कि मँडुवे का आहार कैसा होता है। अपनी गेहूँ की रोटी उससे तबदील कर ली। मँडुवे के सेवन से पता चला कि वह बड़ा रेचक होता है। यात्रा चम्बा से चलती है, रियासत की ओर से सब प्रबन्ध होता है, थोड़े दिन आप भी यात्रा के साथ त्रिलोकनाथ पहुँचे।

त्रिलोकनाथजी के मन्दिर के पुजारी लामा लोग हैं, जो तिब्बत से आते हैं। कई तो मांस पकाकर अथवा मांस की रोटियाँ बनवाकर साथ लाये थे। जब उनसे पूछा गया कि "बुद्ध भगवान् तो अहिंसा का उपदेश करते थे, पर आप मांस-भक्षण करते हैं और देवता पर भी मांस ही चढ़ाते हैं, यह कैसी बात है?" तो उनमें से एक ने उत्तर दिया, "तुम हिन्दू लोग भी मांस खाते हो, तुम्हारे शास्त्र में भी तो निषेध है। कोई लोग मांस की बलि भी चढ़ाते हैं। ऐसे ही हमारे यहां भी सब प्रकार के आदमी हैं। बुद्ध भगवान् ने पहाड़ी ठण्डे स्थानों के लिए मरे हुए पशु का मांस खाने की आज्ञा दी थी, पर पीछे से लोग

गड़बड़ी करने लगे । सब तो हम में भी नहीं खाते, पर जो खाते हैं वे चढ़ावा भी इसी का चढ़ा देते हैं।"

जब यात्री लौटने लगे, आपका रुपया चुक गया था। आपके साथियों ने साथ रहने में कुछ लाभ न देखकर अपना-अपना रास्ता लिया । इधर लौटते समय आप थक भी गये थे, कुछ भूख भी तेज लग रही थी । वर्फ के पहाड़ को पार करके एक टीले पर बैठ गये। दोपहर तक देखते रहे, इतने में एक माई आई और कहने लगी, 'भोजन करोगे' ? आपने कहा, 'हाँ, यदि मिल गया तो।' पर जब उसने घर चलने को कहा तो आपने जाने से इनकार कर दिया । फिर वह यह कहकर चली गई कि 'जब मेरा पति खेत से आ जायगा तब भिजवा दूंगी।' इधर शाम होने लगी, तो एक दूसरी माई आई। उससे भी ऐसे ही प्रश्नोत्तर हुए । साथ ही उसने यह भी कहा, 'मैं नीच जाति की हूँ, मेरा भोजन खाने में कोई शंका तो नहीं।' महाराजजी को तो ऐसी नीच-ऊंच की भावना थी ही नहीं, उन्होंने स्वीकार कर लिया। पर वह भी भोजन न भिजवा सकी। इधर रात हो गई, आप वैसे ही वहाँ सो गये। दूसरे दिन इसी प्रकार से प्रातःकाल एक तीसरी माई आई और पूछ-ताछ करके चली गई। दोपहर हो गया, शाम भी होने लगी, पर आप भोग की प्रतीक्षा करते रहे। फिर सायंकाल के समय एक माई भोजन ले आई। भोजन कर चुकने के बाद, बारी-बारी दूसरी और तीसरी भी भोजन ले आई। पर आप तो अब खा ही चुके थे, उनको लौट ही जाना पड़ा। फिर दो-तीन दिन तक वहीं भोजन आता रहा। चौथे दिन एक ग्रामीण आपको अपने घर लिवा ले गया। वहाँ तीन चार रोज ठहरे रहे। जब तक शरीर भी कुछ बलवान हो गया। वह पुरुष बड़ा सरल

और वैराग्यवान् था। उसने महाराजजी से कहा, 'मेरा चित्त घर छोड़कर भाग जाने को करता है।' स्वामी जी ने उसे समझाया कि 'घर में रहना ही अच्छा है। वाहर मारे-मारे भटकने से क्या लाभ है? भिक्षा में बड़ी दीनता करनी पड़ती है। फिर किसी कुसंग में पड़ गये तो मारे जाओगे। आज-कल बहुत से भेप-धारी साधु बहुत चरित्र-हीन होते हैं। कोई विरला ही अच्छा होता है।' फिर आपने कुछ भजन आदि का उपदेश देकर, उसको वहीं रहने में संतुष्ट कर दिया।

वहाँ का देश बहुत ठंडा है। छः मास तो बर्फ ही पड़ी रहती है। वे लोग आग जलाकर अन्दर ही रहते हैं। सब स्त्री-पुरुष सर्दी के मारे इकट्ठे ही सोते हैं। दिन-रात अग्नि जलती रहती है। शीत के कारण नहाना तो कहाँ मुँह तक नहीं धो सकते। खाने-पीने की सामग्री अन्दर रख लेते हैं। बर्फ़ पिघला-पिघलाकर पानी काम में लाते हैं। उनके मकान दो-मन्जिले होते हैं। नीचे पशु बाँधे जाते हैं, ऊपर खुद रहते हैं। वहीं किसी सुराख से शौच आदि से निवृत्त होते रहते हैं। छः महीने तक मल वहीं जमा होता रहता है, पर सर्दी के कारण सड़ता नहीं। कभी-कभी कोई जंगली गाय सर्दी से बचने के लिए उनके मकान के पास आ जाती है, तो वह उसको भी मार-काट कर खाने के काम में ले आते हैं। चाय, सत्तू, मक्खन, रोटी और माठा उनके खाने में बहुत आते हैं। थोड़ा-थोड़ा दूध मटके में इकट्ठा करके रखते हैं। जब वह बहुत दिन में भर जाता है, तो उसमें से मक्खन निकाल लेते हैं। माट्ठा कई दिन तक चलता रहता है। मटका तो कभी साफ़ भी नहीं किया जाता। एक घर में इस प्रकार से सात पुश्त का माट्ठा चला आता था। ऐसे पुराने माट्ठे को वे लोग बुखार आदि के लिए औषध के रूप में प्रयोग करते हैं।

जब सर्दी समाप्त हो जाती है, तो सब लोग बाहर निकलते हैं। मुंह-हाथ धोते ही धुंआ से काले चेहरे फिर चमकने लगते हैं। जौ की खेती होती है। जौ का साग, जौ की दाल और जौ की ही रोटी उनके खाने में आती है। इस प्रकार से छः महीने तक खेती करते रहते हैं। सर्दी आने पर फिर वैसे ही अन्दर बन्द रहना पड़ता है। ऐसे कठिन स्थान में निर्वाह करते हुए भी उनका चित्त संसार से नहीं ऊबता। मोह माया की फांस कितनी प्रबल है।

चौथा प्रकरण

शिष्य-मिलाप

यह सब लीला देखते हुए वहां से कुछ दिन पश्चात् महाराजजी चम्बा पहुँचे। यहां पर ला० सन्तराम तार-बाबू के यहां ठहरने का संयोग हुआ। भक्त रेमलजी के सुयोग्य पुत्र रामचंद्रजी भी छुट्टियों के कारण यहां आए हुए थे। वहाँ पर वे अपने मित्र देवदत्तजी के पास ठहरे हुए थे। देवदत्तजी का घर अमृतसर में था। आपके माता-पिता ने बड़े परिश्रम से आपको पढ़ाया था, और जब वे बी० ए० परीक्षा उत्तीर्ण न हो सके, तो पिता के आज्ञानुसार चम्बा स्टेट में नौकरी कर ली। यह भी विचार था कि स्कूल में पढ़ाते हुए परीक्षा देने का भी सुअवसर मिलेगा। आपको संध्या अथवा भजन का छोटेपन से ही शौक था। अमृतसर के स्वामी लक्ष्मणानन्दजी की विधि-अनुसार कुछ अभ्यास भी किया करते थे। डी० ए० वी० कालेज में पढ़ते हुए भी आप होस्टल की सामूहिक संध्या से अलग एकान्त

में अपना नित्य-नियम पालन किया करते थे । कालिज में पढ़ते हुए आपको कई बार धार्मिक जीवन के लिए कालिज की ओर से पुरस्कार भी मिल चुका था । यहां जब स्वामी सियारामजी महाराज का आगमन सुना तो बड़े उत्साह से अपने मित्र के साथ उनके दर्शनों को गये। कोई तीन-चार दिन ही सत्संग हुआ होगा । उसके बाद रामचंद्रजी तो छुट्टी समाप्त होने के कारण वापस आ गए। देवदत्तजी भी कुछ छुट्टी लेकर अमृतसर चले आए । विचार यह था कि स्वामीजी महाराज जब देश में नीचे आएंगे, तो फिर उनके सत्संग से लाभ उठायेंगे, परन्तु ऐसा नहीं हुआ। महाराजजी को कुछ भगन्दर की शिकायत हो गई थी, उसी की दवाई कराते रहे। हस्पताल में आपरेशन भी कराया, उसको तो कुछ आराम आ गया; परन्तु इस बीच दूसरा फोड़ा निकल पड़ा। इस कष्ट के कारण फरवरी के अन्त तक महाराजजी वहीं ठहरे रहे।

देवदत्तजी फिर शीघ्र लौट आये और महाराजजी के चरणों में उपस्थित होकर सत्संग का लाभ उठाने लगे। गुरुजी ने आपके विचार, वैराग्य और उत्साह को देख कर इन्हें कुछ नये ढंग पर ध्यान में लगाया। वे बड़ी दृढ़ता से अभ्यास करने लगे और कुछ विचित्र अनुभव भी प्राप्त किए। महाराजजी के सर्वोत्तम उपदेशों को वे जन्म-जन्मान्तरों के प्यासे प्राणी की तरह अमृत तुल्य मानकर पान करने लगे, और उन्हें ऐसा अनुभव होने लगा कि अब तक जीवन व्यर्थ ही व्यतीत हो रहा था।

उन्हीं दिनों आपने इसी आशय का एक पत्र अपने मित्र सदानन्द जी को लिखा :—'हम अभी तक भटकते ही रहे। अब पता चला कि जीवन का लक्ष्य क्या है और प्राणी किस प्रकार भव-भय से मुक्त हो सकता है। कल्याण और आनन्द का मार्ग

श्री महाराजजी की कृपा से मालूम पड़ने लगा है'। यह पहली बार थी जब श्री सदानन्दजी को पूज्य स्वामीजी महाराज के सद्गुणों का कुछ बोध हुआ। तब से ही आपने निश्चय कर लिया कि ज्यों ही एम० एस-सी० की परीक्षा से छुट्टी मिलेगी, वैसे ही महापुरुष के दर्शनों से अपने जीवन को कृतार्थ करेंगे।

जब स्वामीजी को बहुत कष्ट रहने लगा, तो आपने योगेश्वरजी को सूचना दी। वही पंजाबी ब्रह्मचारी जो पहले आपके साथ रह चुका था, आपको लेने के लिए आया। महाराजजी फ़रवरी मास के समाप्त होने से पहले ही चम्बा से चल पड़े। डलहौजी तक देवदत्त जी भी साथ आये। उनका विचार था कि देश में चलकर रहने से महाराजजी के सत्संग का अवसर मिलता रहेगा। इस कारण जब छुट्टी न मिली तो नौकरी छोड़ कर ही साथ चल दिए। क्योंकि अभी सर्दी थी, भजन के लिए समय अच्छा था, महाराजजी की आज्ञानुसार वे डलहौजी ही में रह गए।

स्वामी जी कनखल में रह कर योगेश्वर जी का इलाज कराते रहे। पर जब कुछ आराम न हुआ, तो आप जोशीजी के साथ आपरेशन के लिये देहरादून गए। वहां के डाक्टर छुट्टी पर गए हुए थे। आपरेशन का सुप्रबंध न देख कर वहां ही एक होम्योपैथ का इलाज करने लगे। उसने आशा दिलाई थी कि बिना चीरा-फाड़ी के यह फोड़ा ठीक हो सकता है। यहां पर आप अपने पुराने मित्र मास्टर गौरीशंकरजी के यहाँ रहने लगे। थोड़े दिन के बाद फिर कनखल चले आये और उसी दवाई का प्रयोग करते रहे। यहाँ पर ही पहले-पहल १९१२ के मई मास में ला० सदानन्दजी इम्तिहान से मुक्त होकर श्री-दर्शनों को आए। दो-तीन दिन

सत्संग करके वापस चले गये। इन्हीं की सूचना अथवा प्रेरणा से, सरदार जैसासिंहजी और मास्टर गोपाल जी भी महाराजजी के दर्शनों के लिए मुल्तान से यहाँ पहुँचे। वे भी कुछ दिन सत्संग करते रहे, फिर भजन-उपदेश लेकर वापस चले गये।

जब बहुत दिन तक कुछ आराम न हुआ, तो महाराजजी फिर देहरादून पहुँचे। अबकी बार आपके पुराने सहपाठी डाक्टर रामचन्द्रजी छः मास की छुट्टी लेकर वहां आए हुए थे। अगस्त में वे स्वामीजी से मिले। डाक्टर जी ने आपको हस्पताल में दाखिल कराकर अपने हाथ से फोड़े का आपरेशन भी किया। यहाँ कुछ दिन बाद डाक्टरजी की स्त्री का देहान्त होगया। छुट्टी समाप्त होने के कारण उनकी तबदीली प्रतापगढ़ को हो गई। वे जाते समय महाराजजी से कह गए, 'आप यहां से छुटकारा पाकर कुछ दिन के लिए मेरे यहाँ आकर ठहरिए। आपकी औषधि भी करता रहूँगा और आपके सत्संग से अपने हृदय की उदासी को भी दूर कर पाऊँगा।' स्वामीजी महाराज कुछ दिन तक बाबू गौरीशंकरजी के घर में ठहरे रहे। बहुत दिन के पश्चात् गृहस्थ में ठहरने का अवसर मिला था। स्त्रियों से चित्त बहुत घबराता था। पर यहां दूसरा उपाय न देख अपने कष्ट के कारण ठहरना ही पड़ा। मास्टर जी की स्त्री और उनके बच्चे आपकी अनेक प्रकार से सेवा करते रहे। यहाँ पर रहते हुए आपको अपने मनको जाँचने का अवसर मिल गया। पता चला कि घबराना वृथा था, चित्त में स्त्री-पुरुष एक समान ही जँचते हैं। इस बीमारी में आप बहुत कष्ट सहते रहे। परन्तु आपका चित्त दुःखको अनुभव करते हुए भी कभी विचलित नहीं हुआ। इस कष्ट से भी आपको यही शिक्षा मिलती रही कि संसार दुःखरूप अथवा निरर्थक है।

थोड़े दिन पश्चात्, आप बिलकुल अच्छे हो गये, और देहरादून से रवाना हो कर नवम्बर मास के अन्त में प्रतापगढ़ पहुँच गए। आप प्रतापगढ़ में २० जनवरी १९१३ ई० तक रहे और डाक्टर साहिब को बहुत प्रकार से समझाते रहे। डाक्टर साहिब का ख्याल था कि स्वामीजी कोई ग्रन्थ तो जानते नहीं, संस्कृत का अभ्यास नहीं किया, फिर इन्होंने शास्त्र कैसे पढ़े होंगे और मुझे क्या समझाएंगे। पर जब स्वामी जी समझाने बैठे, तो ऐसा मालूम हुआ कि वे कोई बड़े अनुभवी पुरुष हैं। हर प्रश्न का उत्तर बड़ी शीघ्रता से दैनिक जीवन के दृष्टांतों सहित समझाते थे। आपकी समझाने की शैली बड़ी सरस, सरल और मधुर होती थी। विचित्रता यह थी कि बड़ी गूढ़ बात भी शीघ्रता से समझ में आने लगती। डाक्टर साहिब के छोटे बालक आप से कभी-कभी जामेटरी के प्रश्न पूछा करते, तो उनको भी आप ऐसे तरीके से समझाते कि झट समझ में आ जाते। महाराजजी की बुद्धि की विलक्षणता और मन की एकाग्रता इसी में थी कि सूक्ष्म से सूक्ष्म परमार्थ विषय और मोक्ष मार्ग के सम्बन्ध में भी वैसी ही सुगमता और सरलता से उपदेश दिया करते थे जैसी कि अन्य विषयों के समझाने में। पूछनेवाले चाहे युवा, वृद्ध अथवा बालक हो, उसकी बुद्धि के अनुसार ही विषय को स्पष्ट करने में सफल हो जाया करते थे।

पाँचवाँ प्रकरण

मुमुक्षु-परीक्षा

देवदत्तजी की तीव्र इच्छा थी कि नीचे चलकर स्वामीजी के सत्संग से लाभ उठायें। डलहोजी से उतर कर, कुछ दिन तो अमृतसर में रह कर बीमा कम्पनी की एजेन्सी का काम करते रहे। फिर लाहौर में ट्रेनिंग कालिज की एस० ए० वी० क्लास में दाखिल हो गए; पर वहां का बनावटी जीवन आपको असह्य हो गया। साथ ही जब यह पता चला कि उनके पिता सहपाठियों को यह कह गए हैं, 'मेरे पुत्र को संध्या बहुत न करने दिया करो, उसमें विघ्न डाला करो कि जिससे वह ऐसी बातें छोड़ कर पूरा संसारी बन जाए' तो वह बड़े घबराए। विवाह करने का विचार तो पहले ही नहीं था। इच्छा यही थी कि माता-पिता की सेवा करते हुए अपने कल्याण में लगे रहेंगे। इसी कारण स्वतंत्र जीविका की खोज में सब कुछ कर रहे थे। पर ऐसी अवस्था को देख कर वे कालिज छोड़ने में ही अपना लाभ समझने लगे। कालिज छोड़ने के पश्चात् कुछ समय इधर-उधर रह कर भजन में लगे रहे। फिर जब १९१३ के आरम्भ में श्री स्वामीजी महाराज झूंसी पहुँचे, तो आप भी अपने दयालु गुरुदेव के चरणों में उपस्थित हुए। महाराजजी भी इतनी छोटी आयु में ऐसी लगन देखकर बड़े प्रसन्न थे।

झूंसी में रहते हुए सर्दी सहने का तजर्बा करते रहे। शरीर को कष्ट में डालने और तप से पीड़ित करने में तो आपको विशेष आनन्द आता था। रात को बिना वस्त्र ही रेत में सो

जाते और जब सर्दी तेज़ प्रतीत होती, तो कुछ रेत खोद कर अपने शरीर को उसमें दबा दिया करते। इस प्रकार वहां कई दिन तप अर्थात् साधु-संगति में रहते रहे। फिर यहाँ से आप दोनों वृन्दावन पहुँचे। स्वामीजी अपने मित्र अयोध्याप्रसाद जी के यहाँ ठहरे, देवदत्तजी को लाड़ली कुंज में ठहरा दिया। आप बड़े प्रेम और उदार भाव से ऐसे सुयोग्य और सुपात्र जिज्ञासु के लिए भरसक यत्न करने लगे। रात को यमुना की रेती में जाकर सोया करते। देवदत्तजी को भय प्रतीत होता था, पर आपने उनको दियासलाई का सहारा दे दिया और कह दिया कि जब कोई भय का कारण प्रतीत हो, तो रोशनी करके देख लिया करो। इस तरह आप उनको निर्भय प्राप्ति के उपाय कराने लगे। भजन में तो अवस्था कुछ अच्छी थी, पर वैराग्य को दृढ़ करना था। इसी कारण अनेक उपदेशों से आप उनकी सहायता करते थे।

शरीर कमज़ोर होने के कारण अथवा झूंसी में सर्दी को सहने के तप से आपको यहां पर बड़े ज़ोर का दमा होने लगा। उधर कुछ काल से क्रियाएं भी सब छोड़ रक्खी थीं। कोई दूसरा उपाय न देख 'धौती' का सहारा लिया। तत्काल ही कुछ आराम प्रतीत हुआ। तबसे आपने यह निश्चय कर लिया कि जब तक शरीर का झगड़ा है, जहां इसके कारण और अनेक बन्धन सहने पड़ते हैं वहां इसको शुद्ध भी करते रहना चाहिए, और भीतरी और बाहरी शौच से जो कुछ चित्त की निर्मलता अथवा अभ्यास का आनन्द मिलता है, लेते रहना चाहिए। इस नियम को आप फिर जीवन पर्यन्त पालते रहे।

कुछ दिन बाद देवदत्तजी के पिता भी उनको ढूंढ़ते हुए वहां पहुँच गए और उनको घर लौट चलने के लिए आग्रह

करने लगे। स्वामीजी महाराज जहां वैराग्य का उपदेश देते थे वहाँ मुमुक्षु की कठिन परीक्षा भी करते कराते थे। गुरुजी को भी यही आज्ञा हुई कि माता-पिता की सेवा करना आवश्यक है। उनके आज्ञा-पालन करने से ही मनुष्य का कल्याण होता है। 'घर में ही रहकर अपना भजन-साधन करते रहो'। देवदत्तजी भी अपने पिता से यह वचन लेकर घर जाने को राज़ी हुए कि 'मुझे खाने-पीने में अथवा रहन-सहन में पूरी स्वतन्त्रता होगी। जैसा काम मैं करना पसंद करूंगा वैसा ही किया करूंगा।'

घर जाकर उनको पता चला कि उनके पिता एक वड़े धनाढय की लड़की के साथ उनकी सगाई करने वाले हैं, जिसके यहाँ उनको घर-जमाता वनाया जाएगा और सम्पत्ति भी मिल जाएगी; पर वे तो किसी दूसरी ओर अपना जीवन अर्पण कर चुके थे। माता-पिता के यह संसारी भाव उनको कव पसन्द आते? थोड़े दिन पश्चात् फिर घर से भाग खड़े हुए। तव आपने यह विचार किया कि यदि संन्यास ग्रहण कर लिया जाए, तो शायद माता-पिता निराश होकर पीछा छोड़ देंगे। गुरुजी तो कपड़ा रंगवा देनेवाले नहीं थे, अपने आपही गोरख-नाथजी को गुरु मानकर कपड़ा पहिन लिया, और नाम भी 'सत्यानन्द' रख लिया। इस वात की सूचना महाराजजी को दे दी। महाराजजी भी पत्र देख कर ताड़ गए कि वैराग्य की तीव्रता अथवा पिता के मोह से छुटकारा पाने के कारण इतनी भी प्रतीक्षा नहीं कर सके कि किसी महात्मा से विधि अनुसार संन्यास धारण करें।

छठा प्रकरण

तपस्या

श्रीस्वामीजी महाराज कनखल से होते हुए आबू पहुँचे। सत्यानन्दजी भी शीघ्र यहां आगए।

यहां पर पहले तो महाराजजी के साथ डलवाड़ा ग्राम में, एक जैन-मन्दिर के पास कुँवारी कन्या के मन्दिर में रहे। बाद में स्वामीजी महाराज बस्ती से दूर, जंगल में, एक 'मौनी' नाम की गुफा में जाकर रहने लगे, पास ही स्वामी सत्यानन्दजी भी ठहराए गए। स्वामी परमानन्दजी भारती भिक्षुक भी, यहां रहा करते थे। इन्हीं से पं० किशनचन्द जी को, जो उस समय हस्पताल में कम्पाउन्डर का काम करते थे, यह पता चला था कि कोई दो 'एम० ए०' अथवा 'बी० ए०' साधु वहां रहते हैं।

पं० किशनचंदजी को साधुओं से मिलने का बड़ा शौक़ था। आप महाराज जी के दर्शनों को आने-जाने लगे। श्रीस्वामीजी के सत्संग से लाभ उठाने के लिए इनमें पर्य्याप्त गुण थे। उन दिनों महाराजजी का भोजन भी गुफ़ा पर पहुँचाया जाता था। महाराजजी की सेवा का कार्य्य पं० किशनचंदजी और रामचरणजी वैश्य पूरा किया करते थे। यदि कुछ धन और अन्न आदि कोई राजे अथवा धनी लोग भेजते, तो यह सब इन्हीं के पास भेज दिया जाता कि जिससे वह धन किसी दूसरे साधु की सहायता में व्यय कर दिया जाए। पंडितजी अनेक बार महाराजजी के दर्शनों को जाया करते थे। यद्यपि गुफ़ा बस्ती से

डेढ़ मील की दूरी पर थी, फिर भी ज्ञान के पिपासु पहुँच ही जाते। अनेक वकील और बाबू महाराजजी के पास आने जाने लगे।

थोड़े दिन बाद स्वामी सत्यानन्दजी के पैर में कोई फोड़ा हो गया। फोड़ा पक गया, तब स्वामीजी उनको शफ़ाख़ाना में ले आये। अबतो पंडितजी को महराजजी के संग में रहने का अधिक अवसर मिला करता। बहुत वार्त्तालाप होता था। पंडित जी की भक्ति को देख कर स्वामीजी महाराज आप पर बड़ी कृपा करते थे।

स्वामी सत्यानन्दजी ने आबू से अपने एक मित्र को चिट्ठी लिखी थी। वह चिट्ठी उसने उनके पिता को दिखा दी। उनके पिता इन्हें तलाश करते हुए यहाँ पहुँचे। पहले तो आप गुफ़ा पर गए, और फिर वहाँ से पता पाकर हस्पताल में पहुँचे। यहाँ पर उनको घर चलने के लिए बहुत आग्रह करने लगे। पर सत्यानन्दजी तो घर का मोह छोड़ चुके थे। पिता की संसारी भावना भी देख चुके थे। माता की सरलता और उसके क्लेश को समझते हुए भी उन्होंने यह विचार न किया कि इस रोग की अवस्था में तो घर चले जायें। दुख के समय में मनुष्य का हृदय कोमल हो जाता है। यदि मोह का कोई संस्कार हो भी, तो ऐसे समय में उसे अपनी मर्मभेदी चोट लगाने का अपूर्व अवसर प्राप्त होता है। पर सत्यानन्दजी का मन विचलित न हुआ। जब वह पिता जी के आग्रह से बहुत दिक़ आगए, तो मौन साध लिया। चौबीस घन्टे तक बोले ही नहीं। तब वह गुरूजी के पास जाकर निवेदन करने लगे, और सत्यानन्दजी को माता के हृदय की दु:खित गाथा सुनाई कि वह विचारी दिन-रात रोती रहती है। स्वामीजी महाराजको जहाँ ज्ञान और वैराग्य के सूने वन में रहने

का स्वभाव था, वहाँ किसी की आर्त्त अवस्था को सुनकर उनके हृदय में करुणा का सागर उमड़ पड़ता था। दुःखित देवी को सान्त्वना देने के लिए शिष्य को आज्ञा हुई कि वह घर चले जायें। आराम होने पर एक माह पश्चात् वे अमृतसर को चले गये। जाते समय महाराजजी ने यह चितावनी दे दी "केवल कपड़ा रंग लेने से ही वैराग्य सिद्ध नहीं होता, परन्तु मोह की चोटें खाकर भी धैर्य्य रखना एक मात्र उपाय है।"

स्वामीजी महाराज फिर गुफा पर जाकर रहने लगे। इस प्रकार जब बहुत दिन तक पं० किशनचन्द्जी आपकी शरण में आते रहे, और सत्संग से लाभ उठाते हुए उनका चित्त और भी अधिक पवित्र होने लगा, तो एक दिन अक्तूबर के महीने में गुरुवर ने बड़ी उदारता से पंडितजी को प्रभु-भजन का उपदेश दिया। वे प्रति दिन सायंकाल गुफा पर आते और फिर रात को अकेले ही जंगल में से होकर वापस जाया करते थे।

उन्हीं दिनों में एक महाशय ज्वालापुर से आए। वह भी महाराजजी के पास ही स्वामी परमानंदजी की गुफा में ठहराए गए थे। उनको केवल दूध और घी का आहार मिला करता था। थोड़ा समय वे महाराजजी के पास रहते थे, शेष समय गुफा में ही बंद रहकर भजन करते रहते थे। जब उनका चित्त इस आहार से बहुत घबराने लगा, तो उनको कुछ दाल-चावल का भोजन मिलने लगा। उसके हित को लक्ष्य में रखते हुए स्वामीजी महाराज स्वयं भोजन बनाते और उसको भी खिलाते। उसकी अवस्था के कारण, उसको अग्नि तक न छूने दिया करते। जब सर्दी आने लगी, तब पंडितजी के अनुरोध पर स्वामीजी ने अपना स्थान और नजदीक कर लिया। आबू में ही, खेतरी दरबार की कोठी में रहने लगे। छः महीने तक पंडितजी को

सत्संग का सुअवसर प्राप्त हो गया, जिससे उनको भजन-ध्यान में कुछ अच्छी अवस्था प्राप्त होने लगी। पंडितजी उस कृपा और दया के लिए महाराजजी के कितने कृतज्ञ हैं यह उनका हृदय ही जानता है।

यहां रहते हुए श्री स्वामीजी महाराज ने एक-दो महीना शहद, घी और जल पर निर्वाह किया। शरीर को तो आप भाड़े का टट्टू माना करते थे। आपका यह विचार रहता था, कि वैसे तो शरीर की देख-भाल करना एक बेगार ही है, पर जब तक प्रभु इससे पीछा नहीं छुड़ाते, तब तक जितना कुछ इसकी सेवा करते हैं अथवा इसके कारण जितनी दीनता और कष्ट सहना पड़ता है, उतना ही मोक्ष साधन में इससे काम ले लेना चाहिए। यह विचार तो आता ही नहीं था, कि इसको मोटा व हृष्ट-पुष्ट रखने से कुछ लाभ है। देह-अध्यास तो मिट ही चुका था। यही दृष्टि रहती कि कभी तप से क्षीण करके, कभी कुछ खिला-पिला करके, जैसे हो इससे काम लेते रहना चाहिए और इससे काम लेने में आप सर्वदा बड़ी कठोरता दरसाते रहे।

सातवां प्रकरण

शिष्य-शासन

इसके बाद श्री स्वामीजी महाराज १६१४ के आरम्भ में अजमेर आये। यहां दो मास के लगभग होली तक पं० वंशीधरजी वकील, प्रधान आर्य्य समाज, के पास ठहरे रहे। अपने सत्संग से उनको और अन्य अनेक सज्जनों को अनुगृहीत करते रहे। सरदार जेसासिंहजी, जो पहले १६१२ में महाराजजी के दर्शन

कनखल में कर चुके थे, अब फिर मुलतान से आपके सत्संग के लिए आये। आपके साथ ला० नारायणदासजी ने भी पहली बार श्रीचरणों में बैठकर सत्संग से अपने आपको उन्नत किया। यह लोग एक महीना भर यहाँ ठहरे रहे, पर स्वामीजी के आबू से देर करके आने के कारण थोड़े दिन ही सत्संग से लाभ उठा सके।

स्वामी सत्यानंदजी कुछ काल अमृतसर रह आये। वहाँ जाने से पहले आपने अपने पिता से यह वचन ले लिया था कि 'मेरे रहन-सहन और नित्य-नियम में कोई बाधा नहीं डाली जायेगी।' कुछ काल तो वहाँ अच्छी तरह बीत गया। पर पीछे से विघ्न खड़े होने लगे। स्वामी सत्यानंदजी, बाजार में, एक चौवारे में ठहराए गए थे। एक सच्चे साधु की तरह, आपने आस-पास के घरों से भिक्षा मांगकर खाना आरम्भ किया। उनके पिता तो अभी तक उनको फिरसे संसारी बनाने की इच्छा लगाए हुए थे। वे इस पर आपत्ति करने लगे। पिता को संतुष्ट करने के लिए आप एक मित्र के यहाँ से भोजन मँगाकर खाने लगे। उनकी माता भी उनसे मिलने आया करती थीं। यह उसको समझाते कि देखो "जब कोई दूसरा साधु तुम्हारे घर पर आता है, तो तुम बड़ी श्रद्धा-भक्ति से उसको भिक्षा देती हो। यदि साधु बनना बुरा काम हो, तो फिर दूसरे साधुओं के प्रति ऐसा आदर क्यों प्रकट करती हो? इसलिए तुमको मेरे साधु होने पर बुरा नहीं लगना चाहिए।" माता भी, इन सब बातों को भली-भाँति समझती थी। वह कहती, 'मैं यह सब जानती हूँ कि मोह छोड़कर ईश्वर-भजन में लगे रहना बड़ी अच्छी बात है। मैं अपने आपको धन्य समझती हूँ कि तेरे जैसा साधु पुत्र मुझे मिला है; परन्तु मोह के कारण चित्त कभी-कभी दुःखित

हो जाता है। मैं तो यही चाहती हूँ कि तुम जहां रहो, प्रसन्न रहो, प्रभु का आशीर्वाद तुम्हें मिला ही है, और मैं तुमको क्या दे सकती हूँ, पर यह इच्छा रहती है कि कभी कभी मुझे दर्शन दे जाया करो।'

उनके पिता इतने में संतुष्ट न हुए। वे अभी आशा लगाए बैठे थे। कुछ पठान, वहीं उनकी जानकारी में काम किया करते थे। उनको, उन्होंने, इस बात पर तैयार किया कि वह उनके पुत्र को मार-पीट कर ठीक कर दें। सत्यानन्द जी को उनकी मार पीट सहनी पड़ी, पर वे घबराये नहीं। जो कुछ कष्ट हुआ, उन्होंने हँसते-हँसते सह लिया। पश्चात् जब उन पठानों को पता चला कि यह विचारे तो 'अल्लाह की बंदगी' में लगे हुए हैं, जिस नेक राह से उनके पिता उनको हटाना चाहते हैं तो वे बड़े शरमिन्दा हुए और पछताने लगे। उनके पिता से भी बहुत बिगड़े। आपकी माता विचारी तो इससे बड़ी दुःखित हुईं। उसका प्रेम तो अधिक निष्काम और उज्ज्वल था। वह तो यह चाहती थीं कि पुत्र के कभी-कभी दर्शन होते रहें, और उसका मंगल समाचार भी मिलता रहे। सत्यानंदजी भी जीवन पर्यन्त माता के व्यवहार से बड़े प्रसन्न रहे, और कभी-कभी अवसर-अनुकूल माता से मिलते रहे। अमृतसर से चले जाने के बाद आप मुलतान पधारे। कुछ दिन मुलतान रेवाड़ी आदि स्थानों में रह कर होली के पश्चात् गुरूजी के साथ वृन्दावन पहुँच गये।

स्वामीजी अपने शिष्य समेत १५ मार्च को मथुरा जंकशन पर अयोध्याप्रसाद फाटकवाला जी से मिले, जब कि वे आगरा से लौट रहे थे। दो मास के लगभग आप उनके यहां ठहरे रहे। अयोध्याप्रसादजी को श्री मौनी बाबा और लाडलीदासजी के पास दर्शनों को ले गये। संन्यासी होते हुए भी, आपकी

गुण-ग्राहक वृत्ति और साधुओं के प्रति श्रद्धा सदैव बनी रही। अपने गुणों को तो आप हमेशा छिपाते ही थे। पर जहां जाते वहां सब महात्माओं के दर्शनों के अर्थ जरूर जाते, और अपने शिष्यों को भी साथ ले जाते। आपका यह उपदेश रहा करता था कि "सब संतों के दर्शन करने चाहिये। पता नहीं, किसके प्रसाद से संसार के दुखों का निपटारा हो जाय, अथवा किस महात्माकी बात से हमारे हृदय की ग्रन्थि कट जाय।"

गणित तथा साइन्स को पढ़ना बहुत काल से छोड़ रखा था फिर भी योगस्थ बुद्धि के सहारे दूसरे के हितार्थ शिक्षा देने में बड़े निपुण थे। इन्हीं दिनों आप अयोध्याप्रसादजी के पुत्र को गणित व साइन्स पढ़ाते रहे। उसका विचार था कि अमेरिका जाकर इन्जीनीरिंग के विषय में शिक्षा प्राप्त करे। महाराजजी ने उसको एक साल की पढ़ाई छः सप्ताह में ऐसी रीति से समझा दी कि वह अपनी परीक्षा में मान सहित उत्तीर्ण हो गया। और पीछे इस पढ़ाई के आधार से ही उसने शिकागो की लुईस इन्स्टीचूट की एम० ई० और बी० एस० सी० डिगरी सवा दो साल में प्राप्त करली, जो कि अभी तक किसी हिन्दुस्तानी विद्यार्थी ने ऐसी सुगमता से नहीं प्राप्त की थी।

रात्रि को स्वामीजी महाराज यथापूर्व यमुना की रेती में रहा करते थे। प्रातःकाल का समय भी उधर ही व्यतीत होता था फिर खाना खाने के बाद शीघ्रही यमुना के किनारे चले जाया करते। एक बार एक सांप आपकी गरदन के इरद-गिरद लिपट गया। जब आप ध्यान से उठे और शरीर को हिलाया डुलाया, तो वह चुपके से चला गया।

महाराजजी सत्यानन्दजी के भोजन की विशेष चिन्ता किया करते थे। उनका भोजन बड़ा सादा कर रक्खा था। दलिया,

मूंग की दाल और कुछ घी-दूध के सिवाय और कुछ नहीं दिया जाता था। नमक भी बंद था। अप्रैल और मई के गरम दिनों में एक महीने से अधिक उनको पानी भी न दिया गया; परन्तु फिर भी वह बड़े शान्त और प्रसन्न रहा करते थे। अविवाहित होने के कारण उनका चित्त स्त्रियों से बहुत घबराता था; परन्तु महाराजजी की यह इच्छा थी कि उनके हृदय में शरीर-रचना का यथार्थ ज्ञान इतना गड़ जाय कि महात्मा शुकदेव की तरह उनको स्त्री-पुरुष में कोई मन को विचलित करनेवाला भेद न प्रतीत हो। हाड़-मांस के शरीर पर दृष्टि तथा भाव को दृढ़ करने से भाव शुद्ध तथा सरल हो सकते हैं। इस साधना से धीरे धीरे सत्यानन्दजी की भी सहनशक्ति बढ़ने लगी। और वह भी अपने व्यवहार में इस बात को अनुभव करने लगे कि स्त्री-पुरुष का शरीर तो एक जैसा है; फिर चित्त को चलायमान होने का कोई कारण नहीं प्रतीत होता। इस प्रकार शिष्य को भी अपने चित्त को सावधान अथवा पवित्र करने का अपूर्व अवसर मिला, जिससे उसने पूरा लाभ प्राप्त किया।

यहां से, १६ मई को, स्वामीजी सत्यानन्द जी के साथ चुप-चाप चल दिए। अयोध्याप्रसादजी को जाने की कोई सूचना न दी गई। जब उनको यमुना के तट पर महाराजजी का कमंडल और आसन न मिला, तो उन्होंने निश्चय कर लिया कि वे चले गए होंगे। सच है—

"योगी किसके पाहुने, राजा किसके मीत।"

एक सच्चे निस्पृही संन्यासी की तरह महाराजजी सदैव आने-जाने के समय और तिथि का बड़ी स्वतन्त्रता से निश्चय किया करते थे। जब किसी के यहाँ रहते अथवा किसी से वार्त्ता-लाप करते, उसके कल्याणार्थ उसको उपदेश देते, तो यही प्रतीत

होता था कि आप उसके बड़े स्नेही हैं। कभी-कभी तो उसकी हित-साधना में लगे हुए इतना कष्ट और निन्दा भी सहते कि जिससे यह जान पड़े कि आप उसके मोह में फँसे हुए हैं। परन्तु यह सब होते हुए भी आपके चित्त-पटल में किसी के मोह की तनिक भी रेखा नहीं जम सकी। अपने मित्रों और सत्संगियों पर सब प्रकार से दया करते हुए अथवा उनकी छोटी-छोटी व्यवहार सम्बन्धी बातों में छान-बीन करते हुए भी, उनके कल्याण-निमित्त उनको सब प्रकार से आहार-व्यवहार शुद्ध करने का उपदेश देते अथवा उसकी जांच रखते हुए भी, आप जल में कमलवत् हमेशा बे-लाग रहे। ऐसी ही अनेक बातों को देखकर विचारशील सेवकों के हृदय में यही भाव पैदा होता कि आप कितनी बड़ी उच्च स्थिति में विचर रहे हैं।

यहाँ से महाराजजी फिर आबू पधारे। गरमी के दिन वहीं उसी गुफ़ा में ही ठहरे। यहाँ रहते-रहते सत्यानन्द जी भी निर्भय अवस्था के आनन्द का अनुभव करने लगे थे। महाराजजी का भोजन वहाँ ही गुफ़ा में सत्यानन्द जी बनाया करते थे। कुछ दिनों के लिए फाटकवाला जी भी यहाँ आकर रहे। एक दिन जब वह और सत्यानन्दजी जंगल से लकड़ी और कंडे लेकर आए, तो रास्ते में गाय की एक बछिया थोड़ी देर की मरी हुइ देखी। गुफ़ा भी पास ही थी। फाटकवालाजी को जंगलों का कुछ ज्ञान था। शेर के पंजे भी लगे हुए देखे। इस बात को उन्होंने सत्यानन्दजी पर प्रकट किया कि शेर अभी इस गाय को मार कर गया है और आस पास ही कहीं छिपा होगा। हमारे आजाने के कारण ही वह यहाँ से हट गया है। इस बात को सुनकर वह तनिक भी न घबराए। बल्कि सावधानी से कहने लगे, " मैंने कई बार चाँदनी रात में अपनी गुफ़ा के सामने से

रीछ, चीते और शेर जाते देखे हैं, पर सत्गुरुदेव के असीम अनु-ग्रह से ऐसे हिंसक जन्तुओं को देख कर मेरे हृदय में कोई भय के विशेष संस्कार उदय नहीं होते।" दो साल के थोड़े से समय में सत्यानन्दजी बहुत ही अच्छी अवस्था प्राप्त कर गए थे। उनका ओजस्वी मस्तक और शांत मूर्ति मन को मोह लेती थी। उनका स्वभाव बड़ा कोमल और दिन प्रति दिन विनीत होता चला जाता था। मधुर भाषी तो वे थे ही, मंद मंद हँसी उनके चेहरे पर सदैव रहा करती थी। यह सब लक्षण उस परिवर्तन को दरशा रहे थे जो एक महापुरुष की संगति और उपदेश से उनके भीतर बड़ी तेज़ीसे होता चला जारहा था। भक्तिकी तो वे मूर्ति ही बन गए थे

पं० किशनचन्द को भी फिर सेवा तथा सत्संग का शुभ अवसर मिला और उन्होंने अपने अधिकार अनुसार उससे पूरा लाभ उठाया। जंगल में दर्शनोंको आतेजाते वह भी कुछ निर्भय होने लगे।

आठवां प्रकरण

मनो-निग्रह

गिरनार जाते हुए, काठियावाड़ की बरसोड़ा रियासत के राजा, महाराजजी से मिले थे। उनके अच्छे स्वभाव और शुभ वासनाओं से प्रेरित होकर दयालु स्वामीजी महाराज ने बरसोड़ा में रह कर उनको पढ़ाना अथवा उपदेश करना स्वीकार कर लिया था। इसी प्रेरणाको लेकर आप अक्तूबरमें बरसोड़ाराज्य पहुँच गए।

पं० वंशीधरजी, जो पिछले साल भी आपके दर्शन और सत्संग से लाभ उठा चुके थे, इस बात के बड़े इच्छुक थे कि किसी सुअवसर को प्राप्त करके श्री सद्गुरुदेव जी के चरणों में रह कर भजन करें। और श्री महाराजजी की पवित्र सत्संगति से

अपने मन की मलीनता को धोवें। इसीलिए वे श्री महाराजजी से पत्र-द्वारा आज्ञा तथा सुअवसर प्राप्त करने का यत्न कर रहे थे।

अजमेर में ही एक दूसरे जिज्ञासु पथ-प्रदर्शक की खोज में भटकते फिरते थे। ब्रह्मचारी सत्यव्रत जी अजमेर अनाथालय में काम करते थे। सन्मार्ग में चलने के लिए आपकी बड़ी तीव्र इच्छा थी। १९१३ के अन्त ही में उनके परम हितैषी पं० नाथूमल जी तिवारी ने सूचना दी कि "श्री ब्रह्मचारी पं० केशवदासजी अजमेर में पधारे हैं, उनकी सत्संगति से जैसा कुछ हो लाभ उठा लो।" ब्रह्मचारी सत्यव्रतजी उनके समीप पहुँचे। कुछ परीक्षाओं के उपरान्त उक्त ब्रह्मचारीजी से सत्यव्रतजी को भजन उपदेश मिला; परन्तु वे उनसे ऐसे अन्य नियम-उपनियम नहीं जान सके कि जिनका पालन करना भजनानंदी के लिए अति आवश्यक है। इनसे ही सत्यव्रतजी को श्रीस्वामीजी महाराज के सम्बन्ध में कुछ समाचार ज्ञात हुआ था। यह तो क्षुधा-आर्त्त की तरह अभ्यास में जुट गए। कुछ दिन पश्चात्, ब्रह्मचारी केशवदास जी तो चले गए, पर यह अपनी धुन में लगे रहे। गरमी का मौसम आने के कारण कष्ट होने लगा। लाचार वे अपने परम हितेच्छु पं० वंशीधरजी के पास पहुँचे और अपना सब हाल कह सुनाया। उनके दुःख को सुन कर पंडित जी ने धीरज दिया और कहा, "मैं भी इसी मार्ग का अनुगामी हूँ। मेरे गुरु श्रीस्वामी सियारामजी हैं और उन्हीं की कृपा का मैं पात्र हूँ। मैंने उनको पत्र लिखा है, जब आज्ञा मिल जायगी तो मैं उनके पास रह कर कुछ दिन तृप्त हृदय को शान्त करूंगा। आप भी उनको पत्र लिख दें। फिर जैसी आज्ञा मिलेगी वैसा करेंगे। आशा है कि महाराजजी अवश्य ही कृपा करेंगे। इस बीच में भजन का अधिक अभ्यास बन्द कर देना चाहिए। गरमी के

कारण भय है कि कोई भयंकर रोग न हो जाय '।

पंडित जी के कथनानुसार सत्यव्रत जी ने भी पत्र श्री सेवा में भेज दिया। उत्तर मिला, "अभी उचित स्थान और समय नहीं है। जब मौक़ा होगा हम पंडित बंशीधरजी को सूचना देंगे, आप भी उनके साथ चले आना।" ब्रह्मचारीजी उस दिन की उत्कंठा-पूर्वक प्रतीक्षा करते रहे। पंडित बंशीधरजी को यथा समय सूचना मिली। वह सत्यव्रतजी को पता देकर चले गए। इधर यह तो पहले ही वेचैन हो रहे थे, शीघ्रही १ नवम्बर १९१४ ई० को अजमेर से रवाना हो पड़े और दूसरी को बरसोड़ा रियासत काठियावाड़ गुजरात में पहुँचे। यह स्थान रेलवे स्टेशन से काफ़ी दूरी पर है। बरसोड़ा के समीप एक फ़ौजी पड़ाव था। उसमें बरसोड़ा नरेश की ओर से डेरों का प्रबन्ध था। महाराजजी एक डेरे में थे, और दूसरे में स्वामी सत्यानन्दजी ठहराए गए थे। तीसरे में पं० बंशीधरजी ठहरे। सत्यव्रतजी को भी एक छोलदारी मिल गई।

स्वामी सोमतीर्थजी (सत्यव्रतजी) लिखते हैं, ' यह दिन मेरे जीवन के सुधार का ऐतिहासिक दिन है।। वर्षों के भटकने के पीछे चित्त को सहारा मिला। ऐसी दशा में चित्त में क्या-क्या भाव, कौन-कौन मौजें उठीं, कैसा आनन्द प्राप्त हुआ, लेखनी लिख नहीं सकती। ' .

स्वामी जी महाराज की दिनचर्य्या बड़ी क्रमबद्ध थी। प्रातः काल उठ कर शौच आदि से निवृत्त होकर ध्यान में रहते थे। ग्यारह बजे के लगभग भोजन करते। भोजन बड़ा सादा रहता, मूंग की दाल, शाक, चावल, रोटी। थोड़ा विश्राम लेकर पास ठहरे हुए सत्संगियों से, अथवा यदि कोई दूसरा आ जाता, तो उससे वार्तालाप करते, उपदेश देते अथवा संशय निवारण करते। बरसोड़ा-नरेश के स्थान पर अढ़ाई बजे के क़रीब जाते। वहाँ

उनको मनुस्मृति पढ़ाया करते थे। पाँच बजे वहाँ से वापस आकर शौच आदि से निवृत्त होकर भजन में बैठ जाते। नौ बजे तक भजन में रहते। भजन के पश्चात्, थोड़ा टहलते। उसी समय ब्रह्मचारी सत्यव्रत जी और पं० वंशीधरजी की अभ्यास सम्बन्धी अवस्था पूछते और उचित उपदेश देते। साढ़े नौ बजे थोड़ा दूध पीते और फिर दस बजे सो जाया करते। यह तीनों सज्जन तो प्रातः चार बजे उठते थे, परन्तु महाराजजी प्रायः इनसे पहलेही उठ बैठते थे। रोशनी होने पर शौच आदि से निवृत्त होकर, फिर वैसे ही यथापूर्वक कार्य्य होता रहता था।

बस्ती के लोगों में से, बरसोड़ा-नरेश के छोटे भाई, जिनको बालू भाई कहते थे, राज-पुरोहित पं० प्रह्लादजी तथा अन्य मान्य और गण्य लोग भी आते थे। आसपास के अन्य लोग दर्शनों को आते जिनमें महन्त सुखलालजी पुरी भी थे, जो वहां से तीन कोस पर गुनवा स्थान में रहा करते थे।

इन दिनों के उपदेशों में श्रीस्वामीजी अपने तीन सहवासी अभ्यासियों को तो अमली जीवन का ही उपदेश देते थे। यम-नियम का पालन, आहार-व्यवहार की शुद्धि, और नित्यप्रति अपने मन की चालों की जांच करने को कहा करते थे। संसार के त्याग की बात भी कहा करते। परन्तु ऐसा कहते थे कि "जब तक मन से संसार न त्यागा जाए, तब तक छोड़ना नहीं चाहिए। छोड़ना तब चाहिए जब ऐसा अनुभव हो जाये कि पुनः उधर जाने को चित्त न होगा।"

आप शुद्ध कमाई का अन्न अभ्यासी के लिए अति आवश्यक समझते थे। इसलिए यह भी उपदेश करते थे, "छोड़ने से पहले नेक कमाई का कुछ रुपया जमा कर लो, ताकि भजन में कुछ विघ्न न पड़े। कुछदिन निश्चिन्त होकर भजन कर सको।"

अन्य गृहस्थी लोगों को शास्त्र अनुसार जीवन व्यतीत करने को कहा करते थे। जब कोई, 'ईश्वर है वा नहीं' ऐसा प्रसंग उपस्थित करता, तो कहा करते, "तुमको ईश्वर से क्या लेना है ? पहले अपने आपको अधिकारी बना लो, अपने व्यवहार को शुद्ध करो, शास्त्र की मर्यादा पर चलो, तब पाप से मुक्त होकर ही पवित्र हृदय में भगवान का ज्ञान प्राप्त कर सकोगे। पाप को छोड़े बिना इस चिंता में लगे रहना निरर्थक है।"

साधन करनेवालों में दो अन्य अधिकारियों की वृद्धि हुई, जिनमें एक राज पुरोहित पं० प्रह्लाद जी थे, दूसरे कोई अन्य ब्राह्मण व्यक्ति थे।

वहाँ ही एक पंडित चंदूलालजी कुछ अन्य भद्र पुरुषों सहित आए। इनका स्थान पालनपुर था। शीर्षासन से खड़े होकर अभ्यास किया करते थे; परन्तु अभी कृतकार्य्यता नहीं हुई थी। महाराजजी के परामर्श से और उनसे उपदेश लेने पर सफलता प्राप्त हुई। इसके पीछे भी वे कई दिनों तक पत्र-व्यवहार द्वारा श्री गुरुजी से उपदेश ग्रहण करते रहे।

यद्यपि महाराजजी की दया सब पर रहा करती थी, परन्तु उच्च अधिकारी होने के कारण स्वामी सत्यानन्दजी आपके विशेष कृपा-पात्र थे। स्वामी सत्यानन्दजी अत्यन्त सरल और बड़े साधु स्वभाव के थे। एक दिन उनके हृदय में ऐसा भाव उठा कि "योग का आनन्द तो कुछ प्राप्त ही है; पर योग की सिद्धियों के सम्बन्ध में बहुत सुनते आते हैं, उनका कुछ विशेष पता न चला। उन्होंने ऐसे विचार श्री गुरुजी महाराज के सम्मुख उपस्थित किए। महाराजजी हँसने लगे और कहा, "सिद्धियों में कुछ नहीं रक्खा, विघ्नरूप होने से वे लक्ष्य के रास्ते में बड़ी रुकावट हैं। यदि तुम्हें तमाशा देखना ही है तो चार पांच दिन

अन्दर बन्द रहो। जैसे मैं बताता हूँ वैसे करते रहो। जो कुछ तुम्हारे दिल में आए उसको लिखते रहना।" फिर स्वामी सत्यानन्दजी आज्ञानुसार नियम से रहने लगे। चार-पाँच दिन पश्चात् जब वे बाहर निकले और उन पत्रों को खोला जो उनके नाम आए हुए थे, तो उनमें वही कुछ लिखा था जो वह पहले जान चुके थे। महाराजजी ने पूछा कि "इसी बात को थोड़े दिन पहले जान लेने से तुम्हें क्या लाभ हुआ? इस झगड़े में मत पड़ो, योग के परम लक्ष्य को सिद्ध करने में पुरुषार्थ करते रहो।" स्वामी सत्यानन्द जी कुछ समय अपने दो सहवासियों को अच्छी २ बातें समझाने में व्यतीत करते थे। वह दूसरों के बड़े हितेच्छु और स्वयं बहुत परिश्रमशील थे। सत्यव्रत जी पर तो उनकी विशेष कृपा रहा करती थी, जिसके लिए वे उनके बड़े कृतज्ञ हैं।

कुछ दिन पीछे वहाँ पर रेज़िडेण्ट या किसी बड़े अंगरेज़ के आने की खबर थी। युद्ध का समय था, रियासतवालों को फूंक फूंक कर पैर रखना पड़ता था। पूछ-ताछ से कहीं स्वामी जी को व्यर्थ कष्ट न हो अतः महाराजजी का डेरा वहाँ से गुणवां गांव में महन्त सुखलाल पुरीजी के अपने बाग़ में जो साबरमती नदी के किनारे विकट जंगल में था, भेजा गया। स्थानादि का प्रबंध पूर्ववत रहा। महाराजजी के नित्य नियम में थोड़ी तबदीली हुई। पढ़ाने के समय भ्रमण को जाने लगे।

इस समय की तीन बातें श्री स्वामीजी के व्यवहार के सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय हैं।

(१) तितिक्षा :- एक राजा के अतिथि होकर भी शीत-काल को एक फटी चादर और फटे कम्मल में व्यतीत करते थे। शीत लगने के कारण कुछ नजला भी होने लगा।

सह-वासियों के आग्रह करने पर पीछे से कुछ दवाई लेने लगे। कई दिनों की औषधि थोड़े ही दिनों में समाप्त कर दी। महाराजजी शरीर से बहुत बेपरवाह रहा करते थे। तप में तो उनको आनन्द प्रतीत होता था, शरीर के थोड़े-बहुत कष्ट की तो उपेक्षा ही कर लिया करते। इसी कारण कुछ न कुछ शरीर की गड़बड़ी लगी रहती थी। रोजाना की देख-भाल भी आपको बेगार रूप मालूम होती थी। जब तक शरीर की अवस्था इतनी न बिगड़ जाती कि उससे विशेष कष्ट होने लगता अथवा ध्यान आदि में विशेष बाधा पड़ने लगती तब तक उसका विशेष ध्यान न करते। फिर उसकी ओर दृष्टि देकर शीघ्र ठीक कर लिया करते। आप कहा करते थे, "इसके अस्वस्थ रहने में भी संसार की दु:खरूपता प्रतिक्षण भासती रहती है।" जब सब लोगों ने बहुत प्रार्थना की कि एक और कम्बल डाल लिया करें, तो भी आपने स्वीकार नहीं किया।

एक दिन ब्रह्मचारी सत्यव्रतजी और पं० वंशीधरजी ने सम्मति की कि महाराजजी के पास दूसरा कम्बल रखदें, शायद रात को शीत लगने पर ओढ़ लेंगे। ऐसा ही किया गया। सत्यव्रत जी एक कम्मल लेकर उनके बिस्तरे पर पाँव की ओर रख आए और प्रार्थना कर आए, "यदि शीत अधिक प्रतीत हो तो इसको ऊपर ले लेना।" उत्तर मिला, "अच्छा, न रह सका, तो ओढ़ लूंगा।" प्रात:काल सत्यव्रत जी देखने गए कि शायद ओढ़ा होगा ; परन्तु बात ऐसी न निकली। वे जिस प्रकार कम्बल रख आए थे वैसा ही पड़ा था। उन्होंने पूछा, "आपने ओढ़ा नहीं ?" महाराजजी ने कहा :—"नहीं, यही देखता रहा कि और दिन कम्बल के अभाव में शीत सहन करता था, आज देखूं, सहा जाता है कि नहीं।" यह सुनकर सबलोग चुप होगए।

भोजन में भी कभी-कभी विचित्रता होती थी। एक रोज़ कीकर की फली ही उवाली गई। सबको थोड़ी-थोड़ी खाने को मिली।

सहनं सर्वदुःखानामप्रतीकारपूर्वकम्।
चिन्ताविलापरहितं तितिक्षा सा निगद्यते॥

इस शास्त्र-वचन का अनुष्ठान पूज्य स्वामी जी के जीवन में प्रत्यक्ष घटते हुए देखने का सौभाग्य अनेक वार उनके सहवासियों को प्राप्त हुआ।

(२) मनो-निग्रह :—सन् १९१४ में युद्ध हो रहा था। कैले पर मोर्चा लगा हुआ था। हार-जीत की ख़बर सुनने को लोग लालायित रहते थे। वहाँ कोई समाचार-पत्र तो आता नहीं था, कभी-कभी कोई शहरी खबर सुना जाया करता था। महाराज जी के पास अङ्गरेज़ी भाषा का एक पुराना अख़बार पड़ा था। भोजन के वाद, कई दिन उसही की आवृत्ति रोज़ कर लेते। एक दिन सत्यव्रत जी ने पूछा, "भगवन्, आप इसी पुराने पर्चे को वार-वार रोज़ पढ़ते हैं, इससे क्या फ़ायदा है।" उत्तर मिला "मन समाचार-पत्र पढ़ने को माँगता है, मैं इसी को पेश कर देता हूँ कि पढ़ले, यह भी तो समाचार-पत्र ही है।" महाराजजी का चित्त तो सर्वदा प्रभु के चिन्तन में ही लगा रहता था। किसी संसारी वासना को चाहे वह कितनी ही महान् अथवा रोचक हो, अपने भीतर नहीं घुसने देते थे। इसलिए जब कभी संस्कार वश मन बहुत विगड़ता, तो इस प्रकार बहला दिया करते। आज कल के युग में तो अख़बार का पढ़ना और देश-देशान्तरों के समाचार जानना प्रत्येक पढ़े-लिखे व्यक्ति के लिए विशेषतः अङ्गरेज़ी जाननेवालों के लिए तो दैनिक स्वाध्याय ही हो चला है। महाराजजी अपने चित्त को प्रभु की शरण में अर्पण कर चुके थे। अब चाहे वह मन कितना ही मचलता, उसको

संसारी वासना में कब फँसने देते। ऐसे कड़े मालिक के सामने थोड़ी देर का बहलावा हो जाए यही मन के लिए पर्याप्त था। इसी प्रकार जब तक युद्ध जारी रहा, अथवा जब कभी भी देश में कोई हलचल रहा करती, तो आप शहरों में रहते हुए भी अपने मन को सर्वदा उदासीन रखते। स्वामी 'राम' भी कहा करते थे,'Blessed are they who do not read newspapers for they shall see Nature and through Nature God.' 'वही ईश्वर को जान सकता है जो अखबार नहीं पढ़ता' महाराज जी भी संसारी झमेलों को दूर ही रखते थे।

(३) बेपरवाही :—बरसोड़ा नरेश ठाकुर सूरजमल जी, महाराजजी के बड़े भक्त थे। वे ही आपको आबू से बरसोड़ा ले गए थे। उनका विचार स्वयं भी भजन करने का था। इसी कारण महाराजजी अपना इतना समय लगाते थे और उनके स्थान पर जाकर पढ़ाते। स्वामीजी का विचार था कि राजा के सुधार से प्रजा का बहुत भला होगा। ऐसा हुआ भी, राज-काज के सम्बन्ध में उनके विचारों में बड़ा परिवर्तन जान पड़ता था। परन्तु भजन-उपदेश के लिए महाराज अखण्ड ब्रह्मचर्य्य की बड़ी कड़ी शर्त लगाते थे। इस कठिन व्रत के सम्बन्ध में बहुत दिन तक विचार चलता रहा। ठाकुर साहब इस व्रत को पूरा न कर सके; परन्तु महाराजजी भी एक सम्मानित व्यक्ति की खातिर अपने नियम को ढीला करने के लिए तैयार न थे। जब ठाकुर साहब ने इसके पालन में अपनी असमर्थता की सूचना, संकोच-वश, अहमदाबाद से लिख कर भेजी, तो आपने वहाँ से चल देने का विचार प्रकट किया। यह भी विचार था कि लौटते समय मार्ग-व्यय भी राजा साहब से नहीं लेंगे, शायद ऐसा ही किया हो। पण्डितजी और ब्रह्मचारीजी तो ११ जनवरी को वहाँ से रवाना

कर दिए गए, पीछे स्वामीजी महाराज और सत्यानन्दजी भी वहाँ से चले आए।

ऐसी अनेक घटनायें, अनेक बार आपके जीवन में दृष्टि-गोचर होती हैं। चाहे कैसा ही सम्पत्तिशाली, सम्मानित अथवा अनेक गुण-सम्पन्न जिज्ञासु क्यों न हो परन्तु यदि उसमें कोई ऐसा दोष है कि जिसका छोड़ना शास्त्र अनुसार अति आवश्यक है, तो उसके छोड़े बिना महाराज जी कभी उसको भजन का अधिकारी नहीं समझते थे। ऐसी उपेक्षा स्वामी जी के त्याग को बड़े उज्ज्वल रूप से प्रकट करती है। प्राय: देखा जाता है कि साधु लोग भी अपने आपको राज-गुरु कहलाने में अपना गौरव समझते हैं। जिनका राजों से सम्बन्ध नहीं है, वे प्रतिष्ठित शक्तिशाली गृहस्थियों का आश्रय लेते हैं। कोई धार्मिक अथवा जातीय संस्था से अपना सम्बन्ध जोड़े रखने में भला मानते हैं। कई एक तो मठों के महन्त बनने में ही अपना हित समझते हैं। इस प्रकार से मान बड़ाई की सूक्ष्म जंजीर किसी न किसी रूप से अपनी कड़ी पकड़ महात्माओं के दिल पर भी डाले रखती है। प्रभु की माया बड़ी प्रबल है। किसी न किसी भाव से अपना जाल फैला, सबको उसमें फाँस, नचाती रहती है। कनखल के एक प्रसिद्ध त्यागी साधु के विषय में कहा जाता है कि अनेक बार सेठ-साहूकारों और राजों ने उनको भेंट अर्पण किया; परन्तु उन्होंने कभी ग्रहण नहीं किया। उनके वैराग्यकी बड़ीप्रशंसा थी। हमेशा विरक्त भाव से विचरते रहे। शरीर छूटने से पहले कुछ बीमार हो गए। वैद्य बुलाया गया। उसने परीक्षार्थ उनके शिष्यों से कहा कि वे बाबा जी से कहें, "आपको अखाड़े का शिरोमणि महन्त 'बनाया गया है।" ऐसा ही किया गया। बाबाजी इस समाचार को सुनकर प्रसन्नता से खिल-खिला

पड़े। इस सूक्ष्म परीक्षा में आप पास न हो सके। पीछे शरीर छूट गया और नाम की वासना को वे साथ ले गए।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

भगवान् की माया बड़ी विचित्र और दुस्तर है। इसे पार कर जाना टेढ़ी खीर है। परन्तु जो भगवान् के ही चरणों का आश्रय लेते हैं वे इस माया को सहज ही पार कर जाते हैं।

राग और मोह की फांसी बहुत सूक्ष्म है। सन्त सियारामजी इस सबको भली भांति जानते थे। आपतो पहले ही से सब कुछ प्रभु की शरण में समर्पण कर चुके थे। भला शरण गहे की लाज को भगवान् क्यों न रखते। भगवान् के अनुग्रह से ही आप का त्याग-भाव सदैव बना रहा, इसमें कभी कमी नहीं आने पाई।

नवां प्रकरण

सखा-भाव

महाराजजी बरसोड़ा से चलकर कुछ दिन अजमेर में ठहरे। यहाँ ही स्वामी सत्यानन्दजी के पिता का एक पत्र आया, जिसमें उन्होंने महाराजजी को बहुत अपशब्द लिखे थे; और यह भी लिखा था कि "अबकी बार यदि स्वामीजी मुझे मिलें तो मैं जूतियों से उनका सर ठीक कर दूंगा।" यह पत्र आपने बड़ी प्रसन्नता से सबको सुना दिया। कुछ क्षोभ प्रकट नहीं किया।

उधर चुपके से सत्यानन्दजी के पिता को लिख दिया, "तुम्हारा पुत्र यहाँ है, तुम यहाँ आकर उसे ले जा सकते हो।" वह शीघ्र ही वहाँ आगए। तब आपने उससे कहा, "हमारा इस पर कुछ अधिकार नहीं है। आप जैसे चाहें, इसको अपने घर ले जाएँ, यह हमारे कहने के अन्दर नहीं है। आपका पत्र भी हमको मिल चुका है, जिसके लिए आपको धन्यवाद है। हमारा सिर भी हाजिर है, अपनी इच्छा अच्छी तरह से पूरी करो।" यह कह कर महाराजजी ने अपना सिर नंगा करके उसके आगे कर दिया। यह सब देखकर वह बिचारे बहुत लज्जित हुए और महाराजजी से क्षमा प्रार्थना करने लगे। महाराजजी दयालु तो थे ही जब मान-अपमान, निन्दा-स्तुति की ही चिन्ता नहीं थी तो फिर क्रोध क्यों करते। सन्त तो सबके हितकारी होते हैं। उनके दुःख को देखकर आप कभी कभी पं० बंशीधर जी से कुछ रुपए की सहायता उनके छोटे पुत्र की पढ़ाई के खर्च के लिए दिलवाते रहे।

एक दिन पं० बंशीधरजी ने महाराजजी से आर्य्य-समाज मन्दिर में उपदेश देने के लिए बहुत आग्रह किया। पहले तो महाराजजी इनकार करते रहे परन्तु जब उनका आग्रह बहुत बढ़ता गया, तो आप कहने लगे, "अच्छा हम व्याख्यान देंगे। तुम्हारे मकान में जितनी तसवीरें और मूर्तियाँ हैं, उन सबको टोकरों में भरकर वहाँ मेज़ पर रखवा दो।" पं० बंशीधरजी यह सुनकर चुप लगा गए और आग्रह छोड़ दिया। पीछे जब सत्यव्रतजी ने दर्शन किए और यह कथा सुनी तो महाराजजी से पूछा, "आप उस व्याख्यान में इन चित्रों के सम्बन्ध में क्या कहते।" उत्तर मिला, "जो उस समय सूझता।"

अजमेर के राधा-स्वामी के संग में जानेवाली एक बुढ़िया भी

महाराजजी के दर्शन को आई थी। वह भजन-ध्यान में अच्छी बतलाई जाती थी। उसने स्वामीजी से पूछा, "महाराजजी, मैं कब समझूं कि भजन में कामयाब हो गई हूँ।" उत्तर मिला, "जब तेरे जवान पुत्र तेरे सामने मरे पड़े हों और तेरे जी में दुःख बिलकुल न हो।" बुढ़िया ऐसा सुनकर चुप होगई, कुछ न कह सकी। यदि भजन करने से परवैराग्य नहीं बढ़ा तो क्या हुआ ?

दो फरवरी १६३५ को आप वृन्दावन पहुँचे। आपका विचार वृन्दावन में रह कर होली का कुम्भ देखना था। वहाँ के गुरु-कुल के अध्यापक और कई उच्च श्रेणी के विद्यार्थी आपसे मिलने आते थे। कई विद्यार्थियों को शास्त्र में विश्वास कम हो रहा था और ईश्वर के अस्तित्व में भी संशय था। इस कारण गुरु-कुल के आचार्य्य चिन्तित थे, कि यदि पहले जत्थे के स्नातक ही नास्तिक हुए तो आर्य्य जगत में बड़ी खलबली मच जाएगी। गुरु-कुल जैसी प्राचीन विद्या की संस्था को हानि होगी और शास्त्र में भी सर्वसाधारण का विश्वास कम हो जाएगा। महाराज जी की सत्संगति ने उन सबके संशयों को छिन्न भिन्न कर दिया। स्वामीजी की शास्त्र में बड़ी श्रद्धा थी। कर्म-काण्ड के सम्बन्ध में तो आप शास्त्र को ही परम प्रमाण मानते थे। आप का कहना था कि "शास्त्र के सहारे बिना हम अपनी बुद्धि से इतना भी नहीं जान सकते कि सत्य बोलना हमारे लिए श्रेयस्कर है। फिर ऐसे अन्य अनेक कर्म्मों के सम्बन्ध में कैसे निश्चय हो सकता है कि उनका ऐसा फल होगा, क्योंकि फल तो अगले जन्म में होना है, या मृत्यु के बाद मिलना है।" विद्यार्थियों ने एक अनुभवी महात्मा के गम्भीर और अलौकिक तर्क अथवा विवेचना सुनी, तो उनके डावाँडोल हृदय फिर से स्थिर होने लगे।

जब तक तर्क ऊपर-ऊपर ही रहता है, तब तक संशय बढ़ता रहता है; परन्तु जब अनुभव के सहारे चलते चलते वह गहराई में पहुँचता है तो श्रद्धा के सामने उसका सिर झुक जाता है।

स्वामीजी महाराज किसी दूसरे के घर पर भिक्षा करने नहीं जाया करते थे। मास्टर अयोध्याप्रसाद जी का सात्विक अन्न ही आपके सूक्ष्म चित्त को अनुकूल था। शुद्ध दूध और घी आपको प्रिय था। नाना प्रकार के व्यंजनों में आपकी रुचि नहीं थी। मास्टरजी की मौसी आपको पुत्र भाव से प्रेम करती थी। अनेक प्रकार के स्वादु भोजन बनाती, पर आप सबको एक साथ मिला-जुला कर ही खाते। अपना परिश्रम व्यर्थ जान कर फिर वह भी सादा खाना बनाने लगीं। रोटी, दाल और हरे शाक आपको भले लगा करते थे।

जैसी कि आपकी सर्वदा रुचि रही है, आप अनेक साधु-महात्माओं की कुटी पर मास्टरजी को संग लेकर जाया करते और घन्टों उनसे ज्ञान-वैराग्य के सम्बन्ध में वार्तालाप होता रहता। यहाँ से आप शीघ्र ही हरिद्वार के कुम्भ में जाने के लिए रवाना हो गए।

आप वृन्दावन के आध्यात्मिक वायु-मंडल की बड़ी प्रशंसा करते थे। यह स्थान भक्ति-भाव से परिपूर्ण है। महाराजजी को श्री कृष्ण भगवान् का सखा-भाव बहुत ही प्रिय था। इसी विचार से वे कभी-कभी रास-लीला भी देखने जाते थे। मनुष्य भावनामय है। जिस वस्तु को जिस भाव से देखता है, उसके प्रति वैसा ही भाव दृढ़ होता चला जाता है। जिस लड़की को छोटेपन से पिता पुत्री के भाव से देखता चला आता है, उसके युवा होने पर और शृङ्गार करने पर भी पिता के चित्त में कोई विकार पैदा नहीं होता, केवल निर्मल प्रसन्नता के भाव जाग्रत

होते हैं। पर वही स्त्री दूसरे पुरुष के लिए काम की साक्षात् मूर्ति दिखाई देती है। रास-लीला को देखने से महाराजजी के हृदय में सखा-भाव दृढ़ होता जाता था, और प्रभु की मित्रता को वह सदैव अनुभव करते थे। किस प्रकार जीव के कल्याण के लिए भगवान् हमारे साथ हो कर उत्साह देते रहते हैं, और कैसे ज्ञानियों के चित्त प्रभु का क्रीड़ास्थल या नाच-घर बन रहे हैं इस बात को आप जितना भी विचारते उतनाही आपका हृदय भगवान् के सख्य-भाव से ओत प्रोत हो जाता था। अँगरेजी के महाकवि शेक्सपियर ने कहा है कि जीवन एक नाटक है। परन्तु यह तो हमारे शास्त्रों की पुरानी बात है कि यह संसार प्रभु की लीला है। वह स्वयं इस नाटक के लीलाधार हैं। हमारी मनोवृत्तियां वे गोपियां हैं जिनके साथ आत्मदेव दिन रात अपनी क्रीड़ा करते रहते हैं। हमारा शिर, मस्तक और हृदय, वह वृन्दावन है जिसकी गलियों में अथवा नाड़ियों में भगवान् कृष्ण का अमर नाद सर्वदा गूँजता रहता है। रामकृष्ण परमहंस कहा करते थे कि कामी पुरुष, कृष्ण और गोपियों के रास को और श्रीमद्भागवत की कथा को सुनने और देखने का अधिकारी नहीं है। पवित्र हृदय से ही रासलीला का रहस्य समझ में आ सकता है। परमहंसजी भावुक पुरुष थे। कई बार अपने सत्सङ्गियों के घर जाकर गोप-लीला करते; परन्तु ज्ञान पर आरूढ़ सन्त-शिरोमणि स्वामी सियारामजी जब उस रास को देखते तो आपका सखा-भाव ही दृढ़ होता। आप अपने शिष्यों से, चाहे वह कितने छोटे व बड़े हों, हमेशा मित्र समझकर व्यवहार करते थे। 'यार' कहकर पुकारते। आपने कभी गुरु के अभिमान को अपने पास फटकने नहीं दिया। सबको पूरा-पूरा सम्मान देते, हाथ जोड़कर बड़ी नम्रता से नमस्कार करते, साधु भेषवालों के तो चरण ही छू लिया करते

थे। आप कहा करते थे, 'मुझे तो कोई शिष्य नहीं दीखता, भाग्य अनुसार अपनी-अपनी सेवा सब ले रहे हैं।' हाँ, उपदेश और शिक्षा देते समय उचित ताड़ना भी किया करते थे, पर वह जिज्ञासु के दोष बताने और उसके कल्याण के लिए ही होता था। अपनी सेवा-सुश्रूषा के लिए आपने ऐसा कभी नहीं किया।

हरिद्वार में स्वामीजी महाराज और सत्यानन्द जी थोड़े ही दिन रहे। अनेक साधु-सज्जनों के दर्शन करते रहे। ऐसे धार्मिक महा मेलों पर, जहाँ अनेक अच्छे अच्छे साधु सारे भारतवर्ष से आकर एकत्र होते हैं, वहाँ ढोंगी भी भोले-भाले श्रद्धालु यात्रियों से अपना मतलब सिद्ध किया करते हैं। ऐसा ही एक साधु किसी चौबारे पर बैठा धोती निगल रहा था। अनेक बार ऐसे करता रहा। दर्शकों की भीड़ लग जाया करती। बहुत लोग भेंट भी चढ़ाते। ध्यान लोगों की ओर होने से एक बार धोती का दूसरा सिरा भी निगल गया। फिर बिचारे ने अनेक यत्न किए, पर कुछ न बना। कपड़ा अन्तड़ियों में सड़ गया, बड़े कष्ट से शरीर छूटा। हठयोग की क्रियाएँ शरीर शुद्धि के लिए बहुत लाभकारी हैं। अनेक शारीरिक व्याधियों को शांत करके शरीर को समता तथा स्वास्थ्यपूर्ण कर सकती हैं। राजयोग में बड़ी सहायक हैं। परन्तु जो बिना पूरे जानकार गुरु की सहायता के इसमें पड़ते हैं वे शेर के मुँह में हाथ डाल रहे हैं। यह गुप्त तथा कठिन साधन है इसका तमाशा बनाना भयानक तथा जीवन को जोखिम में डालना है।

इसी कुम्भ पर संन्यासियों ने, शायद पहली बार, 'वेद' की सवारी निकाली। महात्मा गाँधी जी भी देश की अवस्था देखने के लिए आए हुए थे। उस समय वे व्याख्यान आदि तो देते ही

नहीं थे। सेवा समिति के कैम्प में रहते रहे। उसी कैम्प के पीछे नांगे साधुओं का डेरा था। एक माई वहां अपना छोटा सा, चार-पाँच वर्ष का सुन्दर, स्वस्थ लड़का नागों के अर्पण कर गई। सेवा-समिति के स्वयंसेवकों ने बहुत समझाया, पर उसकी श्रद्धा के आगे तर्क को हार ही माननी पड़ी। वह छोटा बालक उसी समय से नंगा रहने लगा। ऐसे ही एक दूसरा युवा पुरुष भी उनके अखाड़े में शामिल हुआ। श्रद्धा भी बड़ी बलवती होती है। तीस चालीस आदमियों की मृत्यु कुम्भ के दिन भीड़ में गिर जाने के कारण होगई। युवा स्त्रियां, छोटे बालकों को, कंधों पर लिए, एक कटि वस्त्र पहने, बेधड़क हो कर धक्के खाती हुई, अपनी लाज की भी चिन्ता से रहित, हर की पौड़ी पर स्नान के लिए बढ़ी चली जा रही थीं। बूढ़ों को अपने डूबने का भय नहीं था। प्रातःकाल तीन बजे से लेकर सायंकाल के आठ बजे तक स्नान होते रहे, और लोग अनेक कष्टों और बाधाओं को सह कर अपने हृदय को तृप्त करते रहे। उधर कुछ ईसाई पादरी इस झमेले के चित्र भी ले रहे थे, जिनके सहारे से भारतवर्ष की असभ्यता और धर्मान्धता जतला कर अपने दानियों से इस देश में ईसाई-धर्म का प्रचार करने के लिए वे धन की याचना करते हैं।

आर्य्य समाज के भी प्रचार का प्रबन्ध था। अन्य अनेक स्थानों पर साधु महात्माओं के उपदेश और कीर्तन भी होते रहते थे। पं० जगदीश मित्र भी हिप्नोटिज़म के अनेक विचित्र करिश्मे दिखलाया करते थे। महाराजजी सत्यानन्दजी के साथ एक दिन वहाँ पहुँचे। सत्यानन्दजी की इच्छा थी कि उनको भी मूर्छित किया जाए; परन्तु जैसा श्री गुरुदेवजी ने पहले ही कह दिया था, जगदीश मित्रजी की लीला का उन पर कुछ असर न

हुआ। फिर जगदीशमित्रजी से महाराजजी की कुछ बात-चीत होती रही। आपने उनको समझाया कि 'आप इस खेल में अपनी शक्ति का ह्रास न करें। तमाशा बन्द कर दें, और आध्यात्मिक उन्नति में लग जाएँ।' पर उनकी रुचि इधर न हुई।

इस प्रकार से कुम्भ की लीला देखते रहे। जब कुम्भ समाप्त होते ही हैजा फूट पड़ा, तो श्री स्वामीजी महाराज सत्यानन्दजी के साथ, वहाँ से उत्तर काशी को चल दिए।

दसवां प्रकरण

संत-समागम

जब आप काँगड़ी में थे तो माता और भाई के साथ बद्री-नारायण की यात्रा को गङ्गोत्री होकर गए थे। यह उत्तराखण्ड तपोभूमि है। इस स्थान की महिमा हमारे इतिहास पुराणों में बहुत वर्णित है। इसमें अनेक ऋषि-मुनि तपस्या करते रहे हैं। अभी तक यहाँ हिन्दू-राज्य है। वेदव्यास और वशिष्ट आदि मुनि भी इन स्थानों में तप करते थे। स्वामी शंकराचार्य्य और आधुनिक काल में स्वामी दयानन्द, रामतीर्थ, विवेकानन्द आदि सब इस भूमि में विचरते रहे। जो भूमि अनेक महात्माओं के तप और योग से पवित्र हो चुकी हो, जहाँ से पतित पावनी भागीरथी निकली है, जहाँ कैलाश में शिवजी सती-साध्वी पार्वती सहित

निवास करते रहे हों, जिस भूमि में महाभारत युद्ध के पश्चात्, पाँचों पाण्डव तप करने गए, जिधर अब भी हर साल भारत-वर्ष के लाखों नर-नारी अनेक कष्ट सहते हुए तीर्थ-यात्रा को जाते हैं, जहाँ के देशवासियों में अब भी इतनी सरलता है कि चोरी और व्यभिचार का नाम भी नहीं जानते; ऐसे स्थान के पवित्र वायुमंडल में महाराजजी साधु-भेष में पहली वार पहुँचे। जब पहले यहाँ आए थे, तो भी चित्त बड़ा प्रसन्न हुआ था, और यह विचार था कि सब कुछ छोड़-छाड़ कर कुछ काल तक इधर विचरा करेंगे। इस देश का शुद्ध वायुमंडल तो ऐसे ज्ञानी संतों को अवश्य अपनी ओर खींचता है।

यहाँ पर आकर आप बड़े गुप-चुप होकर रहने लगे। योग के क्रियात्मक ज्ञान में निपुण होते हुए भी, किसी को कुछ पता न चला कि कोई ऐसे महात्मा यहाँ रहते हैं। केवल उन्हें इतना ही मालूम पड़ा कि यह साधु थोड़ी-थोड़ी अँगरेजी भी जानते हैं। 'ज्ञानसु' में एक अँधेरी-सी गुफा में रहा करते थे। क्षेत्र से सत्यानन्द जी रोटी ले आते, उसी में निर्वाह हो जाता। घी, दूध आदि, अभ्यासी के अनुकूल चिकने पदार्थ कुछ भी खाने में नहीं आते थे।

महाराजजी यहाँ पर लगभग पाँच मास तक रहे। प्राय: महात्माओं के दर्शनों को जाया करते; पर कोई भी आपके गुणों को जान न सका। स्वामी केवलाश्रमजी और रामाश्रमजी के साथ अनेक वार ज्ञान-गोष्टी होती। वेदान्त पर अनेक सूक्ष्म प्रश्नोत्तर हुआ करते। महाराजजी को ब्रह्मवाद की बात ठीक नहीं जँचती थी। वे तो अनुभव पर खड़े होकर अनेक युक्तियाँ देते कि जीव ब्रह्म नहीं हो सकता। एक दिन स्त्री के सम्बन्ध में बात-चीत चली। उनके पूछने पर महाराजजी ने कहा, हमको

स्त्री जैसी है वैसी ही भासती है।" पर वह महात्मा कहने लगे, "कोई भाव तो होना चाहिए। स्त्री को माता-भाव से ही देखना उत्तम है।" श्री स्वामीजी महाराज ने सुझाया, "मातृ-भाव भी तो कल्पना ही है। जैसा हाड़ माँस का पिंजर रुधिर, कफ आदि दोषों से भरा है, वैसा ही दीखना चाहिए।" तब उनको यह बातें शास्त्र के अनुकूल प्रतीत होने लगीं और जँचने भी लगीं। वे सब लोग महाराजजी के ज्ञान और वैराग्य की बड़ी प्रशंसा करते थे। आपके गहरे विचार, सरल स्वभाव, नम्रता आदि गुणों पर तो सब मुग्ध थे ही। पर फिर भी यह कोई नहीं जानता था कि आप इतने उच्च कोटि के संत हैं, अथवा योग-विद्या में ऐसे कुशल और निपुण हैं। यदि कोई पूछता कि आप क्या करते रहते हैं, तो आप बड़ी सरलता से उत्तर देते, "हम तो कुछ बहुत साधन नहीं करते, हाँ, थोड़ा सा जाप आदि कर लेते हैं।" कभी-कभी आपकी अनुभव-भरी बातें, उनकी समझ में न आतीं। आपके त्याग-भाव की सराहना तो सब किया ही करते थे, पर आपकी योग में दक्षता किसी को प्रकट न हुई। अपनी बात-चीत में भी आप योग की चर्चा नहीं छेड़ा करते थे। वैराग्य, ज्ञान की बातें होतीं। आत्मा परमात्मा के सम्बन्ध में बड़े गहरे प्रश्न चलते, पर यह कोई न जान सका कि इस गुदड़ी में लाल भी हैं। जैसा कि आप कहा करते थे, "गुप्ता सो सिद्धः" "भजन की चोरी ही भगवान् को प्यारी है। मन भर करो तो रत्ती भर जतलाना चाहिए, वह भी जब कोई पूछे तब, नहीं तो चुप ही भली है। यदि ऐसा न होगा तो अभिमान झट आ दबा लेगा। और जहाँ अहंकार आगया, वहाँ ईश्वर से विमुख होकर संसार की ओर रुचि होने लगती है।" ऐसे उत्तम नियमों पर आप बड़ी कड़ाई से कटिबद्ध रहा करते थे। यदि

कोई निरर्थक दोष भी लगा देता, तो भी अपने आपको निर्दोष साबित करने का यत्न नहीं करते थे। स्तुति, निन्दा में समता की हद हो गई थी।

श्री स्वामीजी यहाँ बड़े आनन्द से रहे। भोजन का उत्तम प्रबन्ध न होते हुए भी आपका चित्त बहुत प्रसन्न रहता था। योग का मार्ग अनेक बन्धनों से जकड़ा हुआ है, इसलिए इससे बहुत लोग घबराते हैं। खान-पान के अनेक नियमों का पालन करना बड़ी कठिनता पैदा करता है। थोड़ी गड़बड़ी हो जाने से भी, शरीर में रोग होने का भय लगा रहता है; पर इतना सब कष्ट होते हुए भी महाराजजी स्वामी सत्यानन्दजी के साथ बड़े आनन्द से अपना वर्षा-काल काटते रहे। १४ जून १९१५ के एक पत्र में आप इस प्रकार तपोभूमि की मुक्त कंठ से सराहना करते हैं। "हम बड़े आनन्द से हैं। यहाँ पर खूब वर्षा हो रही है। गंगा-जल बहुत ठंडा और मीठा है। पहाड़ी लोगों का अन्न इतना शुद्ध प्रतीत होता है कि उनके घरों के रूखे-सूखे टुकड़े माँगकर खाने में जैसा चित्त प्रसन्न रहता है, वैसा नीचे रईसों के घरों के स्वादिष्ट पदार्थ खाने से नहीं रहता।" खुद इतने त्यागी और ज्ञानी होते हुए भी दूसरों को प्रशंसा ही आपको प्रिय लगती थी। "यहाँ पर कई एक विरक्त महात्मा रहते हैं। कभी-कभी कोई पढ़ी-लिखी माई भी इस देश में आकर कुछ काल सत्संग और एकान्त सेवन करती है।" इतना अच्छा स्थान होते हुए और इतने प्रसन्न रहते हुए, फिर भी आप शहरों की गंदी हवा में जाकर रहा करते थे, इसका कारण था आपका करुणामय चित्त, और ईश्वरीय प्रेरणा, जिससे दूसरों के कल्याण के निमित्त सब कष्ट सहना पड़ता था। उसी पत्र में आप लिखते हैं :—"नीचे के कई अभ्यासियों की

प्रेरणा है कि जाड़े में हम नीचे रहें, ताकि वे भी फ़ायदा उठा सकें, क्योंकि वहाँ रहने से, रेल-द्वारा सुगमता से पास आ सकते हैं।" यदि भगवान् यह दया-भाव महापुरुषों के हृदयों में न पैदा करते तो अनेक विरक्त त्यागी संतों के सत्संग से जन्म जन्मान्तरों से भटकते हुए प्राणी, कल्याण-मार्ग का पता भी नहीं पा सकते। दयालु प्रभु अपने भक्तों को सब वासना से मुक्त कर देते हैं: पर जहाँ उचित समझते हैं, वहाँ उनके हृदयों में करुणा का ऐसा महासागर उभारते हैं जिसमें संसार के अनेक तपित हृदयों को शांति की दात्त मिल जाती है।

कुछ काल पश्चात्, ब्रह्मचारी सत्यव्रतजी और पं० बंशीधरजी वकील भी, अजमेर से यहाँ आ गए। यहाँ तो, आप इतनी गुमनामी से रहा करते थे कि मानों चोरी करके पहाड़ में आ छुपे हों। बहुत जाँच करने पर, थोड़े अँगरेज़ी पढ़े-लिखे साधु की आड़ से पता चला, पर यह तो कोई जानता ही नहीं था, कि कोई बड़े ज्ञानी, त्यागी, सिद्ध योगी महापुरुष रहते हैं। नाम की सूक्ष्म कड़ी भी बिल्कुल टूट चुकी थी। यह दोनों सज्जन पास ही रामचन्द्र पंडा के बगीचे में ठहरे। इनको आज्ञा मिली "शाम को तीन बजे के लग-भग, जब हम गंगा के किनारे बैठते हैं, आकर मिला करो।" शेष समय में मिलने की आज्ञा नहीं होती थी। उन दिनों महाराजजी की दशा ऐसी थी कि एक पत्थर के ऊपर गंगा की ओर मुख किए बैठे रहा करते। कई बार तो ऐसा होता कि यह दोनों जाकर खड़े रहते और महाराजजी को बहुत देर पीछे इनके आने का ज्ञान होता।

जैसा कि आपका स्वभाव था, आप दोनों अभ्यासियों को प्रसिद्ध विद्वानों और महात्माओं के दर्शन कराने के लिए साथ लेकर गए। स्वामी केवलाश्रम और स्वामी रामाश्रम के दर्शन करके

स्वामी प्रकाशानन्द गिरि के दर्शन कराए। कुछ बात-चीत चल पड़ी। स्वामी प्रकाशानन्दजी ने उसका प्रतिपादन किया; पर महाराजजी ने पूछा, "अनुभव क्या कहता है।" उत्तर मिला :— "हमें अनुभव नहीं है। शास्त्र पढ़े हैं, उन्हीं के आधार पर कहते हैं।"

यह महाराजजी की विशेष बात रहा करती थी कि आप पूरे वैज्ञानिक की तरह अनुभव और तजर्बे की कसौटी पर प्रत्येक सत्य को कसा करते। जो बात परोक्ष है, उसके सम्बन्ध में, शास्त्र को ही परम प्रमाण मानते थे। पर यह भी प्रायः कहा करते थे– "जितनी काम की बातें हैं यह सब अनुभव से सिद्ध हैं, मोक्ष-मार्ग तो प्रत्यक्ष का मार्ग है।" गीता को तो 'प्रत्यक्ष-शास्त्र' ही कहा करते थे। आपका विचार था, "अध्यात्म-शास्त्र उतना ही प्रत्यक्ष पर अवलम्बित है, जितना कि पाँच ज्ञाने-न्द्रियों के विषय। वही भीतरी अनुभव ही संसार के धोखे को निवारण कर संसार की असारता और आत्म-ज्योति की सारता और सत्यता सिद्ध करता है; पर अनुभव होना चाहिए। वैराग्य, विचार और सतगुरु ही इसमें विशेष सहायक हैं।"

एक 'नाथ' साधु ने भी महाराजजी से कुछ भजन सीखा था; परन्तु उक्त साधना के अनुकूल भोजन आदि का प्रबन्ध न होने के कारण उन्होंने पीछे से इस मार्ग का अवलम्बन छोड़ दिया।

ब्रह्मचारी तारकानन्द अनेक दिनों से योग के जिज्ञासु थे। उत्तराखंड में आपको एक भी अनुभवी महात्मा न मिले जिन पर आपकी श्रद्धा हो आती। जब आपने स्वामी केवलाश्रमजी से महाराजजी के त्याग और वैराग्य की प्रशंसा सुनी, और उनकी विचारपूर्ण बातों का पता चला, तो आपका हृदय उधर आकृष्ट होने लगा। महापुरुषों के अन्दर ऐसी शक्ति होती है कि

वे पुण्यात्मा को अपने आप ही खींच लेते हैं; हाँ, हृदय अहंकार-रहित और पवित्र होना चाहिए। पर यह तो पता न लगा, कि आप योग-मार्ग में इतने निपुण हैं। इस कारण दूसरा कोई सहारा न देखकर श्रीस्वामीजी महाराज से पूछने लगे, "स्वामिन! आप योग-विद्या जानते हैं, कृपा करके मेरे कल्याण के लिए उपदेश कीजिए।" आपने उदासीन भाव से उत्तर दिया, "मुझ से किसी का क्या उपकार हो सकता है। मैं तो किसी का कल्याण नहीं कर सकता। उपकार करने वाले तो एकमात्र प्रभु ही हैं।" "यह बात तो आपकी सत्य है। परन्तु परम्परा से गुरुजनों द्वारा ही दूसरों का कल्याण होता आया है।" इतना सुनने पर भी आप उदासीन ही रहे। यहाँ तो अपने गुणों को छिपाने की धुन थी। उन्हीं दिनों एक दूसरे योगाभ्यासी महात्मा उत्तर काशी में पधारे थे, वह बात-बात में योग-दर्शन के सूत्रों की साक्षी देते थे, जिससे उनके योग-बल की धाक जम गई। यह सब सुनते हुए भी जब लोकेषणा ही नहीं रही, तो फिर मन कैसे विचलित होता?

केवलाश्रमजी वेदान्ती थे, संत सियारामजी द्वैतवादी। इस कारण जब तारकानन्दजी ने जो केवलाश्रमजी के पास ठहरे हुए थे और उनके विशेष कृपापात्र थे, उनसे पूछा, "मेरी योग सीखने की इच्छा है, मैं इस मार्ग में स्वामी सियारामजी से दीक्षित होना चाहता हूँ, आपकी कैसी सम्मति है।" उन्होंने कहा "समकालीन योगी से ही योग सीखना अच्छा है, स्वामी सियारामजी का त्याग-वैराग्य तो प्रशंसनीय है, पर वे द्वैतवादी हैं। इनकी बात हमारी समझ में नहीं आती, कहीं धोखा न खा जाओ।" पर तारकानंदजी तो मुग्ध हो चुके थे। सोचा, विद्या की प्राप्ति करनी है, सो वह कहीं से मिले उसके

ग्रहण करने में दोष नहीं। एक और बात भी उनको बहुत खटकती थी। स्वामीजी तो षटचक्र भेदन के लिए छः मास का समय पर्याप्त बताते थे ; परन्तु वह योगभ्यासी महात्मा बारह वर्ष कहते थे ; सत्य-असत्य के निर्णयार्थ, उस महात्मा को श्रीस्वामी जी महाराज के पास ले आए। पर यहां तो मान-अपमान का मर्दन हो चुका था स्वाभाविक सरलता से बातें कहने लगे।

'आप क्या साधन करते हैं'

'थोड़ा सा जाप आदि'

'क्या आप अन्य हठ-योग की क्रियायें भी करते हैं'

'हाँ, घट शुद्धि के लिए थोड़ी बहुत वह भी कर लेता हूँ'

इन सरल उत्तरों से उस महात्मा की कुछ संतुष्टि न हुई और साधु-मंडली में उसने अपने भाव इस प्रकार प्रकट किए, "यह योग इत्यादि कुछ नहीं जानता, अँगरेजी पढ़ा हुआ है, प्रतिष्ठा चाहता है।" यह शब्द महाराजजी के कानों तक भी पहुँचे, पर आप अडोल ही रहे। महापुरुष गम्भीर समुद्रवत अचल रहते हैं। जहाँ अभिमान का लेश नहीं वहाँ क्षोभ और उद्वेग क्यों कर हो सकता है। और नाहीं उन्हें अपने गुणों का ढिंढोरा पीटने की चाह बाक़ी थी। तारकानन्दजी तो आपके साथ नीचे आकर योग सीखना चाहते थे, और जब उस योगाभ्यासी महात्मा ने कहा "यह योग जानते ही नहीं," तो वे फिर दुविधा में पड़ गए। महाराज जी की बात-चीत तो सत्य प्रतीत होती थी, श्रद्धा भी बढ़ गई थी। परन्तु अन्य सहवासियों की सम्मति भिन्न थी। स्वामीजी महाराज तो परहित में रत थे। दूसरों का संशय निवारण करने का यत्न, सर्वदा सरल से सरल विधि से किया करते थे। उनकी त्रुटि आपको संकोच में नहीं डाल सकती थी। वे उनका हित जरूर करते और उनके

दोष निवारणार्थ उचित उपदेश भी दे देते। ऐसा अनुभव करते हुए स्वामी तारकानंदजी एक दिन आपकी सेवा में उपस्थित हुए, और प्रणाम करके, दुविधा मिटाने के लिए उन्होंने बड़ी हिम्मत से ऐसा निवेदन किया, "मुझे इस बात का पता नहीं, कि आप योग जानते हैं कि नहीं। आप प्रतिज्ञा करें कि मैं आपके साथ रहने से धोखे में न रहूँगा, और आपके निर्दिष्ट मार्ग पर चलने में राग-द्वेष आदि क्लेश ढीले पड़ जायेंगे अथवा हट जायेंगे। यदि इस बात का विश्वास दिलायें, तो मैं आपके साथ चलूं।"

श्री महाराजजी थोड़ी देर चुप रहे। इतनी धृष्टता और इतना अविश्वास भी देख कर, आप किसी प्रकार से विचलित नहीं हुए। शंका सरल हृदय से की गई थी, कोई छल-कपट तो था नहीं कि आपके अति निर्मल चित्त में घृणा का भाव पैदा करती। अतः आपने कहा, "आप तीर्थ स्थान में मुझसे प्रतिज्ञा करवा रहे हैं, मैं प्रतिज्ञा क्यों करूं, मुझे आपसे धन की इच्छा नहीं, और न सेवा की ही आवश्यकता है। फिर भी मैं देखता हूँ कि आज-कल साधु-वेष-धारियों से, जो कहते कुछ हैं और करते कुछ हैं, जिज्ञासु लोग बहुत धोखा खाते हैं। मुझे स्वयं सत्रह साल धोखे में भटकना पड़ा है।" (उनके साथ उस समय स्वामी सत्यानन्दजी भी थे, उनकी ओर देख कर कहा) "इनसे पूछलो।" तारकानन्द जी ने कहा, मुझे आप के वचनों पर ही विश्वास है।" श्री गुरुदेव के सरल वाक्यों से वे बहुत प्रभावित हुए। आज तक कोई ऐसा दृष्टांत नहीं मिलता जब शिष्य के हितार्थ गुरु ने प्रतिज्ञा की हो। यह स्वामीजी महाराज की उदारता, सरलता, परोपकार-भाव और करुणामय हृदय का जाज्वल्यमान प्रमाण है।

स्वामीजी महाराज चाहे अपने गुणों को छिपाते ही थे तो

भी उत्तर काशी के बहुत से प्रसिद्ध साधु आपके वार्तालाप की शैली पर मुग्ध हो गए। फिर भी जब स्वामी तारकानन्दजी ने महाराजजी के विषय में स्वामी केवलाश्रमजी से जब कभी बात चलाई, तो वे उनकी निरभिमानता, सत्यशीलता, सरलता, दक्षता, त्याग, वैराग्य आदि अनेक गुणों को स्मरण कर गद्गद हो जाते थे। महाराजजी की शरीरांत की सूचना सुनकर वह सन्न रह गए। पीछे कहने लगे, "उत्तम वस्तु संसार में थोड़ी देर ही रहती है।" 'सच है, जो यहाँ प्यारा है, वह प्रभु को भी प्यारा लगता है।' स्वामीजी महाराज और स्वामी सत्यानन्द जी के मधुर, मनोहर मिलाप पर सब चकित थे। द्वैत-अद्वैत का भेद होते हुए तथा अन्य अनेक गुणों से अभिज्ञ होने पर भी सब लोग स्वामीजी के सरल व्यवहार पर ही मुग्ध थे। कितने सरल और फिर कितने सत्यता पर ही आरूढ़, न कोई बनावट और न कोई आडम्बर ही। सद्गुरुदेव प्रायः कहा करते थे, "जहाँ बनावट है, दिखलावा है, वहाँ जरूर पुलाड़ है," 'दाल में काला-काला प्रतीत होता है।' इस बात को उन जैसा निष्कपट संत ही जान सकता था। वे स्वयं कितने सूधे थे, यह वही जानते हैं जिनको उनके चरणों में रहने का कुछ भी अहोभाग्य मिला है अथवा उनसे बातचीत करके भांपने की बुद्धि रखते थे। स्वामी केवल-आश्रमजी भी कहा करते थे, "सियारामजी का ही यह सामर्थ्य है कि नाना प्रकार के विषय भोग पास होते हुए भी उनकी स्थिति पर्वत के समान अचल और अडोल रहती है।" योग-दर्शन में ऐसे स्थितिवाले पुरुष को ही धीर कहा है। 'विकार हेतौ विक्रियंते येषां न चेतांसि ते एव धीराः।' भगवान् कृष्ण ने जो जीवन-मुक्त का लक्षण श्रीगीता में किया है वह आप पर अक्षरशः घटता था।

दुःखेष्वनुद्विग्न मन सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ भ. गीता २, ५६

जिन सूक्ष्मदर्शी भाग्यशाली सज्जनों को श्रीमहाराजजी के समीप रहने का अवसर मिला है, उन्होंने कभी आपको शोक भय आदि के वशीभूत होते नहीं देखा ।

उत्तर काशी में आप एक बार शौच को बैठे थे । देखा कि सामने से एक भयंकर, पाँच छः हाथ लम्बा साँप फन उठाये आ रहा है । साँप ने आपको नहीं देखा था, वह आगे को बढ़ता ही आया । आप सोचने लगे कि "आत्मा तो नाश नहीं होता, शरीर का जैसा भोग है, वैसा ही होगा । देखें तो सही क्या होता है ?" निर्भय, द्रष्टा बन, साक्षी होकर, उसी स्थान पर डटे रहे । वह साँप एक हाथ की दूरी पर रुका और महाराज जी को चार-पाँच मिनट तक देखता रहा, फिर वापस लौट पड़ा ।

ऐसे ही जिस स्थान पर महाराज जी गंगा के किनारे बैठा करते थे, वहाँ भी पास ही एक साँप रहा रहता था । पहले दिन तो महाराज जी को देखकर डरा ; पर आपके निर्भय हृदय ने उसको भी अभय प्रदान किया । वह फिर हिल-मिल गया और आराम से खेलने लगा । कई दिन तक ऐसा ही होता रहा ।

क्रोध पर भी आपने पूरी जय प्राप्त कर ली थी । तारकानन्दजी शांति-प्रिय स्वभाव के भद्र व्यक्ति हैं । एकान्त वास उनको अच्छा लगता है । साधु लोगों के बहुत निकट रहने से यह वह भली भाँत जान गये थे कि थोड़े दिनों में खटपट हो ही जाती है । पर श्रीगुरुदेव के चरणों में कई वर्ष रहे, फिर भी कभी किसी भूल या त्रुटि के कारण आपको उद्वेग में नहीं पाया । अतः इसी कारण श्री महाराजजी से अधिक वार्त्तालाप करके लाभ उठाने का उन्हें ध्यान रहता था । वे जब सर्प तक को भय से मुक्त

कर देते थे तो मनुष्य को कहाँ भय में रख सकते थे ? इस कारण भी कई बार दुष्टों को आपकी सरलता से बेजा फायदा उठाने का अवसर मिल ही जाया करता था, और विचारहीन सत्संगी भी आपकी सज्जनता के महत्व को समझने में असमर्थ रहा करते थे। पर जब छली अपने अवगुणों को नहीं छोड़ते तो संत-सद्गुणों को क्यों त्यागने लगे ?

आप सर्वदा समाहित चित्त रहा करते थे, इसी कारण कभी-कभी अधिक भी खा जाया करते थे, जिससे पीछे कष्ट भी भोगना पड़ता। खाते-खाते भोज्य के स्वाद में ध्यान लगाने पर वृत्ति तदाकार हो जाया करती और इसी से स्वाद तो एक ओर रहा, यह भी भूल जाते कि हमें कितना खाना है। आपकी अवस्था तो ऐसी थी जैसा कि कहा है—

स्वादु खायें स्वाद न जानें, भोगें भोग न सुख को मानें ।
दृष्टि सदा आत्मा माहीं, रखें अन्य भाव में नाहीं ॥

ऐसे ही एक बार उत्तर काशी में पोदीने की चटनी बना रहे थे, तो तारकानन्दजी ने पूछा, "इस समय आपका चित्त कहाँ है ?" उत्तर मिला, "चटनी में।" वे कहने लगे "मैं तो उठते-बैठते, चलते-फिरते, सोते-जागते राम-नाम जपने की कोशिश करता हूँ क्योंकि भगवान् ने गीता में कहा है :—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ (८, ६)

यदि अभी आपका शरीर छूट जाय तो आप चटनी में ही रहे।" कितना साहसपूर्ण कटाक्ष और प्रश्न था, पर आप वैसे ही अडोल रहे। बड़ी सरलता से उत्तर दिया कि "मैं जो काम करता हूँ, उसी में मन को लगा देता हूँ।" कोई तर्क नहीं दिया, अपने गुणों का बखान भला उनको कैसे रुचता ? धीरे-

धीरे तारकानंदजी इस बात को भाँप गये कि योग की पराकाष्ठा किसमें है ? स्वामीजी का मन पर इतना क़ाबू था कि ऊब कर, किसी काम को बीच में छोड़ देना वह जानते ही न थे। काम एक करते हों और मन कहीं दूसरी ओर भटकता हो यह दुर्गुण है। 'योगः कर्मसु कौशलं' के अनुसार काम करने की चतुराई इसी में है कि जो काम करो, उसी में ही मन सावधान बना रहे। यही सहज समाधि है। जिधर मन को जोड़ा, उधर युक्त हो गया। कोई दूसरी बात उसको विचलित न कर सके। सधा हुआ घोड़ा कभी बेक़ाबू नहीं हो सकता, लगाम पकड़नेवाला दक्ष होना चाहिए।

शीघ्र ही सत्यव्रतजी तथा वंशीधरजी वहाँ से चले गये। जब तक पं० वंशीधरजी वहाँ रहे तो कभी कभी उनको गंगा-तट पर महाराजजी व्यवहार शुद्ध करने के सम्बन्ध में अनेक बातें नोट कराया करते थे।

४

जाग्रति-काण्ड

पहला प्रकरण

सेवा

अकतूबर में जब सरदी बढ़ने लगी, तो महाराजजी नीचे आये। जहां तारकानन्द जी बड़ी होशियारी से गुरुदेव की परीक्षा करते रहे, वहाँ महाराजजी बड़ी सरलता और निरभिमानता से उनका ज़िक्र इस प्रकार एक पत्र में करते हैं, "अब हम उत्तर काशी से चले आये हैं, और रास्ते में हैं। हमारे साथ एक ब्रह्मचारी आये हैं जो पाँच वर्ष से काशी, अयोध्या, हरिद्वार, ऋषिकेश, बद्रीनारायण, केदारनाथ, गंगोत्री आदि की तरफ़ योगियों की तलाश में फिरते रहे हैं, परन्तु अभी तक उनको कोई ऐसे महात्मा नहीं मिले कि जिन पर उनकी पूरी श्रद्धा हो। इसलिये अब वे हमारे साथ देहरादून आये हैं, और वहीं पर योग-अभ्यास में लगेंगे। पीछे से कुछ दिन में उत्तर काशी के और साधु लोग भी योग-अभ्यास के लिये आने को कहते हैं। एक पुरुष पंजाब से आयेंगे और कुछ देहरादून के होंगे। इस लिये हम समझते हैं कि अब की जाड़े में इन्हीं महात्माओं की

सेवा करें। आगे जैसी ईश्वर की मरज़ी होगी वैसा होगा।" कितनी सरलता और कितना सेवा-भाव है। सच है 'सेवा में प्रभु आप है, नहीं पाप नहीं ताप'। पुरुष सेवा से ही महान होता है, फिर आप तो ईश्वरपरायण थे।

स्वामी सत्यानंद जी भी साथ ही उतर आये। जाड़े में महाराजजी ने देहरादून में डेरा लगा दिया। अजबपुर के पास ठहरने का प्रबंध किया गया। पं० रलारामजी शास्त्री भी यहीं आकर दीक्षित हुये। अभ्यासियों का शरीर कमज़ोर रहता है, इसलिये आप सबकी सेवा में तन-मन से लगे रहे। आपका कथन कि 'सेवा करेंगे' शब्द मात्र न था और न किसी अभिमानी गुरू का व्यंग भरा वाक्य ही था ; परन्तु आपकी करनी से स्पष्ट प्रकट था कि आप किस प्रकार मुमुक्षुओं के कल्याण के निमित्त अपनी दयालुता दरशाते थे। हाँ, जहाँ चित्त गवाही न देता. वहाँ तो उदासीन रहते, रूखा उत्तर भी दे देते, पर जिधर ईश्वर की प्रेरणा हो जाती, उधर तो ऐसी तन्मयता से जुटते कि मानों मोह में फँसकर कार्य्य कर रहे हैं। जिस किसीको आपने अपनाया, उसे यही प्रतीत हुआ कि आप मेरे परम हितैषी हैं। पर यह सब होते हुए भी जब उस प्राणी में छल-कपट का व्यवहार देखते और वह सुझाने-बुझाने पर भी ठीक करने का यत्न न करता तो उदासीन भी हो जाया करते और कहते 'अच्छा हुआ, ईश्वर ने चिन्ता से छुटकारा दिया'। और यदि अपने प्रेमपात्र के लिये किसी विशेष आज्ञा की आवश्यकता न होती, तो भूल ही जाते, मानों उससे सम्बन्ध ही नहीं रहा।

शुद्ध अन्न की आप बड़ी आवश्यकता बताया करते थे। खेती कटने के बाद, जो कुछ अन्न रह जाता है उस अन्न को बहुत पवित्र माना गया है। कहते हैं, ऋषि कणाद भी ऐसे ही

अन्न को वीन कर खाया करते थे। आपके देशकी एक माई ने ऐसा ही कुछ अन्न एकत्र करके भेजने की आज्ञा मांगी। उसकी सूचना को पढ़कर आप लिखते हैं, "पढ़कर चित्त प्रसन्न हुआ। तू ने जो नाज चुन कर तैयार किया है, वह हम इन्हीं अभ्यासियों को खिलायेंगे और हम भी खायेंगे। जो नाज कुँवार में पकेगा उसकी ज़रूरत नहीं, क्योंकि चुना हुआ जो नाज है वह उससे अधिक गुणकारी है। इस लिये जितना तेरे से हो सके, प्रसन्नतापूर्वक तैयार करके भेज दे। तेरी यह मेहनत बहुत फलदायक होगी।"

इन्हीं दिनों देहरादून में वायसराय आये हुये थे, इसलिये खुफ़िया पुलिस के अनेक गुप्तचर वहाँ आते, विघ्न-बाधा डालते, पूछ-ताछ होती रहती थी परन्तु महाराजजी बड़ी सरलता और सौम्यता से सब कुछ सुनते और उचित उत्तर देते रहे।

जब तारकानंदजी यहाँ से जाने लगे, तो उन्होंने रुद्ध कण्ठ से श्री महाराजजी से निवेदन किया, "आपने जो मेरी निष्काम और निःस्वार्थ-भाव से सेवा की है, उससे मैं कैसे उऋण हो सकूंगा।" उत्तर मिला "पता नहीं, मैंने सेवा की है अथवा ऋण चुकाया है।" भला ऐसे महापुरुष के संग में शांति न मिलती तो अन्य कहाँ मिल सकती थी? आप इस क़र्ज के चुकाने के भाव से ही, ईश्वरीय प्रेरणा के अनुसार, दत्तचित्त होकर सब कष्ट सहते अथवा सब प्रकार की सेवा किया करते थे। आप कहा भी करते थे, "जिस का जैसा भाग्य अथवा भोग होगा, वह हमसे उतनी ही मजदूरी करा लेगा, हम भी सहर्ष उसकी सेवा करते हैं। यही समझते हैं कि जितना ऋण उतर जाय उतना ही जन्म-बंधन के चक्कर से शीघ्र छुटकारा मिलेगा। कहीं कुछ रह गया तो फिर जन्म लेकर संसार में दुःख भोगना पड़ेगा।"

जब महाराजजी देहरादून से छुट्टी पाकर वृन्दावन पधारे तो स्वामी सत्यानंदजी भी वहां पहुँच गए। यहाँ आप बड़े आनंद से कुछ रोज़ विचरते रहे। यथापूर्वक यमुना की रेती में, श्रीकृष्ण की बाल-लीला का स्मरण करते हुए श्रीगुरुदेव अपने युवक सखा के संग समय बिताने लगे। गरमी बढ़ती आई, पर जहाँ प्रभु ने भोगवश डाल दिया, उसके आदेश के अनुसार वहाँ ही मस्त होकर रहते रहे।

जिस कार्य्य को श्री महाराजजी अपने हाथ में लेते थे, उसको बड़ी कुशलता और परिश्रम से पूरा कर देते। जब कभी यह देखते, कि उनकी सहायता से किसी को लाभ होता है, और वह कार्य्य शास्त्र-विरुद्ध नहीं है परन्तु धर्म के अनुकूल है, तो चाहे वह कैसा ही साधारण काम क्यों न हो, उसमें दूसरे की भलाई जानकर प्रवृत्त हो जाते और प्रसन्नता से सब कष्ट सह लेते थे। आप तो व्यवहार में ही परम सिद्धि का उपदेश दिया करते थे। 'जो व्यवहार के कार्य्य में गड़बड़ी से काम करता है, तो अभ्यास में भी उसके मन का बिगड़ा स्वभाव उसको सफलता नहीं दिला सकता।' इसी से पता चलता है कि आपका मन पर कितना क़ाबू था। अपना तो काम समाप्त कर चुके थे, जितना समय होता, आप दूसरे के कल्याण में लगा देते। हाँ, यदि किसी कार्य्य में विशेष बंधन की शंका होती तो उसमें न पड़ते, या पहले से ही कह देते कि जब चित्त नहीं चाहेगा झट छोड़ देंगे। जहाँ ज़रूरी होता सब कष्ट सहते, कमज़ोर होते हुए भी इतने साहस से काम करते कि जवानों में उत्साह भर जाता, और वह अपने आलस्य पर शरम खा जाते।

ब्रह्मचारी सत्यव्रतजी का शरीर उत्तर काशी से लौटने पर कुछ गड़बड़ा गया था। पीछे से संग्रहणी का ज़ोर से आक्रमण

हुआ। गुरुजी तो समाचार पाते ही रहते थे और उचित परामर्श भी देते रहते थे। जब शरीर बहुत कमज़ोर हो गया और रोग के बढ़ने के कारण आशा भी छूटने लगी, तब स्वामीजी की सेवा में एक पत्र लिखा, "बचने की आशा नहीं, दर्शनों को चित्त बहुत चाहता है। यदि कृपा हो सके, तो अहोभाग्य होगा!" कृपालु स्वामीजी महाराज ने उत्तर भेजा, "शरीर नहीं छूटेगा, घबराओ नहीं, शीघ्र आ जाऊँगा।"

मई मास में लाहौर से होते हुए आप अजमेर पधारे। आते ही ब्रह्मचारीजी को जाकर देखा, ढारस बँधाया। फिर शीघ्रही उनकी अवस्था भी सुधरने लगी। महाराजजी पं० बंशीधरजी के पास ठहरे हुए थे। एक दिन पं० वंशीधरजी ने महाराजजी से निवेदन किया कि यदि आप लाहौर दयानन्द कालिज के विद्यार्थियों में योग मार्ग का प्रचार करें तो देश तथा जाति के कल्याण में बहुत सहायता मिले। इस प्रार्थना को महाराजजी ने यथार्थ जान स्वीकार किया और थोड़े दिन बाद लाहौर में युवकों को जगाने का प्रयत्न भी किया। एक दिन सत्यव्रतजी अपनी हालत कुछ अच्छी देख कर, ताँगे पर चढ़ महाराजजी के दर्शनों को आए, पर उनका कमज़ोर शरीर इस परिश्रम को न सह सका, अवस्था कुछ फिर बिगड़ गई। जब उनकी हालत सुधरने लगी तो महाराजजी वहाँ से आबू को चले गए।

सत्यव्रतजी को यह कई बार अनुभव हुआ, कि जब-जब उनका शरीर बहुत खराब हुआ, और उन्होंने श्रीगुरुदेव को इत्तिला दे दी, तो आपके पास चिट्ठी के पहुँचने के दिन से ही अथवा उत्तर आने के दिन से, उनकी अवस्था सुधरने लगती। वे इसको महाराजजी की शुभ कामना का ही फल मानते रहे।

दूसरा प्रकरण

मान-परीक्षा

इस वार महाराजजी आबू पहुँच कर राम-कुण्ड पर ठहरे। आबू की महाराजजी वड़ी प्रशंसा किया करते थे कि अँगरेज़ों के पहुँचने से पहले वहाँ वहुत सिद्ध लोग रहा करते थे। जनता रात को कई जगह जंगल में रोशनी देखती थी। एक फ़ारेस्ट आफ़िसर को, जब वह रास्ता भूल गए थे, एक महात्मा मिले, जिन्होंने उनको नाम से पुकारा और पूछा, "आप तो यहाँ के अफ़सर हैं, यदि आपकी आज्ञा हो, तो हम यहाँ से लकड़ी ले लिया करें।" फिर वह चले गए और आड़ में होकर ग़ायब हो गए। पीछे से उन्हें यह ख्याल आया कि यह वही महात्मा थे कि जिनकी तलाश में वह गए थे। पर अब तो अवसर हाथ सें निकल चुका था, क्या करते। जबसे अँगरेज़ों का आना जाना हुआ है, तब से वहाँ रात को जंगल में वहुत कम रोशनी दिखाई देती है। यह भी कथा सुनी जाती है, कि एक वार कई दिन तक यह आकाश-वाणी गूंजती रही 'सिद्धो! उत्तराखण्ड चले जाओ, यह भूमि तुम्हारे रहने लायक़ नहीं रही'।

यहाँ पर एक दिन पं० मदनमोहन जी मालवी से महाराज जी का मेल हो गया। कई दिन तक वातचीत होती रही। मालवीजी आपकी वातों से वहुत प्रभावित हुए और उन्होंने आपसे अनुरोध किया कि 'आप मेरे पास चल कर रहें'। पर इस बात को महाराजजी ने स्वीकार नहीं किया।

पण्डित वंशीधरजी भी यहाँ आए हुए थे। एक दिन उनको

बड़ी भूख लगी, तो शरीर कमज़ोर होते हुए भी, वहां से बड़ी दूर जाकर कुछ खाने को ले आए। जब महाराजजी को पता लगा तो आपने कहा, "जैसे भूख के कष्ट को दूर करने के लिए आप इतनी दूर खाने का सामान लाने के लिए गए, ऐसे ही यदि आपको यह निश्चय हो कि अन्तःकरण की शुद्धि के लिए हवन करना वैसा ही आवश्यक है, तो आप इस भूख के कष्ट की भी परवाह न करते हुए, पहले उस धर्म-नियम का अवश्य पालन करते। पर अँगरेज़ी पढ़े-लिखों को तो शास्त्रों में विश्वास ही नहीं। नहीं तो किसी क़िस्म का बहाना भी न बनायें कि जंगल में लकड़ी अथवा सामग्री नहीं मिल सकती। जैसे शरीर के लिए दूर जाकर भी आहार ले आते हैं, वैसे ही अन्तःकरण के लिए भी कष्ट उठा कर सब प्रबन्ध हवन आदि का हो सकता है।"

थोड़े दिन पश्चात् महाराजजी पण्डितजी के साथ कश्मीर चले गए। रास्ते में अमृतसर के स्टेशन पर सत्यानन्दजी के पिता भी मिले। उनसे भी स्वामीजी ने कह दिया, "तुम्हारे पुत्र अब मेरे वश में नहीं हैं, मुझे पता भी नहीं कि वह कहाँ गए हुए हैं। यदि कुछ और बात हमारे बस की हो तो कहो।"

कश्मीर में पहुँचकर महाराजजी हाउस बोट में रहने लगे। यहाँ पर पंडितजी का स्वास्थ्य भी कुछ अच्छा होने लगा और महाराजजी का चित्त भी बहुत शाँत रहता था। एक जिज्ञासु को उत्तर देते हुए आप ऐसा लिखते हैं "मेरी रुचि अब पत्र लिखने में नहीं। आप अपने संशयों को स्वयं विचार कर निवृत्त कर सकते हैं। जब तक उत्तर न मिले, धीरज से उसी प्रश्न को बार-बार अपने सामने रखते रहो।"

जब महाराजजी कश्मीर में थे, तो राजा की ओर से यत्न हुआ कि आप उनको सत्संगति का अवसर दें और राजा के

गुरु बनें। ब्रह्मचारी नित्यानंदजी तो आपसे पहले ही परिचित थे। उन्होंने आपसे कुछ भजन की विधि भी सीखी थी। वे महाराज कश्मीर के पास रहा करते थे। उनकी ही प्रेरणा से संत सियारामजी को भी बुलवाने का प्रबंध हुआ। एक बड़े राज्य-कर्मचारी हाउस बोट में आए, पर वे महाराजजी के पास कुछ विशेष ठाठ-बाठ और आडम्बर न देखकर प्रभावित नहीं हुए। वापस लौट गए। पर जब नित्यानंदजी ने कहा कि "वही सीधे-सादे पुरुष ही गुदड़ी के लाल हैं," तो फिर एक दूसरे राज्य-कर्मचारी वहाँ भेजे गए। पंडित वंशीधरजी भी उस समय वहीं थे। बात-चीत होती रही, पर श्री गुरुजी किसी प्रलोभन में न फँसे। यही निश्चय किया, "राजा के लिए अपनी प्रजा की रक्षा और पालन-पोषण पर्य्याप्त कार्य्य है, उसी को धर्मानुकूल करना चाहिए। शेष किसी बखेड़े में पड़ने से राज्य-कार्य्य में हानि होने की सम्भावना है, जिससे प्रजा को जो भी दुःख होगा उसका पाप उनके सिर रहेगा।" बरसोड़ा में आप अनुभव कर चुके थे कि राजों के लिए, इस मार्ग के कड़े नियम पालना कठिन है। उनके सिर इतनी जिम्मेदारी होती है, कि वे उसी को ही नहीं निभा सकते। इसी कारण आप महाराज बीकानेर के ऐसे ही निमंत्रण को अस्वीकार कर चुके थे। मान-मर्य्यादा की इच्छा तो थी नहीं फिर जब दूसरे के कल्याण की भी सम्भावना न हो, तो उसमें व्यर्थ समय क्यों नाश करते और अपने आपको बंधन में डालकर कष्ट क्यों सहते ? अस्तु येन केन प्रकारेण, आपने उस झंझट से अपना पीछा छुड़ा लिया।

सत्यानन्दजी, तारकानन्दजी के साथ कश्मीर पहुँचे हुए थे। पर उनको वहाँ रहते हुए यह पता न चला कि स्वामीजी भी वहाँ आए हुए हैं। सत्यानन्दजी, प्रोफेसर सदानन्दजी से कहते

रहते थे कि "आप कुछ साधन करें, जीवन वृथा चला जाता है।" गरमी की छुट्टियां होने पर सदानन्द जी भी पीछे से कश्मीर पहुँचे। उसी साल कृष्णकुमारजी को भी जब वे कालिज में पढ़ते थे, प्राफेसर सदानंद जी के मकान पर स्वामी सत्यानंदजी के दर्शन हुए थे। आप जैसे सौम्य और विनीत महात्मा के दर्शन से उनके चित्त को बड़ी शांति मिली थी।

यह तीनों, श्रीनगर से १२ मील परे 'दानेहोम' ग्राम के पास ठहरे रहे। वर्षा-ऋतु में कभी-कभी घूमते-फिरते भी रहते थे, भीग भी जाते। ऐसे कारणों से स्वामी सत्यानंदजी के जोड़ों में दर्द रहने लगा। जब कई दिन तक दर्द बढ़ता ही गया, तो यह सब वहां से डेरा उठाकर, शहर के क़रीब हरि-पर्वत के पास वाले मंदिर में रहने लगे। कुछ औषध-उपचार भी होता रहा। एक पुजारी ने कुट का प्रयोग बतलाया, कुछ दर्द कम हुआ। ऐसी दिक़्क़त के कारण कुछ नियमपूर्वक साधन न हो सका। अतः सदानंदजी थोड़े दिनों में वापस लौट आए। लाहौर से आपने आकर स्वामी सत्यानंदजी को पत्र लिखा, "आपको वहां का जल-वायु अनुकूल नहीं है, इसलिए बेहतर है कि आप यहाँ आ जायें"। थोड़े दिन पीछे, वे दोनों लाहौर पहुँच गए। यहाँ आकर स्वामी सत्यानंदजी ने अपनी अस्वस्थ अवस्था का वृतान्त महाराजजी को वृन्दावन के पते से दिया। वह पत्र स्वामीजी को कश्मीर में मिला। वृतान्त जानकर आपने खेद प्रकट किया और तसल्ली भी दी। साथ ही यह भी लिखा, 'हमको भी ऐसा पता चला था कि आप लोग कश्मीर में आए हुए हैं। कुछ ढूंढ़ा भी, मगर आप मिल न सके!'

तीसरा प्रकरण

मौलिक उपदेश

जब इन सब को महाराज जी का कश्मीर से पत्र मिला, तो यह बड़े दुखी हुए कि वहाँ रहते हुए भी आप के सत्संग से लाभ न उठा सके। फिर कश्मीर लौटना तो सम्भव न था। महाराजजी से निवेदन कर भेजा कि आप लाहौर में दर्शन देकर कृतार्थ करें। लाहौर से आपके एक भक्त ने भी बड़े भक्ति-भाव से एक निमन्त्रणपत्र भेजा जिसके उत्तर में स्वामीजी ने ऐसा लिखा :—

'श्रीमान् सद्गुण-पूर्ण, धर्म-मूर्त्ति, जिज्ञासु, सदा आनन्द जी महाराज को सविनय प्रणाम पहुँचे। कृपा पत्र आपका इस वक्त प्राप्त हुआ। जैसे किसी ग़रीब ब्राह्मण को बहुत दिनों में खीर-पूड़ी का निमन्त्रण पाने से आनन्द होता है, ऐसा ही आनन्द आपके पत्र से हमको मिला। इसमें सन्देह नहीं कि आपको स्मरण करने से ही चित्त प्रसन्न होता है फिर आपके दर्शनों को पाकर क्यों न प्रफुल्लित होगा। जहाँ तक सम्भव हुआ, कम से कम दो-तीन दिन के वास्ते अवश्य ठहरने का विचार है, आगे अन्न-जल के आधीन है।'

अक्तूबर १९१६ में स्वामी जी महाराज लाहौर पहुँच गये। आप के यहाँ ठहरने का यह पहला अवसर था। मई १९१२ में, पहले-पहल एम० एस०-सी० की परीक्षा देने के पश्चात् वे कनखल में जाकर स्वामी जी के दर्शन कर आये थे। दूसरी वार १९१४ में वृन्दावन भी दो-तीन रोज़ ठहर कर दर्शन किये थे। वैसे तो स्वामी सत्यानन्दजी के मुख से महाराजजी के सद्गुणों का कई वार वर्णन सुन चुके थे जिससे

दर्शनों के लिये लालायित रहा करते थे। खैर, अबकी बार यह मेल एक अनुपम मेल था; मानों किसी पुराने सहकारी को बड़ी खोज से पाया हो। ऊपर दिये पत्र से महाराजजी के भाव बड़े स्पष्ट हैं। महाराजजी प्रायः कहा करते थे "सब की सेवा करते रहो, और सृष्टि का नाटक देखते जाओ, पीछे फिर से देखने की इच्छा शेष न रहने पाये, नहीं तो फिर यह झगड़ा आगे आन-कर खड़ा हो जायेगा। यदि बाज़ीगर की वृत्ति रहे कि मदारी ने खेल तो दूसरों को दिखला दिया, परन्तु अपने आप उसमें आसक्त न हुआ, उसका लक्ष्य केवल लोगों को प्रसन्न करके पैसा कमाना होता है, इसी तरह यदि केवल ईश्वर को प्रसन्न करना लक्ष्य हो तो ठीक है। वे आपही सँभाल लेंगे।" इस उपदेश को आपके भक्त ने अनेक वर्षों के सत्संग से चरितार्थ करने का पूरा यत्न किया है। उसमें जो भी सफलता हुई है वह महाराजजी में आपकी अगाध भक्ति और उनकी कृपा का ही प्रताप है।

इस वार का मेल ऐसा हुआ कि फिर तो शरीर शांत होने तक आप पर महाराज जी की बड़ी कृपा बनी रही। आपसे ही स्वामी जी अन्न-वस्त्र की सेवा लेते रहे। आपके शुद्ध भाव की प्रशंसा सब से किया करते कि 'कैसे निष्काम-भाव से सब प्रकार से सहायता करने के लिये तैयार रहते हैं।' आपके हृदय की पवित्रता को, महाराजजी का निर्मल चित्त, शुरू से ही भांप गया था। उनके उत्साह और कार्य्य-कुशलता पर आप सदैव प्रसन्न रहे। व्यवहार सम्बन्धी अनेक बातों में इनसे सलाह लिया करते थे। दूसरे सत्संगियों को भी यही राय देते, 'आपसे सलाह ले लेना।' आपकी सूक्ष्म बुद्धि को महाराजजी शीघ्र ताड़ गये। जितनी गहराई से आपने महाराजजी के सदुपदेशों को ग्रहण किया है, वैसा कम लोगों ने जाना है। अपने व्यवहार सम्बन्धी अनेक अड़चनों के

होते हुए भी, जैसे आपने अपने कल्याण का मार्ग निकाल लिया है उसको बहुत कम जानते हैं। महाराजजी के चित्त की गवाही ही सब से बड़ी साची है कि अन्त तक आपका निर्मल चित्त, उनके अन्न को ग्रहण करने से प्रसन्न होता था। इसी से ही, इनके व्यवहार-आचार की निर्मलता स्पष्ट प्रकट है।

महाराजजी थोड़े दिन ही यहाँ पर रहे। डाक्टर हरनामदास जी आपके दर्शन करने आये। और वैसे भी अनेक विषयों के सम्बन्ध में बातें चलती रहीं, जिसमें से कुछ उपदेश जो आपके भक्त ने लिख रखे थे, हम पाठकों के सामने उपस्थित करते हैं।

१—अहिंसा—'हिंसक जीव, सिवाय इसके कि भोग बड़ा प्रबल हो, बिना छेड़ने के कष्ट नहीं देते। गुरु-कुल में रहते हुए अनेक वार विच्छू हमारे आसन के नीचे रहा करते, पर न हमने कभी उनको मारा, न उन्होंने कभी काटा। ऐसे ही पहाड़ में कई वार सर्प के दर्शन हुए, उसके पास आने पर भी, जब हमने कुछ नहीं कहा, तो वह भी चुप-चाप चले गये। मच्छर तो प्रेम से काटते हैं, यहाँ द्वेष का भाव नहीं, क्योंकि जब हम फल तोड़ते हैं, तो हमें वृत्त से कुछ द्वेष नहीं। दुःख के दूर करने वाली वस्तु प्रेम से तोड़ी या काटी जाती है, इसलिये, वृत्तों को भी निरर्थक नहीं छेड़ना चाहिये।'

२—लोभ—'जब तक मनुष्य समझता है कि मेरा संसार से लाभ है तब तक लोभ है। यदि मुझे आठ हज़ार रुपये काफ़ी हैं और मैं एक करोड़ जमा करने का यत्न करता रहूँ तो यह लोभ है। जब ज़रूरत नहीं है तो आगे को इच्छा करना लोभ प्रतीत होता है। जान-बूझकर ज़रूरतें खड़ी करें, तो कोई अन्त नहीं। सोने के खम्भों वाला मकान हो, और सोने के बर्तन हों तो थोड़ा फ़ायदा भी है, पर नाम अधिक है। ज़रूरतें पशुओं से अधिक

नहीं होनी चाहिये। जितना कुछ कर्तव्य-पालन के लिये आवश्यक है, वही ठीक है। केवल निन्यानवे के फेर में पड़ना लोभ है, दुःख का मूल है, बन्धन का कारण है और महामूर्खता है।'

३—संतान-शिक्षा—बहुत पढ़ाई-बढ़ाई सब फ़जूल है। सच्चाई की तरफ़ ले जाना लक्ष्य होना चाहिये। बच्चे को संतोष में रक्खें, ज्यादह ऐश में न जाने दे। ए० बी० सी० की ज़रूरत नहीं है। सारी किताबों को पढ़ने से नतीजा क्या निकलता है। अगर हमारा बच्चा होता तो हम पढ़ाते ही नहीं उसको थोड़े दिन में स्वतंत्र कर देते। 'मनुष्य का कर्त्तव्य क्या है,' यही जानना है। अपने अन्दर से टटोले तो पता लगता है कि दुनिया के कामों में धंधा बहुत है, लाभ थोड़ा है। ट्रेनिंग देने के लिए जैसा कुछ हो वैसा करना चाहिये।

४—सत्य—सत्य का ग्रहण और झूठ का त्याग यही बड़ा आवश्यक है। इसके अतिरिक्त और कोई बात नहीं। धोखे से अपने आप को बचाना चाहिये। मनुष्य धोखे को छोड़ दे तो बाक़ी निर्णय हो जायगा। जितने अंश में धोखा है, उतने अंश में आवश्यकताएँ बढ़ती ही जाती हैं, बार-बार अपने को समझाते रहो और मन को उपदेश देते रहो कि क्या लाभ प्रतीत होता है। अगर लाभ नहीं तो 'तेरा धोखा है, तू बड़ा मूर्ख है' इस तरह मन को समझाता रहे। इसी से मन का ख्याल शिथिल होता जायेगा। हठ से तो बन्द न होगा। नदी को अगर बंद कर दिया जाय, तो एक दिन तोड़कर ऊपर से चली जायेगी। मन समझाने से धोखा छोड़ देगा और काम बन जायेगा। इसी प्रकार से जितनेभी मानसिक रोग हैं—काम, क्रोध, लोभ आदि – उनका निदान भी विचार से होना चाहिये। शारीरिक रोग तो औषधियों से ठीक हो जाते हैं—पर मानसिक रोग विचार से अथवा सत्य के ग्रहण से ही ठीक हो सकते हैं।

५—मोह—मोह की वड़ी कड़ी लड़ी है। परन्तु मुसाफिर-दृष्टि से देखने पर सव सम्बन्ध कल्पित मालूम होते हैं। ट्रेन के डब्बे में वहुत से आदमी बंद हैं। टिकट समाप्त होने पर उतरते जाते हैं। जव तक रहते हैं एक दूसरे की सहायता करते हैं, मित्रता हो जाती है, पर कोई चले जाने पर कुछ मोह नहीं करता। ऐसे विचार गृहस्थी को रखना चाहिए। जितने दिन का जो टिकट लाया है उतने दिन रहेगा। संयोग-वियोग होना, इसी का नाम सृष्टि है। ऐसा विचार करते रहना चाहिए— 'आते हैं, जाते हैं, जव उनको जाना होगा, वह चले जायेंगे, जव हमें चलना होगा हम चल देंगे। मोह क्यों करना है'? अपना कर्त्तव्य करते जाओ, इतना ही सम्वन्ध है, और कोई सम्बन्धी नहीं।

६—काम-क्रोध—जव मरीज़ वेहोश होता है, तव कुछ नहीं सूझता। होश आने पर, सत्संग से कुछ २ समझ में आता है। जव समझ में आए तो फिर उस पर अमल करे। काम-क्रोध का वेग तो आना स्वाभाविक है पर आदत को पक्का करने के ज़िम्मेवार हम हैं। क्रोध आवे तव वोलें ही नहीं, इतनी सज़ा काफ़ी है कि क्रोध के मन में रहने से खुद जलता रहे। जव शान्त हो, तो फिर अपनी मूर्खता पर विचार करे। ऐसे ही स्त्री के शरीर की गंदगी को सामने रक्खे। पसीने से वदवू निकलती है। तमाम सुराखों से मल निकलता रहता है। शरीर में हड्डी, मांस, कफ़, वात आदि के सिवाय है क्या? असली स्त्री पर तव-ज्जोह नहीं देता। असल वस्तु पर ध्यान रखने से ही धोखा मिट सकता है। मौक़ा आने पर इन विचारों को अमल में लावे। यदि एक वार चल पड़ा, तो वल वढ़ता जाएगा। यह भी विचारता रहे कि सव अपना प्रारब्ध साथ लेकर आते हैं। मनुष्य

को मिथ्या अभिमान नहीं करना चाहिए कि मैं किसी का पालने वाला हूँ। सत्संग से चितावनी आती है, अपने आप नहीं आती इसीलिए किसी अच्छे आदमी की सत्संगति करते रहना चाहिए। किसी किसी के कहने की ऐसी रीति होती है, जिससे दिल में वात जच जाती है। और कोई मौक़ा ऐसा होता है कि कहने से चितावनी आ जाती है। इसीलिए सत्संग की बड़ी महिमा है।

७—पुरुपार्थ—निर्णय करना, शुभ कर्म करना, शरीर की रक्षा करना, सत्संग करना, यह सब पुरुषार्थ है। मिथ्या बुद्धि को हटाना पुरुषार्थ है। पुरुपार्थ केवल परमार्थ के विषय में है। और तरफ नहीं। विचार की तरफ़, अभ्यास की तरफ़, सत्य की तरफ़, जो पुरुषार्थ है वही असल में पुरुपार्थ है। अन्त:करण की शुद्धि के लिए ही पुरुपार्थ होता है। बाक़ी जितने दुनियावी काम हैं सब प्रारब्ध-वश हैं। नौकरी करना, शादी करना, धन कमाना, यह प्राय: भोगवश होता रहता है। बुद्धि का काम दुनियां में ज्यादह होता है, इसीको ठीक करना परम पुरुपार्थ है। जितनी बुद्धि शुद्ध होगी उतना ही अधिक वह विचार में लगेगी, और विषयों में कम। जिनकी बुद्धि मंद है, शास्त्र के अनुसार कर्म करना उनके लिए आवश्यक है। फिर धीरे-धीरे उनकी बुद्धि बढ़ जाएगी। ज्ञान-इन्द्रियों से ज्ञान का ही काम लेना चाहिए। वे ज्ञान के साधन हैं, इनसे केवल ज्ञान ही प्राप्त करना चाहिए। कर्म-इन्द्रियों से कर्म किया जाता है। इन्द्रियों के कर्म और ज्ञान दो ही काम हैं। विषय सेवन करना इन्द्रियों का काम नहीं है। शास्त्र ने किसी को 'विषय इन्द्रिय' नहीं कहा। यह सब मनकी चालाकी है। पुरुषार्थ से सब कुछ ठीक हो सकता है। पुरुषार्थ की बड़ी महिमा है। सब साधन इसी के अन्दर आ जाते हैं; पर पुरुषार्थ

'परमार्थ के सम्बन्ध में ही होना चाहिए'। ऐसे-ऐसे अनेक उपदेशों से आप अपने भक्त को अनुगृहीत करते हुए थोड़े दिन लाहौर रहे।

कश्मीर से झटपट नीचे उतर आने के कारण, कुछ बुखार सा भी होगया। सत्यानंदजी का शरीर भी वायु के रोग से पीड़ित था। उनका भी कुछ न कुछ औषध उपचार होता रहा। साथ ही महाराजजीने उनको फटकारा भी, "कश्मीर तुम क्यों गए थे, तुम्हारे चित्त में सुन्दर दृश्य देखने का सूक्ष्म राग है। कश्मीर कोई तपोभूमि तो है नहीं, यह तुम्हारे राग का ही फल है। अब बड़े आनन्द से दुःख को भोगते चले जाओ।" स्वामी सत्यानंद ने भी अपनी भूल को स्वीकार किया।

यहां पर स्वामी सत्यानन्द के पिता अमृतसर से आ गए। नवम्बर का महीना था, सर्दी आरम्भ हो गई थी। सत्यानंदजी एक चादर ओढ़े बैठे थे। पिता को देख कर तो यही विचार आया कि "अब महाराजजी फिर मुझे अमृतसर जाने को आज्ञा दे देंगे।" परन्तु उनको वहां जाने का बिलकुल चित्त नहीं होता था, केवल लँगोट बाँधे ही वहाँ से उठे और बाहर चले गए। जब पूछा "कहाँ जाते हो ?" तो कहा कि "पेशाब करने जा रहा हूँ।" पेशाब करने के बाद आप वहाँ से चले गए। रात को किसी सराय में जाकर रहे। बैठे-बैठे सर्दी में ठिठु-रते रहे। दो-तीन दिन तक वापस नहीं लौटे। उनके पिता इन्तज़ार करने के बाद हताश होकर लौट गए। जब सत्यानंदजी लौट कर आए, तो उन्होंने अपना सारा वृतान्त स्वामीजी को सुनाया। महाराजजी ने कहा, "यदि तुम यहां होते तो मैं ज़रूर तुम्हें अमृतसर जाने को कह देता। तुमने अच्छा किया जो अपना रास्ता निकाल लिया।"

यहाँ पर रहते हुए स्वामीजी सत्यानंदजी को मल-मल कर

स्नान कराते थे। ऐसा प्रतीत होता था कि कोई शिष्य गुरू की सेवा कर रहा है। महाराजजी तो मित्र-भाव से सब काम किया करते थे। इसलिए अवसर आने पर अपने साथियों की सेवा में कभी किसी प्रकार का संकोच नहीं करते थे।

ब्रह्मचारी तारकानन्दजी ने पूछा, "महाराजजी, यम-नियम का अच्छी तरह यथाशक्ति पालन करता हूँ, धार्मिक पुरुषों का अन्न भी मिलता है फिर भी मन शान्त नहीं होता।" उत्तर मिला, "प्रतिग्रह अन्न से मन का शांत होना कठिन है, जब म अपना कमाया हुआ अन्न खाता था, तो मन अनायास ही शांत रहता था। अब दूसरों का अन्न खाता हूँ, ध्यान भी रखता हूँ कि अच्छी कमाई का खाऊँ, श्रद्धालु से ही लूं जो निष्काम भाव से देता हो, जितनी होती है उनकी सेवा भी करता हूँ, फिर भी मन को शांत करने के लिए ज़ोर लगाना पड़ता है।" महाराजजी को इस ऋषि-वाक्य पर बहुत श्रद्धा थी, और आपका अनुभव भी इसको पुष्ट करता था :—"अन्न शुद्धौ सत्व संशुद्धिः, सत्व संशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।" इसको आप हमेशा दृष्टि में रखते, और खाने-पीने का प्रबन्ध ऐसे सत्संगी के यहाँ करते जहां चित्त गवाही देता।

चौथा प्रकरण

योगी का देहान्त

लाहौर से महाराजजी शीघ्र शाहजहांपुर चले गए। कुछ-कुछ भगंदर की शिकायत फिर होने लगी थी। आपके मित्र डाक्टर रामचन्द्रजी उन दिनों वहीं थे। वहाँ रह कर आपरेशन कराया और उनको सत्संग का अवसर भी दिया। रोग की अवस्था में

पड़े-पड़े जब कभी अधिक ध्यान किया करते थे, तो ज़ख़म का भरना रुक जाया करता था, और जब ऐसा न करते तो वह ठीक होता चला जाता। यहाँ दो-तीन महीने रहे। गृहस्थी में रहने के कारण स्त्रियों में भी रहने का स्वभाव पड़ गया। और अपने मन की जाँच करते रहे। फिर वहाँ से वृन्दावन पहुँचे। इस बार १९१७, फ़रवरी मास में सरदार जेसासिंहजी ने आपके यहाँ दर्शन किये। यहाँ रहकर सत्संग करते रहे। स्वामी जी सरदारजी की सरलता से प्रसन्न थे, और कई बार उनके सीधे स्वभाव की प्रशंसा किया करते थे। आपके साथ ही मार्च में सरदार जी कनखल आ गये। यहाँ पर आप निरंकारी साधुओं के अखाड़े में ठहरे रहे। सरदार जी भी आपके साथ रह कर सत्संग से जीवन को कृतार्थ करते रहे। थोड़े दिन पीछे जब महाराजजी ऋषिकेश चले गये तो सरदार जी फिर लौट गये।

कनखल में ही एक ब्रह्मचारी ने महाराज जी को पत्र भेजकर आपके साथ रहने की आज्ञा माँगी। पत्र को देखकर, पढ़े बिना ही, आपके दिल में यह भाव पैदा हुआ कि 'इस ब्रह्मचारी के हृदय में बनावट बहुत है, दिखलावा बहुत करता है।' उत्तर में उसको लिख दिया ; 'ऐसी भावना तुम्हारे पत्र को देखकर हृदय में पैदा हुई थी। तुमको आने की आज्ञा है, पर अपने व्यवहार से इस भाव को झुठला कर दिखलाना पड़ेगा।'

स्वामी सत्यानन्दजी तो हरिद्वार से ही महाराजजी के साथ हो लिये थे, पीछे से स्वामी तारकानन्द जी भी आ गये। यहाँ पर, ऋषिकेश से दूर एकांत में रहने का प्रबन्ध किया गया। लछमन-झूला के पुल के उस पार, बद्रीनाथ के रास्ते में क़रीब आध मील चलने पर एक पियाऊ है, उसके ऊपर तीन कुटियाँ स्वर्गाश्रम वालों की थीं, वहाँ रहने लगे।

एक दिन जब यह तीनों स्वामी मंगलनाथ जी को मिलने गये, तो बातों-बातों में उन्होंने पूछा 'आप इतनी दूर क्यों जा ठहरे हैं ?' महाराजजी ने कहा, 'निकम्मे आदमी को एकांत रहने में ही अच्छा रहता है, वहाँ शौच आदि के लिये स्वतंत्रता रहती है।' शेष ता कुछ करने-धरने को रहता ही नहीं था, शरीर यात्रा ही सुखपूर्वक कट जाये इसी पर दृष्टि रहा करती थी।

यहाँ रहते हुए स्वामी तारकानंदजी को कृमि रोग हो गया। यह निश्चय हुआ कि गौ-मूत्र का प्रयोग किया जाये, क्योंकि इसको कृमिनाशक बतलाया है परन्तु इसको पीने से उनका चित्त घबराता था। तब महाराजजी ने कहा, 'आओ, हम तुम्हें बतायें कि यह कोई बड़ी कठिन बात नहीं है।' गौ-मूत्र मंगाया गया। बासी होने के कारण बड़ी दुर्गन्धि आती थी। इन दोनों ने तो किसी न किसी प्रकार, लाचारी से, नाक मुँह चढ़ा पीना आरम्भ किया, पर स्वामी जी महाराज उसको ऐसे स्वस्थ चित्त से पी रहे थे जैसे दूध। आपने रसना और घ्राण इन्द्रिय को बड़ी अच्छी प्रकार से वश में कर लिया था। जहाँ अपने को ज़रूरत न होती वहाँ दूसरे के कल्याण के लिये ही सब-कुछ करने को तैयार हो जाया करते थे।

एक दिन एक बिच्छू ने महाराजजी को अंगूठे पर काट लिया। बड़ी पीड़ा हो रही थी, पर आप शांति से सब कुछ सह रहे थे। थोड़ी देर पश्चात् आपने अपने दोनों साथियों को सोने की आज्ञा दे दी, और आप भी सोने का विचार करने लगे, पर वेदना के मारे नींद कैसे आ सकती थी। महाराजजी ने उसी अँगूठे में ही चित्त को लगाया। चित्त के समाहित होते ही झट नींद आ गई। रात भर आराम से सोते रहे। आपने एकाग्रता को कितनी सुन्दरता से साध लिया था।

महाराजजी का व्यवहार सदा ही बहुत गम्भीर और रहस्यमय होता था। दूर रहने वाले तो क्या जान सकें, पास रहनेवाले भी कई बार धोखा खा जाते। एक बार एक फलाहारी ब्रह्मचारी जो लछमणझूला में रहते थे, स्वामी सत्यानंदजी से मिलने के लिये आये। वह महाराजजी की कुटिया में गये। महाराज जी अपनी चारपाई को छोड़कर नीचे उतर आये। यह बिचारे समझ नहीं सके चारपाई पर जाकर बैठ गये। जब सत्यानंद जी आये तो उनसे पूछा, 'यह कौन व्यक्ति हैं?' सत्यानंद जी ने कहा, 'मेरे गुरु महाराज हैं।' वह बिचारे बड़े आश्चर्य-चकित और शरमिन्दा हुए क्षमा मांगने लगे। नासमझी के कारण आपके व्यवहार में शंका हो जाती थी, परन्तु पीछे पता चलता कि अपने सहवासियों के उपदेश के निमित्त ही आप सब कार्य्य करते रहते थे।

स्वामी तारकानन्दजी को सर्वदा एकांत अच्छा लगता था। परन्तु महाराजजी उन्हें कई बार व्यवहार में प्रवृत्त कर कहा करते थे, 'व्यवहार में ही अपने मन का ठीक-ठीक पता लगता है'। एक बार एक मरणासन्न अभ्यासी को स्वामी तारकानन्द जी की सहायता की आवश्यकता थी। सब लोग उनको उसकी सेवा करनेकी सम्मति देते थे। वह महाराजजी से पूछने को आये। आपने कहा, 'तुम्हारी क्या इच्छा है'? तारकानंद जी ने उत्तर दिया, 'वे सेवा के अधिकारी तो हैं, पर बीमार के पास रहने में तकलीफ ही होगी, खामुखा कौन सर पर मुसीबत मोल ले'। महाराजजी ने कहा, "जब तुम उसको अधिकारी समझते हो, तो अवश्य सहायता देनी चाहिये। बिना दुख उठाये कोई कार्य्य नहीं हो सकता और न किसी को सुख ही पहुँच सकता है। देखो, मैं भी जिसको अधिकारी समझता हूँ, अपने शारीरिक कष्ट

और मान-अपमान का विचार न करके उसकी सहायता करता रहता हूँ। व्यवहार में ही अपने जीवन का पता चलता है। ज्ञानी तो संसार को नाटक समझकर, सुख-दुःख की परवाह किये बिना कर्त्तव्य कर्म का निष्काम भाव से पालन करता रहता है। अतः तुम्हें अवश्य उसकी सहायता करनी चाहिये।" पीछे से, व्यवहार में पड़कर, उन्हें महाराजजी के उपदेश की सत्यता पूरी तरह से समझ में आने लगी।

यहां पर रहते रहते महाराजजी एक मास तक कुछ व्रत करते रहे। शरीर साधने का विचार तो हमेशा लगा ही रहा करता था। कुछ न कुछ तप करते रहने से ही आपका चित्त प्रसन्न रहा करता। यह दोनों युवक वशिष्ठ गुफ़ा देखने गये। स्वामी सत्यानंदजी का वहां एकांत में रहने का विचार था। महाराजजी का बड़ा सूक्ष्म विचार चला करता था। जब वे लौट आये, तब आपने सत्यानंदजी से कहा, "देखो, मनुष्य को अपने प्राणों की रक्षा के लिए कितना मोह होता है। जब तुम लोग बाहर चले गये तो मैं एक बहुत अंधेरी रात को बाहर निकला, मन बहुत उदास था। मैंने देखा कि गंगा के दूसरे पार हलवाई की दूकान से दीपक की रोशनी आ रही है, उससे मन को साहस हुआ। विचार हुआ कि मनुष्य में दूसरों के संग की कितनी प्रबल इच्छा है। सोचने से देखो, विपत्ति पड़ने पर गंगा-पार इतनी दूर से, किसी सहायता की आशा नहीं, फिर भी मन कुछ न कुछ सहारा बना ही लेता है कि वहां आदमी तो हैं। ईश्वर को छोड़कर मनुष्यों का सहारा ही बंधन का कारण है।"

एक दिन स्वामी मंगलनाथजी से मिलने का अवसर हुआ। वह पूछने लगे, 'क्या द्वैत मानने से घाटे में नहीं रहोगे?' महाराजजी ने कहा, 'हमें हठ तो नहीं है, जब अनुभव में आ जायेगा

मान लेंगे'। 'श्रुति तो ऐसा ही कहती है।' 'श्रुति के अर्थ तो लोग भिन्न-भिन्न करते हैं, आप अपने अनुभव की बात कहिये, यदि अनुभव में आता हो तो मान लूंगा।' 'शरीर छूटने पर अनुभव होगा'। तब महाराज जी ने कहा, 'उस समय जैसा अनुभव होगा वैसा मानूंगा'।

जब गुरूजी ने कनखल जाकर योगेश्वर जी के पास ठहरने का विचार किया, तो स्वामी मंगलनाथ जी ने कहा, 'आप गृहस्थियों के पास क्यों रहते हैं ? आप जैसे महात्माओं को तो तीर्थ-स्थानों में ही ठहरना चाहिये। क्योंकि आपके कारण ही तीर्थों की शोभा है'। उत्तर मिला, 'गृहस्थियों के पास ठहरने में वहाँ के दुःख देखने में आते रहते हैं, इससे वैराग्य पुष्ट होता रहता है'।

चाहे महाराजजी अपने को छिपाते ही रहते थे पर फिर भी खिले हुए फूल की भांति आपके सद्गुणों की सुगन्ध फैल ही जाती थी। प्रो० सदानंदजी भी यहां ठहरे हुए थे, कुछ शरीर शुद्धि ही कर पाये थे कि फिर कार्य्यवश घर लौटना पड़ा। ब्रह्मचारी रामदेवजी ऋषिकेश में रहकर षटक्रियाओं का अभ्यास करते रहे। इधर सत्यानंद जी का शरीर गड़बड़ चल रहा था। गठिया को तो आराम हो चला पर बुखार आने लगा। कुछ शरीर शुद्धि की गई तो भूख बड़ी तेज़ लगने लगी, इससे महाराजजी बड़े चकित थे और आपको ऐसा प्रतीत होने लगा कि सत्यानंदजी का शरीर अब नहीं रहेगा। वे ऐसा भी चाहते थे कि दूसरा उनके पास रहे। महाराज जी ने बड़ी कड़ाई से कहा, "दूसरे से तो संसार की बातें होंगी, तुम्हें अभी संसार में राग प्रतीत होता है, कुछ नाम की भी इच्छा है तभी तो अपना काम पूरा किये बिना, दूसरों को उपदेश करने में प्रवृत्त हो गये। इस समय तो

अकेला रहना ही भला है।" जब इनको भूख तेज लगने लगी तो यह विचार हुआ कि पाँच दिन पीछे उनके कुछ अधिक स्वस्थ होने पर नीचे उतर जायेंगे, परन्तु पाँच दिन पीछे उनकी वृत्ति बहुत अन्तर्मुख हो गई। अपने विचार में ही मस्त रहा करते थे। कभी-कभी अँगुली से बड़े जोर का इशारा करते थे। पूछने पर पता चला कि कुछ विचार करते रहते हैं। जब निश्चय रूप से किसी परिणाम पर पहुँचते हैं, तो हाथ उठाकर अँगुली से इशारा करते हैं, कि यही बात ठीक है। प्राणों की तेजी के कारण भी ऐसा करने में वाधित थे। कभी कभी उनका चित्त बहिर्मुख होता या घबराता तो महाराजजी समझा बुझा कर शाँत कर दिया करते। पर कमजोरी होते हुए भी उनका चित्त प्रायः बहुत शांत रहा करता था। एक दिन एक पास बैठे ब्रह्मचारी से पूछने लगे, 'तुम जानते हो दक्षिणायण, उत्तरायण मार्ग क्या है। 'नहीं, मैं नहीं जानता'। इस पर सत्यानन्दजी कहने लगे, 'मुझे पता लग गया है कि यह मार्ग क्या है ?

आख़िरी दिन स्वामीजी महाराज आठ बजे सुबह को उनकी कुटी में गए। उस समय उनकी वृत्ति बहुत ही अन्तर्मुख पाई। ज़ोर से आवाज़ देने पर जवाब मिला, "अच्छा हुआ, आप आ गए, आपकी इन्तज़ारी कर रहा था कि दर्शन करलूं और धन्यवाद दे दूं कि आपने खूब अनुभव कराया। ऐसा उपकार दूसरा न करता। अब मेरे को कोई शिकायत नहीं है। मैं बहुत ही आनंद का अनुभव करता हूँ। शरीर की सुध-बुध कुछ नहीं है। फिर मिलेंगे, अब मैं जाता हूँ।" यह सुन कर महाराजजी बड़े घबराए और सोचने लगे, 'अब हमें भी साथ ही घसीटते रहोगे। इससे भी गुरु में सूक्ष्म राग प्रतीत होता है।' फिर माता को भी धन्यवाद दिया। वंदना के रूप में एक भजन गाया, फिर

वार्तालाप बिलकुल बंद करदी और कभी तो खुशी मनाते हुए हँसते थे, और कभी ओंकार का जाप करते थे। २३ अगस्त को चार बजे शाम के योग-मार्ग में ऐसे ही आनन्द का अनुभव करते हुए, शरीर छोड़, पर लोक सिधार गए।

उसी दिन महाराजजी ऋषिकेश चले आए। सत्यानंदजी को भी पालकी में उठवा लाए थे और रास्ते में जहाँ उनका शरीर छूटा वहीं पत्थर बांधकर गंगाजी में प्रवाहित कर दिया गया।

स्वामीजी महाराज यहाँ से देहरादून को चले गए। कुछ काल वहां ठहर कर अपने एक भक्त के आग्रह करने पर, आप कनखल होते हुए लाहौर पधारे, और उनके मकान में डेरा लगाया। यहां चार-पांच मास तक रहते रहे।

पाँचवां प्रकरण

जाग्रति

आत्म-कल्याण तथा मोक्ष-साधन के महत्व को कोई विरला ही समझ सकता है। इसी कारण प्रायः ऐसे उपदेशों के प्राप्त होने पर भी कमजोर प्राणी उसकी उपेक्षा कर देता है। इस बात को देखते हुए कि बहुत से जिज्ञासु बड़ी लापरवाह करते हैं तथा कटिबद्ध होकर श्रेय पथ पर आरूढ़ नहीं होते, या तो उपदेश को समझते नहीं या उसको मुफ्त पाकर परवाह नहीं करते; संत सियारामजी महाराज एक सत्संगी को लिखते हैं, "आपने बेपरवाही की होगी, क्योंकि उपदेश के लिए आपको कुछ फ़ीस तो देनी ही नहीं पड़ती। यदि १००) रुपए कम से कम एक उपदेश के लिए आपको देना पड़े तो शायद आप अधिक ध्यान दें।

परन्तु वह बात होना ग़ैर मुमकिन है, क्योंकि 'रुपया देने से' (Paid up) उपदेश नहीं हो सकता। इसका मोल नहीं है। लाख रुपए देने पर भी उपदेश न मिले और बातों बातों में मिल जाए। इसकी फ़ीस केवल जिज्ञासु का हृदय है और कुछ नहीं।" जिस वस्तु का जो अधिकारी होता है, वही उसकी ठीक-ठीक जाँच भी लगा सकता है। ऐसे ही, सद्हृदय, विचारशील, गम्भीर और पवित्र आत्मा के यहाँ, श्री गुरुदेव ने, १९१७ नवम्बर मास में, लाहौर में छावनी डाल दी।

कुछ दिन सेवा में रह कर, कार्य्यवशात्, आपके भक्त घर चले गए। इस बीच में ला० ईश्वरदास और ला० करमचंदजी वहाँ आए। दस-बारह दिन रह कर भजन अभ्यास करते रहे। इस थोड़े से तजर्बे से उन्होंने निर्णय कर लिया कि जिस मार्ग पर वे पहले चल रहे थे उससे यह कहीं बढ़कर है, और उनको बहुत लाभकारी प्रतीत हुआ है। इस लिए अब वे ज़ोर से इस मार्ग में चलना चाहते थे।

यहाँ पर रामदेवजी पुनः आपकी सेवा में पहुँच गए थे। माघ में प्रयाग का कुम्भ भी था। वहाँ से भी निमंत्रण आने लगे थे। पर शीघ्र ही आपके परमभक्त घर से निवृत्त होकर आगए। उनके निवेदन पर आपने वहीं रहने का निश्चय कर लिया। भला आप जैसे शुद्धहृदय अधिकारी को, स्वामीजी छोड़कर जा सकते थे? वही हुआ श्री गुरुदेवजी वहीं डटे रहे। नई उपजाऊ भूमि में ज्ञान वैराग्य और ध्यान के बीज डालने लगे। शिष्य ने भी ऐसे सुलभ, सुप्राप्य, करुणामय प्रभु की सेवा में कसर न उठा रक्खी। शीघ्रही बहुत दिनों के बिछुड़े की तरह वे एक-दूसरे को जान गए, और पूर्ण ज्ञान के नाते, ऐसी गाढ़ी मित्रता हो गई कि जिसको काल का भयंकर चक्र भी न तोड़ सका

श्री महाराजजी दया की मूर्ति थे। जहां जिज्ञासु का हृदय उनको मिल जाता, वहाँ भला उपदेश में कमी कब करते। दूसरे को साथ लेकर परले पार पहुँचाना चाहते थे। एक बार तो आपने अपने सुयोग्य शिष्य को वहाँ खड़ा कर दिया जहाँ के आगे कुछ नहीं था। निर्भय पद के दर्शन करा दिए। वहाँ पर स्थित रहने की विधि दिखा दी। उस अवस्था को स्थिर करने का मार्ग सुझाया और दरशाया। जिस पर प्रभु कृपालु हों, जो प्रारब्ध से अच्छे संस्कार ले आया हो, जिसमें सूक्ष्म विचार हो, और जिसका जीवन उत्साह से भरा हुआ हो जो कटिबद्ध होकर रण-क्षेत्र में डट गया हो, फिर जिसको करुणा के सागर, संत शिरोमणि सद्गुरु मिल जायें, उसका बेड़ा भवसागर-पार क्यों न पहुँचे।

आपके भक्त कई साल से थोड़ा-बहुत साधन कर रहे थे। स्वामी सत्यानन्दजी ने ही आपकी इधर रुचि दिलाई थी। और शुद्ध बोध की स्मृति जगाई थी। फिर पहले भी थोड़े दिन कई बार सत्संग कर चुके थे। इसी वर्ष ही गरमी में पास रहकर षट क्रियाओं का अभ्यास करके शरीर का कल्प भी कर लिया था। सत्सङ्ग से पूजा और वैराग्य के तत्व को भी भली भाँति समझने लगे थे। परोपकार की लगन को भी परमार्थ पर न्योछावर करने का निश्चय हो चुका था। कई वर्षों से संतोष में जीवन व्यतीत करते थे। जिस संतोष को आपके सहचारी और मित्र आलस्य ही मान बैठे थे, पर जिसके बिना प्रभु की शरण में टिकना हो ही नहीं सकता। ऐसा सब होते हुए फिर पारस रूपी गुरुदेव से भेंट हो गई, जिसके स्पर्श से जब लोहा भी सोना बन जाता है तो चाँदी सम उज्ज्वल हृदय के कंचन होने में क्या कमी हो सकती थी। अस्तु, आपने इस थोड़े समय में

'घूड़ी छान के लालनू कढ़लीता' अथवा घट रूपी कीचड़ में से अमृत रूपी आत्मा को निखेर लिया। गुरु भी इस प्रकार चिंता से शीघ्र मुक्त हो गए। जब तक शिष्य को उस पार नहीं पहुँचाते, उसके कल्याण की फिक्र आपको लगी ही रहती पर एक बार वहां खड़े करके, मानसरोवर के अन्दर पहुँचा कर, जब तन-मन शीतल कर दिया, तो फिर संसार रूपी अग्नि का दाह शांत हुए बिना कैसे रह सकता था? इसी समय वे स्वामी जी से सांख्य-शास्त्र और योग-शास्त्र के कुछ प्रकरण भी पढ़ते रहे, और उनके रहस्यों को जानने का यत्न करते रहे।

श्री महाराजजी का नियम था कि प्रातः तीन बजे उठ कर ध्यान में रहते, फिर शौच आदि से निवृत्त होकर, दुबारा भजन में बैठते। सात-साढ़े सात बजे, कभी तो घूमने चले जाते और कभी यदि किसी जिज्ञासु को एकांत में मिलने का समय दिया होता तो उससे बात-चीत करते। फिर ग्यारह बजे के लगभग भोजन करते। पश्चात् थोड़ा आराम करके अनेक युवा विद्यार्थियों के साथ आपका सत्संग होता। योग तथा मोक्ष के सम्बन्ध में वार्तालाप होता, प्रश्न-उत्तर चला करते, संशय का निवारण होता रहता, हृदय के उच्च भाव जगाते, और भगवान् की भक्ति की धारणा दृढ़ करते।

स्वामी सत्यानन्दजी, पंडित भगवतदत्त जी के मित्र थे। यह दोनों स्वामी लक्ष्मणानन्दजी के भक्त थे। जब स्वामी सत्यानन्दजी की श्रद्धा इधर हुई तो भगवतदत्तजी भी इधर झुके। अपने अनेक मित्रों और सहपाठियों का ध्यान योग में प्रवीण इस महापुरुष की ओर खींचा। उधर रामदेव जी कुछ सत्संग करके लाभ उठा चुके थे। स्वामी जी महाराज गुरुकुल रह आए थे और वेद शास्त्र पर आपकी बड़ी श्रद्धा थी, और अँगरेजी साइन्स के

विद्वान के यहाँ ठहरे हुए थे। जो मनुष्य एक बार भी श्रीमुख से सरल हृदय को चुभनेवाले वाक्य सुन जाता, वह मुग्ध हुए बिना रहता ही नहीं था। इन सब कारणों से बहुत भीड़ लग जाया करती थी।

तीन बजे के पश्चात् स्वामीजी, रावी के किनारे रेल की सड़क के उस पार, जंगल में घूमने जाया करते। कभी-कभी कोई जिज्ञासु भी, जिसको समय दिया हुआ होता था, आपके साथ संशय निवारण करने जाता। ज्ञानचन्दजी जो इस समय एम० ए० में पढ़ते थे अनेक बार मित्रों सहित आपसे मिलने जाया करते थे। पं० विश्वबन्धु, लाला अचिन्तराम, ला० फ़िरोज़चंद, अजीतसिंहजी सत्यार्थी, पं० भगवतदत्त, पं० रामगोपाल, कल्याणदेवजी इत्यादि अनेक युवा उत्साही वीर वहां जाया करते थे। कई तो प्राणायाम आदि अनेक विधियों से साधन में लगे भी।

प्रभु की त्रिगुणमयी माया बड़ी बलवान है। किसी न किसी प्रकार से अपनी ओर खींच ही लेती है। दुःखी, दीन, पराधीन, दरिद्री भारतवर्ष के पुत्र भला उसकी हितकामना में न लगकर प्रभुचिंतन में कैसे लग सकते थे। धीरे-धीरे देश और जाति की सेवा के कार्य्य की ओर आकर्षित हो गए। पूर्ण स्वराज्य ही ऐसी सद्हृदय आत्माओं को प्रभु की शरण में जाने की आज्ञा दे सकता है। प्रभु ही उनको दुखियों के कष्ट निवारणार्थ मनुष्य सेवा के कार्य्य में लगा देते हैं।

ज्ञानचन्दजी की प्रेरणा से कृष्णकुमारजी भी एक दिन दयालसिंह कालिज होस्टल से महाराजजी के दर्शनों को गए। दो तीन रोज़ से कुछ बुखार आ रहा था, जो तीन बजे से बढ़कर रात को देर में जाकर उतरता। दिन को एक बजे जब वे दोनों उस स्थान पर पहुँचे, तो डी० ए० वी० कालिज के अनेक

विद्यार्थी वहां वैठे थे। महाराजजी उन दिनों नंगे पैर घूमने जाया करते। शीत लगने के कारण पैर फट गए थे। दो एक विद्यार्थी आपके चरणों को गरम जल से मल कर धो रहे थे। यह भी जाकर प्रणाम करके चुपचाप वैठ गए। कुछ बातें होने के वाद संतरे का प्रसाद वांटा गया। कृष्णकुमारजी को भी एक फांकी मिली। थोड़ी देर पीछे जी मतलाने लगा, वमन हो गया, वुखार चढ़ने का समय हो रहा था, इसलिए प्रणाम कर के वापस लौट गए। वड़े दिन की छुट्टी के वाद जव यह ज्ञानचंदजी से मिले तो ज्ञानचंद जी से पता चला कि श्रीमहाराजजी ने इनके वारे में पूछा था। ऐसी वात सुनकर इनके हृदय में उत्साह वढ़ा। फिर कई वार श्रीसेवा में पहुँचकर आपके साथ भ्रमण करने जाते रहे। फ़िलासफ़ी तो पढ़ते ही थे, इसी सम्वन्ध में अनेक प्रश्न-उत्तर होते रहते। दिन प्रतिदिन स्वामीजी महाराज की अनुभव भरी वातों से साहस वढ़ता गया, और यह विचार हुआ कि कुछ ध्यान सम्वन्धी वातें पूछें।

पं० भगवतदत्त और अन्य मित्रों से प्राणायाम और योग के विषय में अनेक वातें सुनी थीं। सात्विक आहार का भी सेवन दो एक वर्षों से हो रहा था। कुछ काल पहले आर्य समाज के प्रसिद्ध संन्यासी श्री स्वामी सत्यानन्दजी से कुछ प्राणायाम सीखा था। इस सव थोड़े वहुत यत्न से कुछ भीतर परिवर्तन भी हो चला था। जव इसका जिक्र श्रीस्वामीजी महाराज से किया, तो आपने वड़ी दयालुता से एक दिन रात्रि को वुलवा भेजा और वड़े प्रेम से भजन-साधन के लिए उत्साहित किया। दो महीने पीछे परीक्षा भी आ रही थी फिर भी महाराजजी की प्रेरणा से एक मास तक कुछ साधन करते रहे। फ़िर परीक्षा की तैयारी के लिए घर चले गए। पर वहां जाकर थोड़े दिन पश्चात्

ब्रह्मचर्य्य के नियम को तोड़ने के कारण शरीर बहुत बिगड़ गया। इससे सांसारिक अथवा पारमार्थिक दोनों परीक्षाओं में बहुत हानि उठाई। स्वामीजी महाराज अभी लाहौर में ठहरे थे, और अप्रैल के आदि में यह जब वापस आए, तो श्री गुरुदेव के चरणों में सब वृत्तान्त कह सुनाया। इतना सब दोष होते हुए भी स्वामीजी ने हताश न होने दिया। फिर यह निश्चय हुआ कि गरमी की छुट्टियों में गुरुजी की शरण में रह कर मन को पवित्र करने का यत्न किया जाय।

जब महाराजजी लाहौर आए थे तो आपका विचार था कि अँगरेजी पढ़े लिखे विद्यार्थियों में प्रभु-भजन की कुछ जाग्रति की जाय इसीसे बहुत कुछ कष्ट सहकर भी सबको समय देते रहे। ऐसे सुअवसर प्राप्त करते हुए भी कोई विरला ही तन-मन को प्रभु के अर्पण कर सकता है। वैसे तो जितना थोड़ा-बहुत सत्संग हो जाय उतना ही अच्छा है।

महाराजजी सदैव वैराग्य पर बड़ा ज़ोर देते थे। घट शुद्धि के लिए हठयोग की क्रियाओं का अभ्यास भी बतलाया करते। शरीर को स्वस्थ और कोमल करने के लिए अथवा नाड़ी जाल को शुद्ध करने के लिए योग के अनेक आसनों को लगाना भी सिखाते, प्राणायाम और पूजा की विधि भी बतलाते, ध्यान जमाने की युक्तियाँ भी सुझाते। पर यह सब कराते हुए भी, आपका विशेष ज़ोर वैराग्य और विचार पर रहा करता था। विषयों से उपरामता पाए विना चित्त को शाँति कहाँ मिल सकती है? प्रभु की शरण में वे ही विश्राम पा सकते हैं जो माया से मुँह मोड़ चुके हैं। इसी कारण यम-नियम के पालन पर जिज्ञासु का ध्यान दिलाते। कहा करते 'पाप को छोड़े विना और शास्त्र के अनुसार व्यवहार को जब तक प्राणी शुद्ध नहीं

करता, उसके तप और साधन कुछ फल नहीं ला सकते। प्रायः लोग सिद्धियों से आकर्षित होकर योग की ओर ध्यान देते हैं, पर संयम के विना योग निरर्थक है।'

एक ब्रह्मचारी, जिनको तीन साल भजन में लगे हुए हो गए थे, जिनके अन्तःकरण में अनेक नूतन और सूक्ष्म अनुभव फुरा करते और विश्व-रूप-दर्शन भी होने लगे थे, कुछ काल पीछे काम से पीड़ित रहने लगे। स्वप्न-दोष भी हुआ करते। कभी-कभी काम-ज्वर भी हो जाता। वैद्यों की कुसम्मति और कुसंग के कारण विवाह का विचार भी दृढ़ हो रहा था। कुछ दिन स्त्री की तलाश भी होती रही। उनको ऐसा निश्चय हो गया था कि सब ब्रह्मचारी कामज्वर से दुखित रहते हैं, और काम को जीतना असम्भव सा है। पर सौभाग्यवश वह अपनी अवस्था की सूचना स्वामीजी को देते रहे, इसी कारण श्री गुरुदेव की अपार कृपा का सहारा उनको मिल गया। ब्रह्मचर्य्य के अनेक नियम पालन करने लगे। श्री चरणों में बैठकर विषयों से उपरामता के अति दुर्गम ज्ञान को प्राप्त करके, अपने आपको सँभाल लिया। अभ्यास अधिक होने पर भी तन-मन के संयम के विना मनुष्य पतन से नहीं बच सकता। शम-दम के सेवन से ही मनुष्य हृदय में वैराग्य धारण कर माया के मोह से छुटकारा पा सकते हैं।

महाराजजी का दृढ़ निश्चय था कि ब्रह्मचर्य्य पालन से शरीर को किसी प्रकार की हानि नहीं हो सकती। हाँ यदि ब्रह्मचर्य्य के नियमों का पालन नहीं होता तो कष्ट होने का भय जरूर है। जो डाक्टर और वैद्य काम से व्यथित मनुष्य को विवाह की सम्मति देते हैं, वे ब्रह्मचर्य्य के महत्व को नहीं जानते। विवाह से काम-ज्वर भले ही शान्त हो जाय, पर और अनेक ज्वर पैदा

होजाते हैं। मुमुक्षु के लिए यही उचित है कि वह ब्रह्मचारी ही रहे। यदि भोग-वश विवाह में फँस चुका हो तो नियमपूर्वक ऐसा साधन करे कि जिन कुसंस्कारों के कारण उसकी आसक्ति गंदगी से भरे हाड़ माँस और चाम के शरीर पर हो रही है, वह सब मिट जाय। स्त्री-पुत्र आदि के बंधन में यदि पड़ना ही पड़े तो मोह में न फँसकर अपने मनको विचार से सुदृढ़ करता जाय। साथ ही अनेक मानसिक अथवा शारीरिक साधनों द्वारा काम-वृत्ति को शांत करने का उपाय करता रहे। दृढ़ संकल्प, सात्विक आहार, स्वाभाविक शारीरिक अथवा मानसिक परिश्रम, मोक्ष शास्त्रों का चिंतन, तपस्वी अनुभवी महात्माओं का संग, और ईश्वर परायणता— इन सब बातों को जीवन में धारण करने का उपदेश, श्री महाराजजी सदा किया करते थे।

नम्रता और निरभिमानता की तो आप मूर्ति थे। जिसको आप एक बार अपना लेते, उसका कल्याण करने में सदैव तत्पर रहा करते। जब तक जिज्ञासु का उत्साह और श्रद्धा बनी रहती बड़े शुद्ध भाव से, बिना किसी फलासक्ति के उसकी सेवा का भार उठाए रहते। इसी भाव से प्रेरित होकर आप एक सत्संगी को लिखते हैं :—'नौकर का काम है नौकरी बजाना, सो जैसे अपने से बनता है वैसे नौकरी आपकी आज्ञानुसार बजाए देते हैं। मालिक का काम मालिक जाने।' इतनी दया करते हुए भी आप निरर्थक बंधन में अपने आपको कभी नहीं डालते थे। सब काम उदासीनता ही से हुआ करता था। उन्हीं सत्संगी को फिर लिखते हैं :—"पता देने की नौकरी जो आपने हमारे ऊपर लगाई थी, वह जवाबदेही हम नहीं ले सकते। उसको हम 'जिन ढूंढ़ा तिन पाया' के मिसल पर छोड़ देते हैं।" यह सब होते हुए भी, इतनी उदारता और उपरामता को साथ-साथ प्रकट करते हुए

भी, अवसर अनुकूल बड़ी कड़ाई से काम लिया करते थे। जिज्ञासु के हितार्थ उसकी बड़ी कड़ी आलोचना करके, उसके दोष उस पर ज़ाहिर कर देते थे। अनेक विधियों से उसके कल्याण के लिए उपदेश करते। अनेक उपायों से उसका हित साधते परन्तु जब उसको प्रभु से विमुख हुआ देखते, अथवा उसकी रुचि मोक्ष-मार्ग से हटकर संसार की ओर बढ़ने लगती थी, किसी प्रकार का छल-कपट उसके व्यवहार में पाते, तो तुरन्त ही उसको प्रणाम करके चिन्ता से मुक्त हो, उदासीन हो जाया करते। प्रभु का धन्यवाद करते कि जो कष्ट प्रारब्धवश खड़ा हो गया था, उसको उन्होंने निवारण कर लिया।

एक दिन महात्मा हँसराजजी भी आपके दर्शन करने आए। कुछ योग-दर्शन के सूत्रों के सम्बन्ध में वार्त्तालाप करते रहे। जो विरोधाभास उन्हें प्रतीत हो रहा था श्री स्वामीजी महाराज ने भली प्रकार समझा कर दूर कर दिया। अभ्यास के विषय में कहा, 'योग के अभ्यासी को व्यवहार और अन्न की शुद्धि पर विशेषतया ध्यान देना पड़ता है। इस कारण से वे सज्जन जो परोपकार के कार्य्य में घूमते रहते हैं, इस मार्ग का अवलम्बन नहीं कर सकते।'

स्वामी जी महाराज हमेशा सरल और स्पष्ट व्यवहार को पसंद किया करते थे। ऐसी सभ्यता और नीति को वे पसंद न करते कि जिसमें बात भी स्पष्ट न हो सके। इसी सम्बन्ध में एक सत्संगी को लिखते हैं:—"सम्भव है, आपने सभ्यता से इशारतन ज़िक्र किया हो। क्योंकि अपनी जन्म-भूमि ग्राम की है और रहना तथा व्यवहार आदि ज्यादहतर ऐसे ही पुरुषों के साथ रहा और रहता है कि जिनके साथ बात स्पष्ट रीति से होती है, जहां सभ्यता और असभ्यता का ख्याल नहीं रहता,

इसलिए कुछ आदत ऐसी ही हो गई है, कि जब तक बात स्पष्ट न कही जाये समझने में कम आती है; इसलिए जब कभी लिखें, तो सभ्यता असभ्यता का ख़याल छोड़ कर जो कुछ लिखना हो स्पष्ट शब्दों में लिखें।"

छठा प्रकरण

साधकाश्रम

लाहौर से महाराजजी १५ अप्रैल १६१८ ई० को चल दिए। जम्मू से होते हुए शीघ्र ही कटरा पहुँचे। वैष्णवदेवी के आस-पास रहने का विचार था। एक बार पहले भी यहां आ चुके थे। तीर्थ-स्थान में रहने को आपका चित्त किया ही करता था। इस स्थान के आस-पास कुछ आबादी भी नहीं और सड़क से दूर होने के कारण आधुनिक काल की बुराइयां भी यहां नहीं फैलीं। और, क्योंकि कई नए अभ्यासी गरमी में आने को कहते थे इसलिए यहां पर एकान्त तीर्थ-स्थान में प्रबन्ध करने का विचार था। एक दिन कटरा ठहर कर वैष्णवदेवी को देखने गए। वहाँ का जलवायु बड़ा उत्तम है। मकान भी बहुत हैं, मेले के दिनों के अतिरक्त ख़ाली ही रहते हैं, परन्तु गृहस्थियों को महाराजा साहिब या धर्मार्थ के अफ़सर की आज्ञा लिए बिना तीन दिन से अधिक ठहरने को नहीं मिलता। यहाँ पर एक दुकान भी है जिसमें खाने-पीने की सामग्री बड़ी महँगी मिलती है। दूध का बन्दोबस्त भी नौकर के बिना नहीं हो सकता। इन सब असुविधाओं के कारण, इस स्थान का विचार छोड़कर अन्य स्थान ढूंढ़ने लगे। बाल गंगा के ऊपर कोई डेढ़ मील पर एक

छछड़ की गुफा वाली कुटिया टूटी-फूटी पड़ी थी। उस ही की मरम्मत कराके वहीं पर रहने लगे। नारायणदासजी के अतिरिक्त वानप्रस्थी मंगलसैनजी भी वहाँ पहुँचे हुए थे। यहाँ पर अच्छा एकान्त तो मिल गया, पर अधिक आदमियों के ठहरने के लिए प्रबन्ध न था। इसलिए शीघ्र ही एक नया मकान अथवा कुलिया बनाने का उद्योग किया गया। लकड़ी तो धर्मार्थ से मिल गई, एक-आध मज़दूर लगा दिया, और कोई एक दो ग्रामीण भी सेवा-भाव से उसमें काम करने लगे। स्वामीजी स्वयं भी बड़ा परिश्रम करने लगे। अपना स्वार्थ न होते हुए भी जिज्ञासुओं के कल्याण के लिए इतने सूक्ष्म शरीर से भी इतना काम लेते कि सत्संगी हैरान रह जाते। कहा जाता है कि भारतवर्ष में गुरु-डम बहुत है, मठधारियों की तो गिनती ही नहीं। गद्दी को प्राप्त करने की चाह में ही कई एक साधु जीवन बिताते रहते हैं। शिष्य सम्प्रदाय को बढ़ाने की ममता भी बाबा लोग नहीं छोड़ सके। फिर भला शिष्यों से सेवा की आशा रखना कुछ ऐसा अनुचित भी नहीं दीखता। अँगरेज़ी के विद्वान, गणित विद्या में निपुण, योग कला में इतने प्रवीण, ज्ञान और ध्यान में ऊपर उठे हुए शास्त्रों के रहस्य को सम्यक् प्रकार से समझने वाले, और फिर इतने नम्र और निरभिमान। सच है प्रभु के सच्चे भक्त शील के पुञ्ज होते हैं। मनुष्य जितना महान होता है उतना ही सेवा में अग्रसर रहता है, वह जितना ही परमात्मा का भक्त होता है, उतना ही निरभिमान भी होता है।

'जिस मस्तक में ज्ञान है, आत्म प्रभु का मान,
फलित पेड़ सम नम्र हो, रहे भूल अभिमान ;
नम्रता में राम है, नम्र नारायण जान,
परमार्थ है नम्रता, नम्र ही सेवक मान।'

थोड़े दिनों में कई अभ्यासी एकत्र हो गए। धीरे-धीरे जैसे-जैसे छुट्टियां मिलती गईं महाराजजी की छोटी सी कुटी जिज्ञासुओं से भर गई। लाहौर से पहले कृष्णकुमारजी पहुँचे, फिर प्रोफ़ेसर सदानंदजी भी आगए। जालन्धर से ला० करमचंदजी और रामदेवजी पधारे। स्यालकोट से ला० ईश्वरदासजी और गुजरांवाले से ला० हरदयालजी आए। स्वामी तारकानन्द जी भी वहाँ उपस्थित थे। अभ्यास तो कम होता था, परन्तु सत्संग खूब हुआ करता था। नए अभ्यासियों को षट क्रियाओं का अभ्यास आरम्भ कराया। गुरुदेव महाराज सबको निष्पक्षता से सब प्रकार का उपदेश देते थे। कोई-कोई तो शीघ्रही क्रिया में चल पड़ते, परन्तु किसी-किसी के साथ बहुत ही पुरुषार्थ करना पड़ता। कभी-कभी जब जिज्ञासु को उत्साहहीन पाते तो अपनी मानसिक शक्ति लगाकर उसके बल को बढ़ाते। सारा दिन बड़े आनंदपूर्वक सब काम होता रहता। प्रातःकाल उठ कर जहां तहां स्थान ढूंढ़कर सब लोग थोड़ा-थोड़ा भजन करते। आठ बजे से भोजन की सामग्री तैयार होने लगती; जिसमें सब अपनी अपनी शक्ति के अनुसार थोड़ा-थोड़ा योग देते। इसी समय से सब लोग घट शुद्धि के निमित्त क्रियाओं का अभ्यास किया करते। तब भोजन का समय हो जाता। रोटी पकाने का भार एक वानप्रस्थी सज्जन के सिर पर था। इस कार्य्य को वह कई दिन तक बड़ी कुशलता और सज्जनता से करते रहे। पीछे जब गरमी के कारण उनको शारीरिक कष्ट होने लगा तो आज्ञा हुई 'सब अपने आप भोजन बनाया करें।' कच्ची जली रोटी खाते-खाते ग्रैजुएटों को भोजन पकाने का ढँग आने लगा। अपने-अपने बर्तन तो प्रत्येक मला ही करता था। महाराजजी कहा करते थे,

"स्त्री से स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए पाक-विद्या का भी थोड़ा-बहुत ज्ञान होना चाहिए, नहीं तो काम-तृप्ति के अतिरिक्त, भोजन के निमित्त भी स्त्री का दास बनना पड़ता है। इससे उसके मोह-पाश से निकलना और भी मुश्किल हो जाता है। जिज्ञासु गृहस्थी को उचित है कि स्त्री पर बहुत निर्भर न रहे। अपने सब काम स्वयं करले। परतंत्रता में दुःख ही होता है, और मनुष्य यही समझ बैठता है कि स्त्री के बिना उसका निर्वाह ही असम्भव है। ऐसी धारणा को रखते हुए काम, मोह से छुटकारा पाना और भी कठिन हो जाता है।"

दोपहर को सब लोग थोड़ा आराम करते। तीन चार बजे नाले के किनारे अथवा चट्टान पर बैठ कर, ज्ञान वैराग्य की चर्चा हुआ करती। प्रश्नउत्तर भी खूब होते। महाराजजी बड़ी दक्षता से सब प्रश्नों का उत्तर देते। सायंकाल को सब लोग जहाँ-तहाँ स्थान पा थोड़ी देर संध्या-उपासना करते। रात्रि को सभी साधक केवल दूध लेते फिर ज्ञान-चर्चा होती रहती, जिसमें अनेक व्यवहार परमार्थ की गुत्थियों को सुलझाने का कार्य्य श्री गुरुदेवजी बड़ी चतुरता से पूरा करते थे। कभी-कभी दिन को उपनिषदों के कुछ प्रकरण पढ़े जाते और प्राण उपासना का रहस्य समझाया जाता।

वर्षा के दिन थे। इसलिए कभी-कभी अधिक पानी पड़ने के कारण जहाँ तहाँ कुटी अथवा कुलिया चू पड़ती। महाराजजी यहाँ भी अग्रसर होकर मट्टी लाते और कूट-पीट करके छत को ठीक किया करते। आपकी मिसाल से शरमिंदा होकर सब का आलस्य दूर हो जाता और प्रयत्नशील होना ही पड़ता। आपके व्यवहार से भी बहुत उपदेश मिला करते। महाराजजी के जीवन में कथनी और करनी का अनुपम मेल था। जिस उच्च अवस्था

का आपके मुख से निरूपण सुना करते थे और जो ज्ञानी के गुण शास्त्रों में पढ़ा करते थे, वे सब महाराजजी के जीवन में प्रत्यक्ष दीखते।

काम है न क्रोध जाके, लोभ है न मोह ताके,
　　मद है न मत्सर न, कोऊ न विकारो है।
दुःख ही न सुख माने, पाप ही न पुण्य जाने,
　　हर्ष न शोक आने, देह ही ते न्यारो है॥
निंदा न प्रशंसा करे, राग ही न द्वेष धरे,
　　लेन ही न देन जाके, कछु न पसारो है।
'सुन्दर' कहत ताकि, अगम अगाध गति,
　　ऐसो कोऊ साधु संत राम जी को प्यारो है॥

यह विचित्र समागम तीन मास तक बड़े उत्साह से चलता रहा। वहाँ रहते-रहते चित्त का स्वतः ही शांति हो जाया करती। संत की समीपता में शरीर की ममता अथवा सम्बन्धियों का मोह प्रतीत ही कहाँ हो सकता था? इसी कारण से साधक अनेक कष्ट सह कर भी, श्री चरणों में रहने का यत्न करते। पास रहते रहते बिना उद्योग साधुताई का रंग चढ़ने लग जाता। साधु संगति की महिमा अकथनीय है। तीर्थ-यात्रा का भी इस की अपेक्षा कुछ बड़ा महत्त्व नहीं।

मथुरा जावे द्वारका, भावें जावे जगन्नाथ।
साधु संगत हरि भक्त बिन, कछु न आवै हाथ॥ १॥
कबीर संगत साधु की, बेग करीजै जाई।
दुर्मत दूर गवाईसी, देसी सुमत बताई॥ २॥
एक घड़ी, आधी घड़ी, आधी से पुन आध।
तुलसी संगत साधु की, कटे कोटि अपराध॥ ३॥

तीर्थ की पुण्य भूमि हो, फिर एकान्त स्थान, उस पर तप और

साधन का जीवन, और संत शिरोमणि, करुणा के सागर, ज्ञान के भंडार, परम साधुता से परिपूर्ण, विनयशील सम्पन्न, योग-निपुण, परमहंस सियाराम जी महाराज का संग हो तो फिर भला चित्त में वैराग्य का उदय होना अत्यन्त सहज और स्वाभाविक क्यों न हो जाय ? एक दिन इस विचित्र रंग का प्रभाव एक सत्संगी के अनुभव में प्रत्यक्ष रूप से आ गया। शौच के समय उसने देखा कि झाड़ी की एक टहनी पर, एक हरा साँप, एक गज़ दूर टकटकी लगाए बैठा है। चुपके से वहाँ से हट जाने का काफ़ी स्थान था परन्तु यही विचार उठा, कि यदि भोग है तो सर्प कूद-फाँद करके भी काट सकता है, साक्षी बन कर देखते रहो कि क्या होता है। ऐसा साहस सत्संग का ही फल था।

इतने दयालु होते हुए भी स्वामीजी महाराज का यदि किसी की ओर से चित्त हटता तो उसके अनेक उपाय करने पर भी, महाराजजी उसे टाल दिया करते। कोरा जवाब भी दे देते। यही कहते, 'अभी चित्त में प्रेरणा नहीं है, तुम्हारे में कुछ गड़बड़ी है, जिसके कारण उत्साह नहीं होता। अपने आपको अधिकारी बनाओ तो फिर प्रभु तुम्हारे हितार्थ किसी को प्रेरणा कर ही देंगे।' ऐसा ही निराशा तथा सांत्वना से मिला-जुला उत्तर महाराजजी ने आए हुए एक सज्जन को दिया। उन्होंने अपनी ओर से बहुत प्रयत्न किए, नम्रता भी दिखलाई, आक्षेप भी किए, पक्षपात का भी इशारा किया, पर जब प्रभु के आदेश अनुसार ही स्वामीजी का सब काम होता था तो किसी की स्तुति और निन्दा की आप क्योंकर परवाह करते ?

यहाँ पर एक भाई का व्यवहार कपट और चालाकी-पूर्ण होता रहा जिसके कारण महाराज जी के हृदय में उनके प्रति तीव्र वेदना के भाव बढ़ते गए। पीछे जब उनकी कुटिलता का पता चल

गया तो महाराजजी ने उनको बहुत समझाया। जब फिर भी उनको समझ में बात न आई और उनके आचार से सबको कष्ट पहुँचने लगा तो आपने बड़ी नम्रता से उनको चले जाने के लिए आग्रह किया। जो कुछ भी उन्होंने मकान और भोजन आदि में खर्च किया था, वह दूसरों से दिलवा दिया और उनके चरण छू प्रणाम करके कहा 'जब तक आप ऐसे दूषणों को दूर नहीं कर सकते, पास रहने की कृपा न करें'। जिसके व्यवहार से स्वामीजी असंतुष्ट हो जाते और समझाने-बुझाने पर भी वह अपने दूषणों को छोड़ने का यत्न न करता तो उससे सेवा तक लेने में आपको बड़ा दुःख होता। नाम का लोभ तो रहा ही नहीं था। सद्हृदय ही आपके प्रभु-आश्रित हृदय को रिझा सकता था। भला जिसने अपने आपको प्रभु के समर्पण कर दिया हो उसकी रक्षा भगवान क्यों न करेंगे? और जिधर उस परम पिता की प्रेरणा न हो, अथवा जो ईश्वर से विमुख हो रहा हो, उसकी ओर वह कैसे ध्यान दे सकते हैं?

धीरे-धीरे सब लोग वापस जाने लगे। वहाँ दो-एक व्यक्ति ही रह गए। बीस सितम्बर को 'कांगड़ी' गुरुकुल के भण्डारी दयालराम जी भी वहां पहुँचे, और समय पाकर पास से ग्रामीण लोग भी महाराजजी के सत्संग से लाभ उठाने लगे। आप उनको अनेक धर्म और व्यवहार की बातें सुझाया करते। 'असहू' ज़िमींदार को रामायण अथवा कुछ अँगरेज़ी पुस्तकें मँगाकर, सहायता देते रहे। भण्डारीजी को भी आप ने शरीर-शुद्धि के उपरान्त भजन का उपदेश देकर कृतार्थ किया। थोड़े दिनों में परिवर्तन होने लगा और आत्म-शक्ति जग पड़ी।

सर्दी बढ़ने के कारण, अक्तूबर के मध्य में आप 'कटरा' जाकर रहने लगे। यात्रा के दिन भी शुरू होगए थे। नीचे, देश

में इनफ्लूएन्ज़ा का ज़ोर था। यात्री इसको आस-पास के ग्रामों में भी फैला गए। फिर भी स्वामीजी नवम्बर का सारा महीना वहीं डटे रहे।

सातवाँ प्रकरण

सहन-शक्ति

कृष्णकुमार जी अब लाहौर डी० ए० वी० कालिज में पढ़ाने का काम करते थे। लाहौर के लिए स्वामीजी महाराज को निमंत्रण दे गए थे। घर जाकर सत्संग अथवा साधना के प्रभाव को भली प्रकार अनुभव किया था। अपने जीवन में शांति और संयम को देखकर वे बड़े उत्साह से अपनी प्रार्थना को दुहराते रहे। डेढ़ महीना बीमार रहने पर भी सत्संग की इच्छा वैसी ही बनी रही। बीमारी में प्रो० सदानन्दजी भी कभी-कभी ढाढ़स दे आया करते थे। रुग्ण-अवस्था में अनेक औषधियों के सेवन करने से कुछ स्वस्थ होने पर चित्त मलिन तथा असंयमी होने लगा। सत्संग की बहुत आवश्यकता हुई। अपनी तीव्र इच्छा को प्रभु चरणों में रक्खा। परम उदार श्रीसद्गुरुदेव ने लाहौर आना निश्चित कर लिया। स्वामीजी कुछ दिन तो जम्मू में लाला फ़क़ीरचन्दजी के पास ठहरे। फिर ११ दिसम्बर १९१८, बुधवार को १० बजे सुबह लाहौर पहुँचे और प्रो० कृष्णकुमार के घर रहने लगे।

कृष्णकुमार जी का शरीर अभी कमज़ोर था। अभी तक बीमारी का पूरा-पूरा असर दूर नहीं हुआ था। कभी-कभी खांसी

भी हो जाया करती थी। श्रीमहाराजजी ने आते ही कुछ सफ़ाई कराके ऐसे पदार्थों का सेवन कराया जिससे खाँसी शीघ्र दूर हो गई। स्वामीजी ने वैद्यक के ग्रन्थों को देखकर बड़े परिश्रम से पदार्थों के गुण-दोषों की एक बहुत लाभकारी सूची बनाई थी। यागेश्वरजीके पास रहते-रहते साधारण औषधियों का पर्याप्त बोध प्राप्त कर रक्खा था। अपने अथवा सत्संगियों के सम्बन्ध में बहुत कुछ अनुभव भी प्राप्त किए थे, इन्हीं के आधार पर अपने तथा सहवासियों के साधारण कष्ट निवारण के लिए अवस्था-अनुसार औषध-उपचार बताया करते, जिससे अनेक बार बहुत कुछ लाभ भी होता था। आपकी ऐसी कृपा के कारण ही उनका स्वास्थ्य भी शीघ्र अच्छा हो गया।

थोड़े दिन पश्चात् कृष्णकुमार जी का कुटुम्ब भी आगया। विचार था कि उनकी धर्मपत्नी भी कुछ सत्संग से लाभ उठा सकेंगी और भोजन आदि के सम्बन्ध में भी आराम रहेगा, पर हुआ उल्टा ही। जिस नए ढँग से वह रहे हुए थे, वह उस देवी की समझ में न आया। वह भयभीत हो गई। खान-पान में भी कुछ असाधारणता थी। इधर कुछ संयम में होने के कारण दूसरा रंग चढ़ रहा था। भयभीत प्राणी अपनी रक्षा में क्या नहीं करता है! वह देवी पति के मित्रों से शिकायत करने लगी कि 'उसका घर चौपट हो गया है, और वे तो साधु हो जायेंगे'। उनके मित्र भी यह देख कर कि वे परोपकार अथवा गृहस्थ सम्बन्धी कर्त्तव्यों से ढीले पड़ रहे हैं, चिन्तित हो उठे। इधर इस देवी का स्वभाव कुछ कड़ा था, आत्म-रक्षा में और भी उद्विग्न हो उठी। घर में कलह होने लगी। अशांति से व्यथित हो उनके कालिज के काम में भी शिथिलता आने लगी। इससे उसका डर और भी बढ़ गया। अनेक उचित अनुचित उपायों

से उसने अपनी रक्षा के निमित्त यत्न किया। श्री महाराजजी को भी निन्दा सुननी पड़ी। कई सज्जन वहाँ आकर भला बुरा सुना जाते। स्वामीजी ने भी भरसक यत्न किया कि उस देवी का वृथा भय मिट जाय। कृष्णकुमारजी के अनेक मित्र उनके हित के विचार से, स्वामीजी का विरोध करने लगे। इस सब कलह से घबराकर, अपने सम्बन्धियों की ओर से गुरुजी की निन्दा अथवा अपमान होता देख, अपनी उदासीनता और क्रोध को वैराग्य समझ उन्होंने कालिज से इस्तीफ़ा दे दिया। महाराजजी तो दूसरे के कल्याण के निमित्त सब कष्ट सहते रहे। महेशदासजी, हरगोपालजी और नेवराजजी विरोध छोड़ महाराजजी के सत्संग से थोड़ा बहुत लाभ उठाने लगे।

वहाँ ठहरे हुए दूसरे सज्जनों को भी श्री स्वामीजी भजन-साधन में ऊँचा उठाने का यत्न करते रहे। ज्ञान-विज्ञान की अनेक बातें सुझाईं। संयम पर आरूढ़ रहने के नियम-उपनियम सिखलाए, परन्तु कुसंस्कार शीघ्र पीछा नहीं छोड़ते। उनका मन विचलित होने लगा, संयम के पथ से गिरने लगे। कुछ काल तो हठ पूर्वक डटे रहे; पर पीछे जब नौकरी छूट गई और विरोध भी घट गया तो जो जोश सहारा दे रहा था, वह भी जाता रहा। Reaction (पलटा) शुरू हुआ। धीरे-धीरे अपनी त्रुटि प्रतीत करने लगे। कपट और अभिमान प्रकट हो गया। महाराजजी के आगे सब कथा लिख भेजी। फिर भी दयालुता से आपने अपनी कृपा बनाये रक्खी। उपदेश दिया, "अपनी शक्ति देख कर सँभलने का यत्न करो। भूलें और अपवाद होते ही हैं, पर निराश नहीं होना चाहिए। पुण्य के संस्कारों को दृढ़ करते रहना चाहिए। यत्न को मत त्यागो। यदि शुद्ध हृदय से लगे रहे तो प्रभु आप ही

रक्षा करेंगे।" इस अमूल्य अवसर को जिन कारणों से उन्होंने हाथ से खोया वह तो उनका दुर्भाग्य, पर दूसरे सज्जन तो महाराजजी के सत्संग से लाभ प्राप्त करते ही रहे। अजमेर से देवीदत्तजी दस-पन्द्रह दिन के लिए लाहौर आए थे और वहाँ रहकर कुछ साधन करते रहे। बाहर से ला० मुल्कराज, ला० करमचन्द, ला० ईश्वरदास, भक्त धनपतराय, भक्त रामचन्द्र आदि अनेक सज्जन सत्संग के निमित्त समय-समय अनुसार आते रहे। प्रो० सदानन्दजी भी इस वर्ष लाहौर में परिवार सहित थे। कई बार श्री महाराजजी के दर्शनों को आए। ज्ञान-ध्यान की अनेक बातें होती रहती थीं। ऐसे सुअवसर को प्राप्त करके वे भी पूर्ववत् सब प्रकार से अपने जीवन को स्वच्छ बनाने के यत्न में लगे रहे।

बीज कैसा ही अच्छा हो, उपजाऊ भूमि में ही बढ़ सकता है। यदि वैराग्य, संयम और दृढ़ता रूपी खाद न मिले तो क्या हो सकता है? ऐसे सद्गुणों और साधनों से सम्पन्न पुरुष ही श्रीमहाराजजी के उत्तम और श्रेष्ठ उपदेशों से पूरा लाभ उठा सकता है।

महाराजजी का हृदय कितना करुणामय था! एक दिन कृष्णकुमारजी अपनी माता और स्त्री के सहित महाराजजी के पास बैठे थे। महाराजजी जाने वाले ही थे। गुरुदेव कहने लगे "इसकी मोक्ष में इच्छा देखकर संयम तप और भजन का उपदेश देते हैं। इससे 'राधामाई' को कष्ट होता है। हमें तो दोनों का कल्याण चाहिए, इसके कष्ट को भी हम नहीं बरदाश्त कर सकते।" ऐसा कहते हुए महाराजजी की आंखों में आँसू आ गए। बड़े धीरज से रोककर और रुक कर फिर कहने लगे, "किसी का दुःख हमसे नहीं सहारा जाता, शास्त्र को ही आधार

मानकर मोक्ष मार्ग का उपदेश देते हुए जो कष्ट संसारी वासना के अधीन सम्बन्धियों को होता है उससे उपेक्षा ही करनी पड़ती है। प्रभु ही सबको सह लेने का बल देते हैं। हर एक प्राणी अपने अपने मतलब से संसार में विचर रहा है। जिसमें एक का कल्याण है दूसरा उसको बुरा मानता है। शास्त्र के आधार पर ही हम पाप-पुण्य का निर्णय कर सकते हैं। यह भी निश्चय है कि यदि कृष्णकुमारजी शुद्ध भाव से अपने व्रत पर डटे रहे तो इनके तप का प्रभाव इस देवी के हृदय पर भी पड़ेगा। सब क्रोध-शोक हट जायेगा। इसके बिना जब कोई दूसरा रास्ता ही नहीं होगा तो मन आप ही निर्वाह की सूरत निकाल लेता है"। स्वामीजी के चित्त में दूसरे के दुःख को देखकर कैसा दया का भाव उत्पन्न होता था यह तो पूर्ण प्रकार से ईश्वर ही जान सकता है। करुणा के तो आप सागर ही थे। यही इच्छा रहती कि झटपट प्राणी का कल्याण हो जाय। उसको पकड़ कर, घसीट कर, और उठाकर भी परले पार पहुँचाने का यत्न करते। किसी का भाग्य ही खोटा हो तो दूसरी बात, नहीं तो उसका बेड़ा पार होने में कोई सन्देह नहीं हो सकता था।

आठवाँ प्रकरण

एकान्त-सेवन

गांधीजी ने उन दिनों सत्याग्रह की घोषणा कर दी थी। छः अप्रैल को खूब हड़ताल रही। तत्पश्चात् स्वामीजी वहाँ से शीघ्रही चल पड़े। जम्मू से होते हुए, अप्रैल के मध्य में कटरा पहुँच गए। कुटी सुरक्षित थी, वहीं जाकर रहने लगे। वहां भी

आपको अपने भक्त के कल्याण की चिन्ता लगी रही कि कहीं वह अपने व्रत से गिर न जाये। उसको चेतावनी और ढाढ़स दिलाते रहे कि, "यदि वह कड़ा रहा और ब्रह्मचर्य्य-व्रत को न तोड़ा, तो उसकी स्त्री का स्वभाव भी, जो इस समय भयभीत हो रही है, पलट जायेगा। इस प्रकार दोनों का कल्याण होगा।" पर अभी श्रीमहाराजजी को क्या पता था, कि कुसंस्कार पहले ही गिरा चुके थे।

कटरा पहुँचकर 'अमरू' नम्बरदार को गीता पढ़ाने लगे। पुराने साधकों की चिंता भी आप करते रहे। कुछ नये नियम अथवा उपदेश लिख भेजे। "बड़ा शूर-वीर वही है जो काम को जीत ले। इन्द्रियों के स्वाद से खूब सावधान रहे। संसार में कैसे दुःख तुम्हारे सामने हो रहे हैं उन पर दृष्टि रखते हुए वैराग्य को खूब बढ़ाते जाओ। दूसरों के certificate (प्रमाणपत्र) की परवाह न करना। अपने आपको satisfy (संतुष्ट) करने की कोशिश करते जाना चाहिये, नहीं तो गिर जाने का डर है। चुप-चाप अपना काम करते जाओ।" पर ऐसे उपदेश का असर तो वहाँ हुआ जहाँ शुद्ध भावना थी। जहाँ कपट ने डेरा डाला हो, वहाँ क्या हो सकता है?

थोड़े दिन पीछे धनपतरायजी श्रीसेवा में पहुँचे। उनको वलियाराम के यहाँ ठहराया गया। स्वामीजी अकेले ही कुटी में रहा करते थे। गरमी के कारण बाहर सोते थे। कभी-कभी चितरा रात को उधर आया करता था। ग्रामवाले कहते थे, 'महाराजजी, कुछ धूनी रखा करें,' मगर यहाँ तो ईश्वर का सहारा था, फिर भला भय क्यों लगता? इतने ज्ञानी और निर्भय और ईश्वर परायण होते हुए भी आप बड़े विनीत भाव से एक सत्संगी को लिखते हैं, "बाहर ही सोता हूँ। मुझे ईश्वर-कृपा तथा आपके

आशीर्वाद से भय वग़ैरा कुछ नहीं मालूम हुआ। ग्राम वाले तो कहते थे कि धूनी वग़ैरा रक्खूं; पर मैंने ईश्वर के सहारे से आराम से दिन काटे हैं। आगे जैसा होगा देखा जायेगा। चितरा कभी-कभी इधर आता है; परन्तु मेरे पर उसकी भी कृपा-दृष्टि रहती है। आप जब आयेंगे तब आपसे गीता पढ़ूंगा, तब तक जैसी कुछ समझ में आयेगी, समझने की कोशिश करूंगा।" कितना शील और कैसी साधुता है? सूधापन से मनुष्य साधु होता है, आप को अपने ज्ञान-ध्यान का कुछ भी तो अभिमान नहीं।

धीरे-धीरे जब पलटा शुरू हुआ तो वे भी इस बात को अनुभव करने लगे कि दम्भ से बहुत दिन काम नहीं चल सकता। विचार था कि महाराजजी के संग कश्मीर जाते और श्रीसेवा में रहकर जीवन को पवित्र करते। पर अब तो हालत ही दूसरी थी। जब श्रीगुरुदेवजी को सब बात का पता चला तो फिर आपने भी कश्मीर जाने का विचार ढीला कर दिया। जिसके कल्याण की कामना करते उसके सूक्ष्म राग को भी नष्ट करने का विचार रहता। कश्मीर यात्रा का यही कारण था कि रूप देखने में अथवा प्राकृतिक सौन्दर्य्य में यदि उनका चित्त फँसा हो इससे उनको सचेत कर दें। पर यहाँ तो अभी स्त्री का स्थूल विषय ही नहीं छूटा था। कुसंस्कार फिर बड़े ज़ोर से जग रहे थे। ऐसी स्थिति को जानकर परम कृपालु भगवन् फिर उनके हितार्थ उपदेशरूपी अमृत से पुण्य संस्कारों को सींचने का यत्न करने लगे। "पाप तथा छल कपट से विकारों को जीतना असम्भव है। धर्म पर आरूढ़ होकर ही तुम सफलता प्राप्त कर सकते हो। सचाई को सचाई खींचती है। पाप मिश्रित आचरण से स्त्री के श्राप से नहीं बच सकोगे। जवानी में ही सब कुछ हो

सकता है। यदि यह समय यों ही गुजर गया तो बड़ा भारी घाटा रहेगा। स्त्री भाव का नाश किये विना काम नहीं चलेगा। जो निष्कपट भाव से उपदेश पर आचरण करता है वह सफल हो ही जाता है। करनी, कथनी और विचारों में एकता होनी चाहिये। हृदय में कुछ और है, तो काम नहीं बनेगा। महात्मा गांधी की आत्मा इसी तरह से बलवान हुई है कि प्रत्येक विषय में उनके thoughts, (विचार) words (कथनी) और deeds (करणी) एक जैसे होते रहे हैं और होते हैं। ऐसा नहीं है कि मन में कुछ, मुख में कुछ, और कर्म में कुछ और। इतना अवश्य कहता हूँ कि ऊपर लिखित उपाय के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है जिससे सुसंस्कार दृढ़ हों। ख्याल को व्यवहार में लाने ही से संस्कार दृढ़ होता है। युद्ध में चोटें लगती हैं, पर शूरवीर उससे घबराते नहीं। कायरों का काम युद्ध करना नहीं है।"

इस प्रकार गिरते हुए को उठाने का सत् उपदेश देकर सहारा दे दिया। अनेक जन्मों के कुसंस्कारों से युद्ध करने को बल प्रदान किया, 'अपनी अपनी अवस्था-अनुसार यत्न जारी रहना चाहिये इसके विना कोई उपाय नहीं है'।

'नान्यः पंथा विद्यते अयनाय' इसका ही दृढ़ निश्चय हो जाये, तो कभी न कभी कल्याण होकर ही रहेगा। फिर उपदेश देते हैं "जो बीज बोया जाता है उस पर चाहे कितनी मट्टी तथा सुआ (राख) पड़ जाये, परन्तु मौक़ा पाकर अंकुर लाता है, और रक्षित रहने पर फल देता है। यही हाल उपदेश का है। पाप से वह चाहे कुछ काल के लिये दब जाये, पीछे अवश्य असर दिखलाता है। मोह को जीतना अत्यन्त कठिन है। जो पुरुष ज़खमों से घबराता है, वह शत्रुओं के साथ लड़ाई नहीं कर सकता, उसका जीतना तो दूर रहा। हाँ; जो मरद बनकर जान को हथेली

पर लेकर चोट का भय न रखकर लड़ता है वही विजय प्राप्त कर सकता है।"

कटरा में रहते हुए स्वामीजी को पं० कश्मीरी शाहजी से उचित सहायता मिला करती। शाह जी तो पहले साल से ही सब प्रकार की सहायता दे रहे थे। भोजन सामग्री भी उन्हीं के यहाँ से जाया करती थी। नवीन सत्संगी उनके सहारे ही महाराजजी के पास पहुँचते थे। आने-जाने में सब प्रकार का प्रबन्ध वह करा दिया करते थे। उनके पुत्र भी पूरा आतिथ्य सत्कार करते। शाह जी स्वयं बड़े सज्जन और सेवा-भाव से परिपूर्ण पुरुष थे।

यहाँ पर महाराजजी या तो भिक्षा से निर्वाह करते रहे या ऐसे सत्संगी का अन्न ग्रहण करते जो उनके उपदेश पर बड़ी कड़ाई से चल रहा हो और जिसकी कमाई शुद्ध अथवा भाव निष्काम हो। पर जो ढीला हो गया हो, उससे सेवा लेने में उन्हें प्रसन्नता नहीं हुआ करती थी। इसी अभिप्राय से एक सत्संगी को आपने लिखा, "यदि आपकी बहुत रुचि है कि कुछ दें, तो आठ आना महीना दें। परन्तु यह रुपया तब लूंगा जब आप काम-क्रोध के संस्कारों को नष्ट कर देंगे और जब आपके स्वभाव में यह बात दृढ़ हो जायेगी। कर्त्तव्य के विचार से सब काम हो, बदनामी-नेकनामी से बेपरवाह हो जाना, जिह्वा के स्वाद के ख्याल से कोई पदार्थ न खायें, बल्कि शरीर-रक्षा के लिये उपयोगी समझकर खायें, झूठ से सख्त परहेज़ रहे। यह पाँच बातें हैं जो आपके स्वभाव में आ जानी चाहियें। जब तक यह स्वाभाविक न बन जायेंगी मैं रुपया नहीं ग्रहण करूंगा। और तब तक आप कभी भेजने का ख्याल भी न करना। मेरे में कोई सामर्थ्य नहीं कि मैं आपको कुछ बना सकूं, आप अपने पुरुषार्थ

अथवा ईश्वर-अनुग्रह से ही कुछ बन सकते हैं। इससे आपको यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि ईश्वर का दिखाना मेरे लिये असम्भव है। यदि वे आपही कृपा करें तो अपने आपको दिखला सकते हैं। मैं केवल साधन बतलाता हूँ। उन पर चलने से वे कभी न कभी अनुग्रह कर देते हैं, ऐसा ही उनका कथन है।" कितना त्याग है और जिज्ञासु की कितनी हित-कामना। किसी भी आड़ से हो, प्राणी को पुरुषार्थ पर लगाना लक्ष्य रहता था। फिर नम्रता कैसी है। महापुरुष ऐसे ही होते हैं।

फिर लिखते हैं, "आपने पाँच रुपये जो रिश्वत के तौर पर भेजे हैं, उसकी आवश्यकता नहीं थी। बिना जरूरत लेने को भी चित्त राज़ी नहीं होता। आगे से आप ऐसी तकलीफ़ न करें। इस रिश्वत से काम नहीं चलेगा। आपका आना भी वृथा होगा"। हृदय के छिपे भावों को तो आप सदैव जान जाते थे, कभी चूक न हुई थी।

इस साल महाराजजी अकेले ही रहे। संसारी झमेलों के कारण बहुत लोग नहीं आ सके। स्वयं तो कुटी पर रहे, जो कोई आया उसको इधर-उधर ठहरा दिया। प्रो० सदानन्दजी तो कुछ काल सत्संग करने आये ही थे। इस अवसर पर वे स्वामी जी महाराज से श्रीमद्भगवद्गीता के उपदेशों का रहस्य समझते रहे। दूसरे भी कई सज्जन बारी-बारी आते रहे।

नवां प्रकरण

साधु स्वभाव

श्री स्वामीजी महाराज कटरा में १५ दिसम्बर तक अकेले ही आनन्द करते रहे। भिक्षा-वृत्ति से निर्वाह करके एकांत में रहते रहे। मुल्तान से सरदार जेसासिंहजी ने बहुत नम्र निवेदन किया, अजमेर से पं० देवीदत्तजी ने भी बहुत ज़ोर लगाया और लाहौर से प्रो० सदानन्दजी भी आशा लगाए बैठे थे; परन्तु जब आप जम्मू पहुँचे तो ला० फ़क़ीरचंदजी सुपरिन्टेन्डेन्ट महकमा जंगलात ने आपको रोक लिया। इसलिए आपने अपने भक्त को सूचना दे दी, 'मेरी गाड़ी अभी यहाँ पर रुक गई है, जब ड्राइवर एंजिन को चलाएगा, तब गाड़ी आगे को चलेगी। पता नहीं कब तक यहाँ रुकी रहे, फिर यहाँ से कहाँ को चले। इसलिए आपको सूचना दी है कि आप औरों को सूचना दे दें। जो लोग आना चाहें वे विनायक धर्मशाला में आकर ठहर जायें, फिर ढूंढ़ लें, और अपने आने की सूचना अवश्य दें। जब गाड़ी चलने को होगी तब फिर आपको सूचित करूंगा।'

कृष्णकुमारजी अब जालन्धर में नौकर हो गए थे। आपने अपनी अवस्था को लिखा। फिर से सत्संग करने की इच्छा तीव्र होने लगी। महाराजजी ने भी उनकी अवस्था का पूर्ण समाचार उनके मित्रों को भेज दिया, ताकि वे अपने मित्र के पतन से चेतावनी पाकर सचेत रहें।

बख़्शी रामदासजी और कई एक राज्य-कर्मचारी दर्शन करने आए। बख़्शीजी ने बहुत महात्माओं का सत्संग किया

था। यहाँ भी वैसी ही बातें सुनने में आईं। दूसरे लोग तो प्रश्न-उत्तर करते रहे, पर वे उदासीनता से सुनते रहे। ऐसी ही अनेक बातें इन्होंने पहले भी सुनी थीं और ग्रन्थों में भी पढ़ी थीं। फिर बीच में वे पूछने लगे, "महाराजजी, ऐसी तो बातें सब महात्मा लोग कहते हैं। शास्त्रों में भी आई हैं, पर न तो समझ में आती हैं और न हम अमल में ही ला सकते हैं।" तब स्वामीजी ने उत्तर दिया, "यदि छः महीने की छुट्टी लेकर हमारे पास रहो, तो समझ में आने लगेंगी।" इन्होंने यह समझा कि ऐसा उत्तर देने से टालने का ही यत्न किया गया है। फिर यह तो चुप रहे, पर इनकी मंडली के एक विद्वान पुरुष प्रश्न कर उत्तर पाते रहे। जब वहाँ से सब चल दिये, तो कुछ दूर तक चुपचाप चले गये; और एक गली के सिरे पर पहुँचकर जब अलग होने लगे, तो उस विद्वान् साथी ने कहा, "यह कोई विचित्र महात्मा प्रतीत होते हैं। प्रश्न पूरा होने से पहले ही उत्तर तैयार रहता था। अब विचार करने से पता लगता है कि वे उत्तर बिलकुल ठीक बैठते हैं, और पुस्तकों में भी नहीं पाये जाते। इसमें सन्देह नहीं कि यह कोई बड़े अनुभवी पुरुष हैं।" ऐसा सुनकर बख़्शी रामदासजी भी विचारने लगे कि उन्हें भी टाला नहीं गया, और इस अवसर से उनको लाभ उठाना चाहिये। फिर सत्संग को जाने लगे और यह याचना करते रहे कि छः महीने के समय को कुछ कम कर दिया जाये; पर ऐसा न हुआ। वे भी छुट्टी के लिये यत्न करने लगे। पर स्वामीजी के जम्मू रहते हुए उनको छुट्टी न मिल सकी। पीछे जब महाराज जी कटरे चले गये, तब उनको सत्संग का अवसर मिला।

महेशदासजी जो अब बड़ी लगन से भजन में लगे हुए थे, फरवरी में श्री चरणों के दर्शनों के लिये आये। सैर पर जाते हुए

ही स्वामीजी के दर्शन हो गये। वहाँ से सैर करते-करते तवी नदी के किनारे चले गये। वहाँ पर अवस्था के अनुसार आप उनको उचित उपदेश करते रहे। संयम, वैराग्य तथा भजन सम्बन्धी अनेक बातें बताईं। इन दिनों महाराजजी दया-भाव से बड़े पूर्ण हो रहे थे। आपका विचार था कि वह, "साधु ही क्या है जो दूसरे के कल्याण के लिए सब प्रकार से अपने तन-मन को अर्पण न कर दे।" ऐसे ही सेवा-भाव से परिपूर्ण, श्रीमहाराज जी अनेक व्यक्तियों को सहायता देते रहते थे।

दूसरे दिन आप महेशदासजी को नहर के बिजलीघर की ओर ले गये। सब कुछ दिखाकर, वहीं नहाने लगे। जब महेशदासजी पानी के अन्दर गये, तो जल इतना शीतल था कि शरीर सुन्न होने लगा। परन्तु जब स्वामीजी जल में गये, तो आप काफी समय, खूब मल-मलकर नहाते रहे। इस सहन-शक्ति को देखकर वह बड़े चकित थे।

यहाँ अनेक विद्यार्थी आपके पास आया करते थे। कई भक्तजन, साधु, गृहस्थी और जिज्ञासु भी आया करते। उसी मकान में नीचे के हिस्से में कई गृहस्थी रहा करते थे। ऊपर लाला फकीर चन्दजी रहते थे। नीचे एक माई ने अपने पुत्र से कहा कि, "बेटा, तुम भी जाकर कभी कभी महात्मा के दर्शन किया करो।" इस प्रकार रामलाल भी दर्शनों को आने लगे। विद्यार्थियों से तो आपका प्रेम रहा ही करता था, कुछ पूछने ताछने के बाद महाराज जी ने कह दिया था कि "जो बात अपनी पढ़ाई के सम्बन्ध में पूछनी हो, पूछ लिया करो।" इस बात को सुनकर कि स्वामीजी उनके पुत्र को पढ़ाया करेंगे, उसके माता पिता बहुत प्रसन्न थे।

पहले दिन उन्होंने रामलाल को कुछ मिठाई ले दी और कहा कि, "सन्त महात्माओं के पास खाली हाथ जाना ठीक

नहीं।" कुछ मिठाई तो स्वामीजी ने खाई, बाक़ी सब बाँट दी। दूसरे दिन फिर इसी प्रकार वह मिठाई ले गया। स्वामीजी ने उसे ग्रहण कर लिया और बाँट भी दिया, परन्तु समझा दिया कि, "फिर ऐसी रिशवत न लाना।"

तीन महीने तक इस प्रकार से महाराजजी इस विद्यार्थी को सहायता देते रहे। एक दिन पढ़ते-पढ़ते उसके पेट में दर्द होने लगा। स्वामी जी ने तुरन्त गरम पानी कराया और वस्ती क्रिया द्वारा सफ़ाई करा दी, जिससे उसकी पेट की व्यथा दूर हो गई। फिर खाने-पीने के सम्बन्ध में अनेक नियम-उपनियम बताते रहे। यह भी कहा कि, "भोजन तभी करना जब तेज़ भूख लगे। जिस प्रकार अग्नि जलाकर उसकी लपट निकलने पर होम करते हैं, उसी प्रकार जठराग्नि से जिस समय लपट निकलती मालूम पड़े, उस समय भोजन करना उचित है, और वह भी युक्ति से, मानों औषधि ही ले रहे हैं।" और नमक कम खाने के लिए भी कहा।

महाराजजी की संगति से पहले वह बिचारा सब काम अन्धा-धुन्ध किया करता था, जिससे दुःख तथा व्याकुलता रहा करती। महाराजजी के सत्संग से कुछ परिवर्तन होने लगा—ऐसा प्रतीत हुआ कि मानो दूसरा ही जन्म हुआ हो। सत्य है, गुरू की सत्संगति में ही मनुष्य 'मनुष्य' बनता है।

इन्हीं दिनों में, तीसरी बार, रियासी के लाला हरीरामजी ने यहीं पर आपके दर्शन किये। भोजन के उपरान्त कुछ वार्तालाप होती रही। इतने में महाराजजी ने कहा, "कुछ हवन सामग्री की चीज़ें बाज़ार से खरीद कर ले आओ, आपको अच्छी समझ है"। वह सामग्री बनवा लाया। महाराजजी खुद भी मट्टी के प्याले में प्रातः हवन किया करते थे। युवक ब्रह्मचारियों को 'पंच महायज्ञ विधि' रखने, और उसके अनुसार अमल करने की शिक्षा

दिया करते। 'पंच महायज्ञ विधि' की कुछ प्रतियाँ मँगवाने के लिए किसी पुस्तकालय को पत्र भी लिखा था। इन्हीं दिनों आर्य्य-समाज जम्मू का वार्षिक उत्सव था। श्रीस्वामी सर्वदानंदजी के बारे में कुछ चर्चा होती रही तो आप उनके विचार, तप तथा सरलता की बड़ी सराहना करते रहे। फिर जलसा के स्थान पर स्वामी सर्वदानंदजी से आप मिलने गये। परिचय के पश्चात् स्वामी सर्वदानंद जी ने आपको खाट पर बिठाया। कुछ बात-चीत होने लगी। फिर जल्दी ही वार्तालाप करते हुए दोनों महात्मा नदी की ओर चले गये।

जब रामलालजी का इमतिहान हो गया तो वह महाराजजी से गीता पढ़ने लगा। महाराज जी कहा करते कि "श्री मद्भगवद्गीता की हर एक बात अनुभव में प्रत्यक्ष जचती है।" जब कोई बात समझ में न आती, तो कहते कि 'तजर्बा करके देख लो।' बड़ी तुली हुई बातें कहा करते कि जिससे हृदय बड़ा प्रभावित होता तथा जो तजर्बे में भी बिल्कुल ठीक उतरतीं। आपने संध्या तथा हवन करने की विधि भी उसे सिखला दी जिससे उसके जीवन में बड़ा परिवर्तन होने लगा। और भी अनेक उप-देश दिये, "यदि सुखी रहना चाहते हो तो अपनी ज़रूरियात को कम करो, और यदि शादी पर चित्त न हो तो कदापि न करना। इसमें बड़ा भारी बंधन है और बंधन से बड़ा दुःख होता है। अपने मन को कड़ा रक्खो—मन से बड़ी लड़ाई होगी। यदि डटे रहोगे तो सुख पाओगे। मन के अधीन हो गये तो बड़ा दुःख होगा। स्त्री से बड़ा बन्धन हो जाता है और इससे परमार्थ के कामों में से रुचि हट जाती है। इसका कारण यह है कि स्त्री-सेवा में ही समय व्यतीत हो जाता है। स्त्री के ख़ुश रखने की फ़िकर पड़ी रहती है, और इससे हर एक के अधीन होना पड़ता है।

फिर सन्तान से नये बन्धन खड़े हो जाते हैं। स्त्री जो नाच नचाये, नाचना पड़ता है। इसलिये पुरुष को अपना नफ़ा-नुक़सान सोच लेना चाहिए। बिना सोचे-समझे ज़हर का लड्डू नहीं खा लेना चाहिए।"

थोड़े दिन पश्चात् रामलालजी ने ब्रह्मचारी रहने के लिए नियमपूर्वक व्रत ले लिया। परीक्षा से उत्तीर्ण होने के बाद लाला फ़क़ीरचन्द के वसीले से उन्हें नौकरी भी मिल गई।

इसी बीच में जालन्धर से कृष्णकुमारजी भी दर्शनों के लिए आये। नदी किनारे, दो तीन दिन प्रभु-संगति में उपदेश लेते रहे। महाराजजी ने बहुत समझाया कि "विचार करके देखो! संसार बिल्कुल असार है। जितनी भी वस्तुएँ दीखती हैं, वह सब निरर्थक तथा दुःख का मूल हैं। धोके के कारण ही मनुष्य बन्धन में पड़ा रहता है। परन्तु विचार पर खड़ा होने से तत्व को प्राप्त कर सकता है, और संसार-बन्धन से मुक्त हो सकता है। जो पुरुष अपने अनुभव से काम नहीं लेता वह मारा जाता है।"

फिर दूसरे दिन काम के जीतने के सम्बन्ध में अनेक बातें सुझाते रहे। "इसमें सन्देह नहीं कि काम का जीतना बड़ा कठिन है। अनेक वर्षों के तप के पश्चात् ऋषि मुनि लोग भी गिर जाया करते थे, परन्तु यदि मनुष्य ठीक रास्तेसे सच्चाई को ग्रहण करने के लिए कोशिश करता रहे, और यथार्थ बोध पर डट जाय तो इस पर विजय पाना इतना कठिन नहीं।" बड़े प्रेम से गिरते प्राणीको उठाने का ढाढ़स दिया। निराशा में आशा की झलक आने लगी। जिज्ञासु के हृदय में तप तथा संयम के भाव फिर से जागृत होने लगे।

महेशदासजी फिर दूसरी बार यहाँ पर दर्शन करने आये। मुलतान से बेलीसिंह भी आए हुए थे और जम्मू के अनेक सज्जन आपके सत्संग से लाभ उठाते रहे। जहाँ स्वामी जी महाराज अनेक व्यवहार तथा परमार्थ सम्बन्धी उपदेशों से जिज्ञासुओं

को कृतार्थ करते रहे, वहाँ उनकी आर्थिक आवश्यकताओं को भी यथासम्भव दूर किया करते। कुछ पारस भाग, गीता आदि अन्य पुस्तकें भी जिज्ञासुओं को मँगवा दीं। हवन-कुंड तथा अन्य ऐसी वस्तुओं से भी उनकी सहायता करते रहे। १२ एप्रिल के पश्चात् श्रीस्वामीजी जम्मू से चलकर कटरा पहुँच गये।

दसवाँ प्रकरण

उदासी

इस वर्ष भी अनेक सज्जन आपके पास दर्शन तथा सत्संग करने के लिये अपने-अपने समय से आते जाते रहे। प्रोफ़ेसर सदानन्दजी, स्वामी सोमतीर्थजी, कांशीनाथजी, ला० कर्मचन्दजी, महेशदासजी, तथा अन्य अनेक जिज्ञासु महाराजजी के दर्शन और उपदेश से कृतार्थ होते रहे। कृष्णकुमार जी को भी थोड़े दिन आने का सौभाग्य मिला। ला० हरदयालजी भी पहुँचे थे। श्री महाराजजी के पास आठ बजे के बाद सायंकाल तक यथा अवसर सब लोग उपदेश तथा सत्संग के लिये जाया करते। उन दिनों चितरा के भी दर्शन रात को हुआ करते थे। ग्रामवालों के पशुओं की ओर उसकी दृष्टि रहा करती, परन्तु महाराज जी निःसंकोच कुटी की छत पर सोया करते और कभी-कभी चितरा को आस-पास जाते हुए देखा भी करते थे। दोपहर के पश्चात् महाराज जी नाले के किनारे वृक्ष की छाया में बैठा करते, कुछ कथा होती रहती। उधर नाले के पार दो गज़ के फ़ासले पर एक काला साँप आने लगा। कई दिन तक वहाँ आकर बैठ जाता तथा इधर-उधर के कीड़े खाता रहता। कई बार तो ऐसा स्थिर

होकर महाराजजी की ओर देखता रहता मानों कथा सुन रहा है। महाराजजी भी कभी-कभी पूछ लिया करते कि, "कहो यार, क्या हाल है।" इस प्रकार से कई दिन होता रहा। पीछे से साँप के दर्शन होने बन्द हो गये।

ब्रह्मचारी सत्यव्रतजी इसी साल २५ मार्च को संन्यास ग्रहण कर चुके थे। और स्वामी सोमतीर्थ के रूप में ३० जून को कटरा पहुँचे। दूसरे दिन प्रोफ़ेसर सदानन्दजी के साथ ऊपर गये। कुछ दिन कुटी में ही रहते रहे। पीछे से 'ढावा' में स्थान का प्रबन्ध करके वहाँ रहने लगे। इन दिनों काशीनाथजी फ़िदा के प्रोग्राम के सम्बन्ध में बातें हुआ करतीं। महाराजजी इस बात को अनुभव कर चुके थे कि वैराग्य के विना अभ्यास में बहुत पुरुपार्थ निरर्थक रहता है। थोड़ी दूर तो गाड़ी चलती है, पीछे वैराग्य के अभाव में तरक्की रुक जाती है। यदि पहले वैराग्य प्राप्त करने में पुरुपार्थ किया जाय तो बहुत लाभ हो। योग शास्त्र के "अभ्यासवैराग्याभ्याम् तत्वसिद्धिः" सूत्र पर भी विचार होता रहा। अन्त में यही निश्चय हुआ कि वैराग्य के विना कल्याण नहीं हो सकता। स्वामी जी ने कहा 'कोई क्रिया-योग वैराग्य से बढ़कर फलदायक नहीं हो सकता। कमजोरी और बीमारी की हालत में वैराग्य का ही सहारा रहता है। जब दूसरे अभ्यास बन्द हो जाते हैं, तब भी वैराग्य का अभ्यास चलता रहता है। योग-आनन्द के कारण विपय-वासना नहीं छूटती। विपय में सुख ही नहीं है, उसे तो पहले ही छोड़ना चाहिये।'

शास्त्रों के पढ़ने के सम्बन्ध में बात चल पड़ी तो आपने कहा, "ईश्वर-प्राप्ति तथा दुःख-निवृत्ति के लिये पढ़ने लिखने की जरूरत नहीं है। अनेक महात्मा हुए कि जिनको अक्षर-बोध तक भी नहीं था। वैराग्य, विचार और सत्संग, यही आवश्यक हैं।"

फिर वैराग्य के सम्बन्ध में कहा, "जो वैराग्य दुःख होने, रोगी होने और मुर्दा देखने से होता है, वह वैराग्य नहीं, शोक है।' ज्ञानी को वैराग्य होता है, पर शोक, मोह नहीं होता। यदि प्राणों के दबाव से कुछ देर बेखबरी रही तो क्या हुआ? बेखबरी का आनन्द कोई आनन्द नहीं है। जब होश आयेगा तो फिर दुःख होगा। वैराग्य से ही परम शान्ति मिल सकती है।"

बातों-बातों में आपने फिर कहा, "चित्त करता है कि किसी एकांत स्थान में पड़े रहें। जैसा हो शरीर को भोग पर छोड़ दें। पर फिर यही विचार आता है कि आज-कल अच्छे महात्मा कम मिलते हैं। जिज्ञासु को बड़े कष्ट का सामना करना पड़ता है। यदि किसी ऐसे स्थान पर रहें कि अधिकारियों को सहायता मिलती रहे तो अच्छा है। इसलिये सब कष्ट सहते रहते हैं।"

विचार पर बहुत जोर देते थे। 'हर कार्य्य में देखते रहना चाहिये कि हम कैसे स्वार्थ-वश सब कुछ करते रहते हैं। चाहे कुछ भी कहें, वस्तुतः दुःख से छूटने का उपाय ही होता रहता है। अज्ञानता से दुःख के कारण को नहीं जानते, इसलिये उलटा-सीधा प्रयत्न करके दुःख को और भी बढ़ाते चले जाते हैं।'

काशीनाथजी कवि थे। कवि तो अपनी कल्पना के शब्द-जाल पर ही मोहित रहते हैं। जो पुरुष मन की कल्पना को नहीं रोक सकता, वह यथार्थ बोध पर कैसे खड़ा हो सकता है। यह बात भी स्वामी जी महाराज को खटकती थी। आख़िरकार यही निश्चय हुआ कि फ़िदाजी घर से सब सम्बन्ध तोड़ दें। कविता को प्रणाम करें, कल्पना-शक्ति के काग़ज़ी घोड़े दौड़ाने बन्द कर दें। अपनी सम्पत्ति को किसी शुभ काम में लगा देने का पहले से ही प्रबन्ध कर दें। त्याग-भाव से वानप्रस्थ आश्रम का आश्रय लें। फ़िदाजी ऐसा ही करने के लिये घर चले गये और थोड़े ही दिन पीछे वे

सब प्रबन्ध करके लौट आये, और सत्संग में रहकर अनेक उपदेश लिये। "वैराग्य, सत्य को ग्रहण और असत्य को त्याग करने से प्राप्त होता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार को त्याग देने से ही वैराग्य-सिद्धि होती है। सत्य पर डटे रहना चाहिये। प्रत्येक काम में यह विचारना चाहिये कि स्वार्थ से ही सब लोग कर्म करते रहते हैं। जब सम्बन्धी अपने स्वार्थ में रत होकर हमारे परमार्थ में रोड़ा अटकाते हैं तो हमारे हितैषी क्योंकर माने जायें। सब कार्य्य समता और पक्षपात रहित होकर करना चाहिये। अपने पराये का भेद ही मोह अथवा ज्ञान की जड़ है। मनुष्य अकेला आया है, अकेला ही जायेगा। मोह को छोड़, मौत से निर्भय होकर विचरना चाहिये।" इस प्रकार से अनेक वार उपदेश देकर वैराग्य की महिमा सुनाते रहे। काशीनाथजी भी शंका-निवारण करते हुए अपने विचार को बढ़ा रहे थे। थोड़े दिन पीछे वानप्रस्थ-आश्रम के लिये तैयार तो हो गये परन्तु कई कारणों से दस्तावेज़ात तथा अन्य सरकारी पत्रों से अपना नाम नहीं निकलवा सकते थे। इस लिये महाराज जी ने उन्हें नियमानुसार वानप्रस्थी नहीं बनाया-केवल संस्कार विधि से हवन कराया और साधु ब्राह्मण महात्माओं को भोजन भी कराया गया।

बख़शी रामदासजी ने तीन महीने की छुट्टी प्राप्त की, पर कटरा पहुँचने से पहिले ही बीमार पड़ गये। एक-डेढ़ महीना तो ऐसे ही गुज़र गया, फिर स्वामी जी महाराज से पूछा, तो स्वामी जी ने सब वृत्तान्त जानकर लिख दिया, 'कुछ हर्ज नहीं, चले आइये।' यहाँ भी बख़शी जी का स्वास्थ्य बहुत अच्छा न रहा। फिर भी सत्संग में रहकर कई एक नये अनुभव प्राप्त किये, जिससे उनकी श्रद्धा और भी बढ़ती गई। एक दिन बिना नमक-मसाले के भोजन खाया तब आपको पहली बार पता चला कि

"प्रत्येक वस्तु का कुछ अपना स्वाद भी होता है।"

'डावे' में काशीनाथजी के साथ लाहौर-निवासी धर्मचन्दजी भी रहा करते थे। वह कुछ दिन बीमार रहे और पीछे एक रात्रि को उनका देहान्त हो गया। स्वामी सोमतीर्थजी यह विचार कर कि वहाँ भोजन में देर हो जायेगी, महाराजजी की कुटी की ओर चले गये। रास्ते में आप आते हुए मिले। जब सब समाचार सुना तो कहा 'मुझे भी ऐसा ही सन्देह हुआ था, पता करने चला था।' फिर यहीं से लौट गये।

ऐसे ही कई बार जब कटरा से सत्संगी पत्र ले आते और देना भूल जाते, तो स्वामीजी अपने आप कह देते, "आज आपने पत्र नहीं दिया।"

एक दिन महाराजजी पत्थर से फिसल कर गिर पड़े। रीढ़ की हड्डी के अन्तिम स्थान में जो भगन्दर की वजह से प्रथम ही कमज़ोर था बड़ी ज़ोर से चोट लगी। कई दिन तक कष्ट होता रहा। कमज़ोरी को दूर करने के लिये कुछ अधिक घी दूध खाना पीना शुरू किया, तो ज़ुकाम ने आ पकड़ा। कुछ दिन तक उसका इलाज होता रहा।

इस वर्ष कटरे के पं० केदारनाथजी ने आपकी सत्संगति से बहुत लाभ उठाया, भजन-साधन में भी प्रवृत्त हुए।

अजमेर से एक जिज्ञासु बार-बार आने के लिये लिख रहे थे ताकि वे सत्संग का अवसर पा अभ्यास में कुछ उन्नति कर सकें। उनके निवेदन पर महाराजजी ने लिखा, "व्यवहार-शुद्धि की अपेक्षा आपको घटिया बातों की ओर अधिक ध्यान रहता है। आपको मेरे वचन पर विश्वास नहीं है, तो आप मेरे से क्या फ़ायदा उठा सकते हैं ? क्या आप समझते हैं, यदि आप तीन मास की छुट्टी लेकर आजायेंगे तो मैं, जो फ़ीस आपने भेजी है, उसके

बदले में आपकी नौकरी अवश्य करूंगा ? यह ख्याल आपका बिलकुल ग़लत है। जब तक मेरे चित्त में उत्साह नहीं होगा, मैं कुछ नहीं कर सकूंगा। मेरे चित्त में उत्साह तभी हो सकता है जब आपके दिल में तीव्र वैराग्य होगा।" श्री महाराज जी तो ईश्वरीय प्रेरणा के अधीन ही सब काम किया करते थे। जब उत्साह न होता तो आप उपेक्षा कर जाया करते थे।

ग्यारहवां प्रकरण

ज्ञान-सार

रियासी से हरीरामजी चौथी बार आपके दर्शनों को कटरा आये, और रियासी पधारने के लिये निवेदन भी किया। थोड़े दिन पीछे स्वामी तारकानंदजी के साथ आप रियासी चले गये। स्वामी सोमतीर्थ जी चतुरमासां की मर्यादा के कारण साथ तो न जा सके पर कुछ दिन बाद २७ नवम्बर को वहाँ पहुँच गये।

वहाँ पर पहले तो आपने नदी के किनारे एक स्थान देखा वहाँ हवा बड़ी तेज़ चला करती थी। इस कारण इसका विचार छोड़कर कोई और जगह देखने लगे। अंजी नाले के पास, बस्ती से डेढ़ मील की दूरी पर, चन्द्रभामा नदी के पार, एक पहाड़ी के नीचे, मूला नामी सुन्दर चश्मा था, वहाँ ठहरने का निश्चय किया। कुछ मकान तो पहले था पर उसके नीचे एक गुफ़ा भी खुदवाने का प्रबन्ध कर लिया।

महाराजजी को यह संस्कार था कि जन्म-पत्री के अनुसार इस वर्ष मेरे देहान्त का योग है। यह आपकी आयु का अड़तालीसवाँ वर्ष था। आप शरीर छोड़ने की तैयारी कर रहे थे। इसी

सम्बन्ध में एक सत्संगी को लिखते हैं, "यदि शरीर चला गया तो झगड़ा चुका, यदि रह गया तो कुछ दिन और बेगार भुगतनी पड़ेगी।" यहाँ तो ऐसी उपरामता का भाव रहता था।

जिस मरने ते जग डरे, मेरे मन आनन्द।
कब मरहैं, कब देखिहौं पूरण परमानन्द॥

आपने केवल शुद्ध अन्न ही ग्रहण करने का निश्चय कर लिया था जिससे दूषित अन्न के कारण कोई वासना मन में गड़बड़ी न पैदा कर दे। इसी अभिप्राय से अपने परम भक्त को लिखते हैं "यदि आप पूर्ण निष्काम-भाव से देंगे तो लूंगा—परन्तु यह निश्चय रक्खें कि मैं इसके बदले में यह वचन आपको नहीं दे सकता कि कभी-कभी आपको पत्र लिखूं या कम से कम केवल संकल्प मात्र से आपको जय मनाऊँ। यह मुझे बंधन प्रतीत होता है। आप यदि ईश्वर अनुग्रह पर भरोसा रखते हैं तो भिक्षा देना स्वीकार करें, जैसे निष्काम-भाव से कुत्ते को टुकड़ा डाल देते हैं। आशा है कि आप मेरी खुदग़रज़ी और मुफ़्तख़ोरी पर पूर्ण दृष्टि देंगे। मेरे में सामर्थ्य नहीं है जो मैं आपका प्रतिउपकार कर सकूं। परन्तु ईश्वर सर्व कर्म फलदाता होने से अवश्य फल देंगे।. जैसी उदारता आपने मेरे को दिखलाई है, वैसे ही ईश्वर आप पर प्रकट करेंगे। मांगना कर्म मुर्दों का है, देना कर्म ज़िन्दों का है। मुर्दा किसी का कुछ नहीं कर सकता। लिहाज़ छोड़कर चित्त खुश रहता है। आपको यदि बन्धन न मालूम हो, अपने हालात से सूचित करें।'

जिन की वासनाएं नाश हो चुकी हैं, जो प्रारब्ध वश ही शरीर की बिगार भुगत रहे हैं वे सन्त तो संसारी दृष्टि से मुरदा ही हैं। निष्कामना की शिक्षा देने के लिये 'कुत्ते को टुकड़ा देने से अधिक सरल व स्पष्ट दृष्टान्त कहाँ से मिल सकता है? सीधे सरल शब्दों में महाराजजी ने जिज्ञासु के भीतरी लक्ष्य (संसारी वासनाओं

से मर जाना और व्यवहार में पूर्ण निष्काम भाव से कार्य्य करना दोनों बातों को इस पत्र में कैसे अनुपम रूप से समझा दिया है। जो लक्ष्य पर पहुँच चुके हैं वे ही अपने अनुभव के आधार पर ऐसी सरल भाषा में ऐसा उत्तम उपदेश दे सकते हैं।

आपका चित्त भी इस वर्ष सुस्त था। कटरा में तीन सज्जन आपके पास भजन करने के लिये आये; पर उदासीनता के कारण उनको कोरा जवाब दे दिया। हाँ, पूर्ण अधिकारी बनने के लिये कुछ बातें बता दीं।

ऐसा समाचार सुनकर करमचंदजी ने जालन्धर से लिखा :—"यह वर्ष अकाल मृत्यु का है, यदि आप मेरे पास आ जायें तो स्थान का प्रबन्ध भी कर दूंगा और औषधि का भी पूरा प्रबन्ध रहेगा, जिससे यह अकाल मृत्यु टल जाये।" आप प्रो० सदानंदजी को इसके उत्तर में लिखते हैं, "आप उनको मेरी तरफ से धन्यवाद दे दें, कि वे मेरे लिये अपना कमरा देने को और चिकित्सा के चारों पाद उपस्थित करने को तैयार हैं। जब कभी जरूरत होगी, तभी देखा जायगा। वे कहते हैं मेरा यह साल अकाल मृत्यु का है, जो इलाज से टल सकता है। मेरी समझ में काल और अकाल मृत्यु नहीं बैठती। मैं समझता हूँ जब तक शरीर का भोग है अवश्य रहेगा। भोग खतम होने पर चिकित्सा कुछ नहीं कर सकती। परन्तु जिस पुरुष को संसार में सुख न भासे, शरीर से कुछ लाभ प्रतीत न हो, बल्कि क़ैदखाना भासे, उसके लिये यह कितनी मूर्खता की बात होगी कि वह बहुत काल तक जीने का संकल्प करके क़ैद की मियाद को बढ़ाने की इच्छा करे। ऐसी तीव्र इच्छा भी नहीं मालूम होती है कि हठ से शरीर को अभी छोड़ दूं, बल्कि इस वृत्ति में सुख प्रतीत होता है कि जैसा होता है होने दूं। मैं द्रष्टा बना

रहूँ। उदासीन वृत्ति के साथ जब दुःख हो, तब जैसा कुछ भोग बुद्धि के अनुसार सूझे उपाय करूं। परिणाम को मध्यस्थ बना देखता रहूँ। इस वृत्ति के सहारे अब तक जो कष्ट हुए: वे नाटक की तरह प्रतीत होते रहे हैं। चित्त में क्षोभ नहीं हुआ।"

संतोष और वैराग्य का कैसा सुन्दर मेल है! नम्रता और ईश्वर-विश्वास तो कूट-कूटकर भर रहा है! त्याग की पराकाष्ठा है!

आपने यह सूचना अपने सब सत्संगियों को भी दे दी कि इस वर्ष शरीर छूटने का योग प्रतीत होता है, मानों अन्तिम प्रणाम कर रहे हैं। इस दुखदायक सूचना को सुनकर कई एक सत्संगियों ने वहाँ पहुँचकर अंतिम दर्शन करने का विचार किया। पर गृहस्थ के बंधन शीघ्र थोड़ा छोड़ते हैं। महेशदासजी इधर अभ्यास में खूब बढ़ रहे थे। ऐसी सूचना सुन अधीर हो उठे। शीघ्र ही स्त्री को घर छोड़, नौकरी से इस्तीफा दे, श्रीचरणों में जा पहुँचे। दिन को प्रभु-सेवा में रहते, रात्रि को दूर एकांत, एक कुटी में। पीछे जब सर्दी कम हो गई, तो एक छतरा बनवा पास ही आकर रहने लगे।

आपके देहांत की बात जानकर मेंडीजी तथा एक और बुढ़िया भी, वहाँ कुछ दूर पर आकर रहने लगी। यह भी बहुत दिन से भजन में लगी थीं और पहले भी अनेक स्थानों में दर्शन तथा सत्संग करने जाया करती थीं। स्त्रियों का हृदय बड़ा कोमल होता है। सेवा करने और तपोमय जीवन व्यतीत करने चली आईं। स्वामी तारकानंदजी तो सेवा में रहते ही थे।

यहां के कुछ संकुचित भावोंवाले आर्य्य समाजियों का यह विचार था कि "हमको स्वामीजी के यहाँ आने से सनातन विचार के लोगों पर विजय पाने का अवसर मिल जायेगा।" प्रायः ऐसे

ही विचारों को लेकर आया करते थे। महाराज जी तो परमहंस-वृत्ति से रहते थे। इस लिये यह आपको बहुत बुरा लगता था।

लोग विचारा नींदई, जिनहुं न पाया ग्यांन।
राम नाम राता रहै, तिनहुँ न भावै आंन॥

आपने एक दिन कह भी दिया "कि यहां क्षुद्र विचार लेकर मत आया करो। कट्टरपना अच्छा नहीं। दूसरे के दोषों को निकालते हो पर अपने छिद्र नहीं देखते। सभी मत गुण-दोष युक्त होते हैं। यदि जीवन के कल्याण की इच्छा हो तो खंडन-मंडन छोड़कर अपने में सद्गुण लाने का यत्न करना चाहिये। लोग तुम्हारे शुद्ध आचरण को देखकर खुद बखुद तुम्हारे पथ पर आ जायेंगे। केवल दूसरों के दूषण दिखाने से ही लोग तुम्हारे रास्ते पर नहीं चलेंगे।" सन्त कबीर ने सत्य कहा है—

दोष पराये देखकर, चल्या हसंत हसंत।
अपने चित्त न आवई, जिनकी आदि न अंत॥

साम्प्रदायिकता का खंडन करते थे। पर यह लोग कहते कि "यहाँ के लोग अशिक्षित हैं, सभी वेद-विरुद्ध मूर्ति-पूजा करते हैं, आप मूर्ति पूजा का खंडन कीजिये।" जब कोई चारा न देखा, तो आप कहने लगे, "केवल सनातनी तो मूर्ति-पूजक नहीं, सभी मत वाले मूर्ति-पूजक हैं।" महाशयजी बोले, "आर्य्य-समाजी तो मूर्ति-पूजा नहीं करते, वह तो मूर्ति-पूजा का खंडन करते हैं।" महाराजजी ने कहा "मूर्ति-पूजा का अर्थ है, कल्पना करके ईश्वर की उपासना करना। कोई 'सहस्र शीर्षा पुरुषः' कहता है, कोई 'ओ३म्' भी कहता है। यह सभी ईश्वर के नाम हैं, और हैं यह भी कल्पनायें ही। यदि ओ३म् ही ईश्वर का नाम हो, तो 'ओ३म्' कहते ही सारे संसार को पता लग जाना चाहिये कि ईश्वर का नाम लिया जा रहा है, परन्तु मुसलमानों और

ईसाइयों को तो पता नहीं लगता। शब्द तो संकेत है, जिनको उस संकेत का पता है वह ही उसको ईश्वर का नाम मानते हैं। जो कुछ इन्द्रियों के विषयों के अन्तर्गत है, वही मूर्ति है; और जो इन्द्रिय-गोचर नहीं, वह अमूर्ति है। सनातनी रूप के सहारे ईश्वर की पूजा करते हैं, तो आर्य्यसमाजी शब्द के सहारे। हाँ, इतना अवश्य है कि आर्य्यसमाजी सूक्ष्म मूर्ति-पूजक हैं, क्योंकि शब्द, रूप से ज्यादह सूक्ष्म है।' अपना संकुचित मनोर्थ पूरा होता न देख कर वे वहुत असन्तुष्ट हुए। सहन शक्ति तो थी ही नहीं, निन्दा करने लगे। जम्मू की रहनेवाली एक विधवा के दुःख दूर करने, उसको उसके मेके रियासी में माँ के पास पहुँचाने और भजन में लगाने का यत्न महाराजजी कई मास से कर रहे थे। उसके दुःखित जीवन को देखकर आपका दयावान् हृदय अधीर हो उठा। अवला की रक्षा और उसका कल्याण लक्ष्य में था। अनेक उपाय किये। लाला हरीरामजी की सहायता भी माँगी। पर यहाँ तो किसी आड़ से कट्टरपन में अन्ध लोग अपना क्रोध निकालने की ही चाह में थे। खूब अपवाद हुआ, पर आप अचल रहे। उनको धन्यवाद दिया। अपनी सहन-शक्ति की परीक्षा होती रही। 'खल परिहास होई हित मोरा' इस सन्त उक्ति के अनुसार आप सब कुछ सहते रहे। हरीरामजी से इतना जरूर कहा कि, "तुम को भ्रम हुआ है। जिनका कल्याण मेरे से होना था उसमें तुम रुकावट डाल रहे हो। यह भी उनका भोग है, जो किसी पाप के कारण उदय हुआ है। अच्छा, जो हुआ, सो भला है।" यहां के विरोधी कभी-कभी रात को देखने आते कि माईयाँ कहाँ सोती हैं, कहीं रात को महाराजजी की कुटी में तो नहीं चली जातीं। पर इससे भी वे निराश ही हुए। फिर दो दुश्चरित्र स्त्रियों को आपके पास भजन सीखने के वहाने भेजा। उनको देखकर ही

आपके हृदय में घृणा हुई। यह चालाकी भी निरर्थक गई। यह सब सहते हुए आप ईश्वर को धन्यवाद देते रहे कि उन्होंने सब प्रकार से रक्षा की और सहन शक्ति की परीक्षा में पास कर दिया। चित्त में ज़रा भी क्षोभ न हुआ। जो लोग इस दुरभिसंधि के कर्ता थे, वह जब महाराजजी के पास आते तो आप बड़ी उदारता और मित्रता से बात-चीत करते, तथा उचित उपदेश देते। आपका व्यवहार पहले ही जैसा सरल, नम्र तथा प्रेमपूर्ण होता। यह समता और सहन-शीलता महा पुरुषों के ही योग्य है।

पीछे से लोगों को सब बात का पता चला तो क्षमा-प्रार्थना करने आये। पर आपने जब क्रोध ही नहीं किया था तो क्षमा क्या करते? कहने लगे, "भाई तुमने मेरा कुछ बिगाड़ा तो नहीं, बल्कि उपकार ही किया है। अपना अवगुण अपने आप को दिखाई नहीं पड़ता। तुमने सावधान कर दिया है कि यह दूषण कभी न आने पाये।" क्षमा के तो आप धनी थे ही। ऐसी क्षमता जीवन-मुक्त ही दर्शाते हैं।

शरीर के गड़बड़ रहने, चित्त के सुस्त होने तथा मृत्यु के योग की शंका के कारण आपने उपवास तथा मौन रहने का निश्चय कर लिया। गुफा तो बन चुकी थी, उसी में रहने लगे। अन्दर हवन किया करते, अधिक देर अन्दर ही रहते। अभ्यासियों को सहायता देने के अर्थ बोलते, यदि लिखकर काम निकल जाता, तो बात-चीत भी नहीं करते थे। उपवास का क्रम ऐसा रहा—

१५ दिसम्बर से यह व्रत शुरू हुआ। पहले पाँच दिन तोला डेढ़ तोला घी, पाव भर पके हुए पानी में डालकर पीते रहे। फिर इससे चित्त हट गया। तब २१ दिन तक कुल २० से ५० बादाम की ठंडाई दो वक्त पीते रहे। जब इससे भी चित्त हट गया तो फिर यह भी छोड़ दिया। किसी ने कहा था कि 'आठ

दिन जल छोड़ देने से शरीर नहीं रहता', तो आपने तजर्बे के तौर जल भी छोड़ दिया। सब लोग भय से आपको ग्रहण करने की प्रेरणा करते रहे। एक दिन तो शहर में संदेशा पहुँचा कि 'आज रात को महाराजजी का शरीर छूट जायेगा। सवेरे आकर आपका संस्कार कर दिया जाय।' पर जब प्रातः हरीरामजी, फ़िदाजी तथा अन्य अनेक सज्जन पहुँचे तो आप हड्डी के पिंजर को लिये, उज्ज्वल चेहरे के साथ बड़ी सावधानी से बात-चीत कर रहे थे। इसको देखकर सब हैरान रह गये। इसी सम्बन्ध में आपने स्वामी सोमतीर्थजी को एक पत्र लिखा था:—"व्रत के समय प्रथम १५ दिन तक कुछ मेरी ग़लती और कुछ सेवा करने वालों की ग़लती से भूख, गरमी तथा खुश्की ने बहुत सताया। (इन दिनों आप भूख-निवृत्ति के लिये वायु-भक्षण किया करते थे)। जिस दिन से मुझे ग़लती का ठीक पता लग गया, उस दिन से भूख, गरमी तथा खुश्की भी शांत हो गई। परन्तु, जल छोड़ने पर फिर खुश्की शुरू हो गई। भूख-प्यास तो रुक गई, पर खुश्की से कोई तकलीफ नहीं प्रतीत होती थी। अगर शरीर में पानी की मालिश की जाती तो झट सूख जाता था।" फिर जब यह देख लिया कि अभी शरीर का भोग है, तथा सत्संगी भी बहुत दुखी थे तो प्यास न होने पर भी आपने मकर की संक्रान्ति (६ जनवरी १६२१) को जल-ग्रहण करना शुरू किया। पहले तो बहुत कमज़ोर हो गये थे। फिर reaction (पल्टा) हुआ। स्वयं मल-मल कर नहाने की शक्ति आ गई। स्वामी तारकानन्दजी, और मेंड़ीजी की प्रबल सेवा और सब के आशीर्वाद से शरीर बच गया, तथा व्रत निर्विघ्न समाप्त हो गया। कितनी निरभिमानता है। व्रत के समाप्त होने पर आपने स्वामी तारकानन्दजी

और महेशदासजी को बुलाकर उनके चरण धोये। वह बड़े घबराये। शर्म भी उनको लगी। पर आपकी आज्ञा और दृढ़ संकल्प को कौन टाल सकता था। आपने कहा:— "यह मैं इसलिये करता हूँ कि मुझ में यह अभिमान न आये कि मैंने ऐसा कोई अलौकिक कार्य्य सिद्ध कर लिया है।" आप कितने विचारशील तथा विनय-सम्पन्न थे! जिस दिन पानी पीना फिर से आरम्भ किया तब प्यास बिलकुल नहीं थी, दूसरे दिन फिर भी पाव भर पानी हठ से पिया। परन्तु, उस दिन झड़ी के होने, और वायु के अधिक चलने, और ग़लती से कपड़े का सहारा अधिक न रखने के कारण सत्संगियों के साथ देर तक कुटिया में बैठे रहे। इससे सर्दी लग गई। कुछ दिन जोशांदा पिया। सफ़ाई की, शान्ति हो गई। ४० दिन पश्चात् दूध पीना शुरू किया। थोड़ा-थोड़ा दूध पीने लगे। डेढ़ पाव सारा दिन में पिया करते थे। फिर मुनक्का और खजूर का सहारा भी लेने लगे। कुछ सांवक पानी में उबाल कर दूध के साथ खाने लगे। पर अन्न खाने को चित्त नहीं करता था। धीरे-धीरे शरीर कुछ बलवान होने लगा, फिर अन्न भी ग्रहण करने लगे।

इस व्रत में आपको अनेक विचित्र अनुभव हुए। 'व्रत आरम्भ होते ही शरीर कृश होने लगा था। बल को भी घटना ही था। जब निर्जल रहे थे, उस वक्त त्वचा के ऊपर श्वेत छिलका जमा हो गया था, और त्वचा बिलकुल हड्डी से चिपक गई थी। मांसपेशी से त्वचा का कोई सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता था। कनपटी के गढ़ों में कम से कम डेढ़ तोला पानी भर जा सकता था। नाक और चेहरे पर रौनक़ रहती थी। मस्तक की कांति को देखकर लोग हैरान रह जाते थे। वरना बाक़ी शरीर को देखकर यही ख्याल करते थे कि शरीर नहीं रहेगा। इस

सब के होते हुए भी दिल नहीं घबराया। चित्त प्रसन्न रहता था। उत्साह नहीं घटा और व्रत क़ायम रखने का जोश बना रहा। किसी के कहने पर भी जब तक मन रज (भर) न जाये तब तक छोड़ने को चित्त नहीं करता था। लोगों का रोकना बुरा लगता था।

खुश्की का यह हाल था कि यदि मुँह में पानी रखते तो ओष्ठ, मसूढ़े, तथा तालू और ज़बान सब पानी सोख लेते। गले के नीचे एक बूंद भी न जाती।

व्रत के १५ दिन बाद ऐसी हालत आ गई कि खाने-पीने के संस्कार बिलकुल भूल गये। शरीर मानो भूला सा रहता था। निर्जल अवस्था में उसे इतना भूल गये थे कि शरीर के एक अंग का दूसरे अंग से कोई सम्बन्ध नहीं ख्याल में आता था। केवल द्रष्टापने की हालत में रहते। संसार की वासनाओं से मुक्त थे। स्त्रियों से और बहुत से पुरुषों से घृणा हो गई थी। इसलिये माईयों से सेवा लेना बिलकुल बन्द कर दिया था। एक मास तक बन्द रक्खा, तब मेंडीजी भी देश को चली गईं। उस वक्त यही ख्याल रहता कि यदि शरीर छूट जाये, तो कोई हरज नहीं, यह मुर्दा सा दीखता है।

व्रत पूरा होने के बाद बेपरवाही बहुत बढ़ गई थी। खाने पीने में दूसरों की रायज़नी की बिलकुल परवाह नहीं करते थे कि वे क्या कहेंगे। शरीर जब चाहे तब चला जाय। अकसर सभ्यता-असभ्यता की भी परवाह नहीं रहती थी। जिसके साथ जैसा बर्ताव करने को चित्त में आता वैसे ही बिना संकोच करते। निन्दा कुछ बुरी न लगती थी, और न द्वेष का भाव ही उठता था।

उधर मेंडीजी ने श्रद्धा के कारण यह धारणा की थी, कि यदि श्री सतगुरुदेव का शरीर रहा तो एक बड़ा यज्ञ करेंगे तथा

ब्राह्मण साधुओं को भोजन करायेंगे। ऐसा ही हुआ।

कई दिन आप अन्न चबाते रहते, निगलते न थे। ऐसा मालूम होता कि प्राण नाड़ियों-द्वारा रस खींचते जा रहा है। रस जाता हुआ अनुभव होता। आपके गुरू कहते थे कि प्राण ही अन्न को खाता है। पर इस पर विश्वास नहीं था कि वह वेदान्ती हैं इसलिये ऐसा कहते हैं। अब पता चला कि बात बिलकुल ठीक है।

महाराजजी यह भी कहते कि यदि पता लग जाय तो शरीर छोड़ने से पहले ऐसा ही निराहार रक्खें जिससे शरीर छोड़ने में आसानी रहे। फिर जब शरीर कुछ पुष्ट हो गया तो आपने एक भक्त को लिखा:— "१५–२० दिन से इसे खूब खिलाता हूँ, क्योंकि इसने काम अच्छा दिया है। अब खून की वृद्धि भी अधिक है। मांस, चरबी में भी तरक्की है, और अब नौकरी देने लायक हो गया।" आप शरीर को भाड़े का टट्टू (hired pony) समझा करते थे। उसको जैसे उचित समझते कभी पतला कभी मोटा करते रहते। ज़रा भी उस पर दया न करते। अपना लक्ष्य ही सामने रहता कि जितनी सेवा इससे हो सके ले लो। प्रायः जुकाम भी लगा रहता पर बड़ी कड़ाई और बेरहमी से शरीर से सब काम लेते।

शरीर की अवस्था से बिलकुल बेपरवाह रहते। प्रारब्ध पर छोड़ देते। कभी-कभी जब बहुत गड़बड़ा जाता, तो गड़बड़ी चलने देते। जब चित्त करता तो उचित साधन और औषध करके उसको ठीक भी कर लेते। हम तो शरीर को मोटा तथा तगड़ा होने में ही कल्याण मानते हैं, पर आप शरीर कमजोर होते हुए भी अपनी मानसिक तथा आत्मिक शक्ति से सब काम करते रहें। अपने बल, उत्साह, परिश्रम और सहनशीलता से जवानों को

चकित कर देते थे।

एक महाशय ने एक दिन महाराजजी से कहा, "बिना वेद-शास्त्र पढ़े ज्ञान नहीं हो सकता।" महाराजजी ने कहा, "बहुत शास्त्र पढ़ने की जरूरत नहीं है। संयम, वैराग्य और सद्गुरु की आवश्यकता है। यह चीजें हों तो काम बन जाता है।" पर इस वाक्य पर उनको विश्वास न हुआ। गुफा के बरामदे में स्वामी तारकानंद रहा करते थे। उनको दूसरे दिन प्रातःकाल बुलाया और कहने लगे:—'आज-कल लोग थोड़ी बात में विश्वास नहीं करते, बहुत शास्त्र पढ़ने से ही ज्ञान होगा इसी भ्रम में पड़े हुए हैं। तुम जरा समाधान चित्त होकर देखो। तुम्हारे सामने यह विशाल सृष्टि है। इसमें, सिवाय पांच इन्द्रियों और उनके विषयों के, और क्या है? विषय हैं— 'पृथवी, जल, तेज, वायु और आकाश' जिनको तुम 'श्रोत्र, स्पर्श, चक्षु, रसना, तथा घ्राण' इंद्रियों द्वारा जान रहे हो। सम्भव है इससे परे भी कुछ हो; परन्तु उसको जानते नहीं। तुम्हारे साथ एक स्थूल 'शरीर' भी है जिसमें कर्म तथा ज्ञान की इंद्रियां हैं। और यह भी तुम्हें पता लगता है कि एक-एक इंद्रिय द्वारा एक-एक विषय का बोध होता है। एक चीज और भी दिखाई पड़ती है, जो अकेले ही पाँचों को जान रही है। उसे 'मन' कहते हैं। विषय और इंद्रियों का संयोग होते ही उसमें गति उत्पन्न होती है। इसीलिये उसका नाम 'संकल्प-विकल्पात्मक' कहा है। कुछ एक और वस्तु भी दीखती है, जिसको अभ्यासी लोग इन्द्रियों और मन को जोड़नेवाली जानते हैं। उसे 'प्राण' कहते हैं। जब मन किसी बात को जान लेता है तो कोई उसका निश्चय करता है, उसे 'बुद्धि' कहते हैं। कभी-कभी पिछली बात का स्मरण भी करते हैं। जो उस स्मृति को

सामने लाता है उसे 'चित्त' कहते हैं। बुद्धि से लेकर शरीर तक जो कुछ कार्य्य होता है उस सबको जानने वाला भी कोई है, उसीको 'पुरुष' कहते हैं। इन सभी पदार्थों में तुम दो मोटे पदार्थ देखते हो, 'परिवर्तनशील' और 'अपरिवर्तनशील'। परिवर्तन का नाम सुख-दुःख है। वह शरीर आदि में होता है, आत्मा में नहीं, क्योंकि उसमें परिवर्तन नहीं होता। वह ज्ञान स्वरूप है। यदि अन्तःकरण में ही सुख-दुःख है, तो आत्मा को सुख-दुःख क्यों प्रतीत होता है ? अन्तःकरण तो आत्मा से भिन्न पदार्थ है। पता लगता है कि इनके संयोग का कोई और कारण है। उसको 'अहंकार' कहते हैं। यह अहंकार ही दुःख का मूल है और यही संयोग का कारण है। इसको 'अविद्या' कहते हैं। अविद्या का अर्थ 'वस्तु' को ठीक ठीक न जानना है। वास्तव में आत्मा में सुख-दुःख नहीं होता, बुद्धि में ही परिवर्तन हो रहा है। परन्तु वह अपने-आप में मानता है। बस, तुम्हें इतनी ही बातों का पता लग रहा है, पाँच कर्म-इन्द्रियों सहित शरीर, पाँच ज्ञानेन्द्रियां, पाँच विषय, मन, प्राण, चित्त, बुद्धि, अहंकार और एक सब कुछ जाननेवाला आत्मा। तुम यह भी जान रहे हो कि संयोग से दुःख हो रहा है। परन्तु उस दुःख को चाहते नहीं। न चाहते हुए भी, किसी बड़ी शक्ति से शासित तुम इस चक्र में पड़े हो। इस सम्पूर्ण विश्व को नियम में रखनेवाले को, जिसकी प्रेरणा से नक्षत्र, सूर्य, चंद्र आदि अपने-अपने कार्य्य को कर रहे हैं, 'ईश्वर' मानते हैं। वह बुद्धि का विषय तो है नहीं। फिर कैसे जानते हैं ? यह प्रश्न उठ सकता है। जैसे हम स्वयं अपने आपको, जो बुद्धि का विषय नहीं, अनुभव से जानते हैं, उसी अनुभव से ईश्वर को भी जानते हैं। ईश्वर सच्चिदानंद स्वरूप है। तुम ही बताओ इससे अतिरिक्त और क्या है कि जिसको

जानना चाहिये। बहुत शास्त्र पढ़ लेने से भी इससे अधिक किस बात का पता लग जायगा? हाँ, ब्रह्म-निष्ठ सद्गुरू की आवश्यकता पड़ती है, जो ठीक-ठीक मार्ग बतलाकर इस दुःख से मुक्त होने का उपाय बतायें।"

महराजजी द्वैतवादी होते हुए भी 'आत्मा में सुख-दुःख नहीं होता, यह बुद्धि का धर्म है, आत्मा ज्ञान स्वरूप है' ऐसा मानते थे।

अपने व्रत के अनुभव बताते हुए आप ने एक दिन कहा, "उपनिषद् का रहस्य जब शरीर सूक्ष्म हो तभी समझ में आता है। पानी जाते ही लूट मच गई। सभी स्थानों का प्राण पानी को अपनी ओर खींचता प्रतीत होता है, प्राण ही सब कुछ खाता है।" एक दिन आप कहने लगे, "यह शरीर एक मुरदार है जो मेरे से अलग पड़ा हुआ है। इसमें कई कार्टर हैं। जब एक कार्टर में कार्य्य होता है, तो प्राण वहां का सम्वाद दूसरे कार्टर में ले जाता है। सुख-दुःख भी प्राण का खेल ही दीख पड़ता है। शास्त्रकार भी ठीक ही कहते हैं कि इन्द्रिय आदि से सूक्ष्म भोक्ता प्राण ही है।"

इस प्रकार तारकानन्दजी को सब तत्वों का बोध करा दिया। अन्तःकरण चतुष्टय तथा पाँच कोषों का साक्षात्कार हो गया।

व्रत में रहे शरीर कृश हो गया था। चलने में असमर्थ थे, परन्तु मुख पर वही कान्ति थी। सत्संगियों को उसी प्रेम से उपदेश करते। आप बीमार होने पर भी यदि दूसरे को कुछ ढाढ़स मिलती तो झट अपने कष्ट की परवाह न कर उसके हित के लिये उपदेश करने लग जाते।

कई बार कहा करते थे, "शरीर से कुछ लाभ तो प्रतीत होता नहीं, किसी घने जंगल में जाकर शरीर छोड़ दिया जाय

फिर विचारता हूँ, आज-कल लोग अंगरेज़ी पढ़कर पाश्चात्य दर्शन पढ़ धोखे में पड़े हुए हैं, अपने शास्त्र को देखते नहीं, वहके हुए हैं। ऐसे लोगों के हित लिये जनता में रहना चाहिये। जिनका लक्ष्य पुस्तकें लिखकर रुपया कमाना है, वह उपनिषद् के तत्व को क्या समझ सकते हैं? आज-कल जो कुछ लिखा जाता है वह विना अनुभव के इधर-उधर पुस्तकों से लेकर ही लिखा जाता है। विना संयम, वैराग्य आदि गुणों के शास्त्र के गूढ़ तत्वों को समझना असम्भव है।" नवीन सभ्यता और पाश्चात्य दर्शन से चकित अथवा पाण्डित्य के मद में भरे लोग महाराजजी से वार्तालाप करने के लिये आते। थोड़ी ही देर में श्रीमहाराजजी का प्रवचन सुन कर अवाक् रह जाते।

एक दिन एक सत्संगी जो इस वक्त घर छोड़ चुके थे सावुन लेकर कपड़े धोने का विचार करके महाराज जी के पास आये। महाराजजी को कुछ पता नहीं था। पर कहने लगे "साध को अपना खर्च वहुत कम करना चाहिये। सावुन के बजाय, अपनी धूनी की राख से ही कपड़े सफ़ा कर लेने चाहियें।"

यहाँ पर पं० रघुनाथदासजी वकील आपके वड़े भक्त वन गये थे। उनके लड़के तेजराम ने यहाँ पहली वार आपके दर्शन किये। पंडित जी ने उसकी पढ़ाई और हिसाव की कमी का ज़िक्र किया, तो आपने कहा, "कटरा में गरमी में आ जाय, तो हम इसकी कमी दूर करा देवेंगे।" जिसकी ओर आपका चित्त खिंचता तो आप सव प्रकार से उसकी सहायता में जुट जाते। जव यह पता चला कि उसका विवाह हो गया है तो गृहस्थ में रहते हुए ब्रह्मचर्य्य के पालने का उपदेश दिया, तथा कुछ नियम वतलाये।

वैसे तो सारा प्रवन्ध ला० हरीराम जी करते थे। उनमें

सन्देह तथा अश्रद्धा के अंकुर फूटने पर भी वह शर्म के मारे सब काम करते रहे। महाराजजी को यह सब पता था, फिर भी उनके कल्याण पर दृष्टि रखते हुए उन्हीं से ही सब सेवा लेते रहे।

थोड़े दिन के पश्चात् एक गृहत्यागी भक्त की स्त्री, उनके भाई और पिता भी आ गये। उनकी स्त्री को छोड़कर बाक़ी सब चले गये। फिर महाराजजी ने उन दोनों को इकट्ठे ही रक्खा पर वे वीर फिर भी अपने संयम के नियम में डटे रहे। उस देवी की याचना पर महाराजजी ने ज़रा दृष्टि दी, उसकी शक्ति जगने लगी। यदि दो-एक दिन और ध्यान देते, तो सुषुम्णा खुल जाती। पर फिर आपका चित्त इससे हट गया। कुछ दिन बाद आपने इन दोनों को वापस घर भेज दिया। उनसे कहा, "घर रहकर वैराग्य को दृढ़ करो।"

बारहवाँ प्रकरण

समता

१५ मई १६२१ के लग-भग आप स्वामी तारकानन्दजी के संग रियासी से चल दिये। ला० हरीरामजी ने अब अपना सारा क्रोध निकाला। पेट भरकर गाली सुनाते रहे, निन्दा भी की, कई आक्षेप भी किये। यह भी उपदेश दिया कि आप आलिम हैं, सँभल सकते हैं। पर महाराज जी सब कुछ बड़ी सरलता से सुनते रहे। कोई दो घंटा तक खड़े-खड़े समझाते भी रहे कि "आपको ग़लतफ़हमी हो गई है, इसी भूल के कारण जो कल्याण आपका मेरे द्वारा होना था, वह रुका हुआ है।"

महाराजजी की इच्छा थी कि ऐसे निन्दक के भी चरण छू

लिये जायें ताकि हृदय में उसके प्रति अच्छे भाव ही रहें कि उसने अपना कल्याण ही किया है। इसी विचार से चलते समय आपने लाला हरीरामजी के चरण नम्रता-पूर्वक छू लिये। आपका आचरण इस संत-उक्ति के अनुसार था:

निन्दक नेड़ा राखिये आंगण कुटि वंधाई।
विन साबुण पाणी विना निर्मल करे सुभाई॥
निन्दक दूर न कीजिये दीजै आदर मान।
निर्मल तन मन सब करे बक-बक आनै आन॥

साथ ही यह भी विचार था कि किसी प्रकार से उनके हृदय से भ्रम दूर हो और सन्मार्ग में लग जायं, दूसरे के हित पर ही सदैव आपकी दृष्टि रहा करती थी।

कुछ रोज़ पश्चात् कटरा से महाराजजी ने ला० हरीरामजी को एक पत्र लिखा :—

"प्यारे हरीरामजी, नमस्ते, कई बार आपका ध्यान आया। उस दिन जब मैं भजन में बैठा, तो भी आपका ध्यान आ गया। मैंने अपने सिर को आपके क़दमों पर झुका दिया। और आपको गुरू भी मानता हूँ; क्योंकि आपके मुँह से अपनी निन्दा और कड़े शब्दों को सुनकर मुझे अपनी सहन-शक्ति का इमतिहान हो गया। भगवान् की कृपा है कि इस परीक्षा में मैं कामयाब हुआ। मगर आपके लिये ऐसा करना अपनी उन्नति को रोकना है। प्यारे, तुम्हारा चित्त तो शुद्ध है, मगर कुसङ्ग से तुम्हारे में यह ख़राबी आ गई है। तुम्हारे अन्दर यह अभिमान है कि 'मैं सत्य बोलता हूँ।' मगर कई मौक़ों पर आप मेरे सामने झूठ बोले। आप ग़लतफ़हमी का शिकार हुए हैं। अच्छा, यह पापों का फल है, जैसा चाहो, करो।"

ऐसी उदारता, नम्रता, सेवा भाव, फिर भला जिज्ञासु का

चित्त क्यों न पलटता। अन्त में वही हुआ। जब पाप का भोग चुक गया, तब पता लगने लगा कि किस प्रकार से भ्रम में पड़ अपने और दूसरों के कल्याण में बाधा डालते रहे। पश्चात्ताप हुआ और क्षमा-प्रार्थना करके सन्मार्ग में रुचि पैदा हुई।

दूसरे पर किसी प्रकार का क्रोध तथा द्वेष दर्शाना तो आपके लिये असम्भव सा था। इसके विपरीत उससे ऐसा सज्जनता का व्यवहार करते कि वह धीरे-धीरे अपने भ्रम को छोड़कर महाराजजी के सत्संग से लाभ उठाने लगता।

जिस कार्य्य को भी महाराजजी हाथ में लेते, उसको पूर्ण किये बिना कभी न छोड़ते। एक बार कटरा में कमण्डलु में राल लगानी थी। शाम हो गई। तारकानन्दजी ने सोचा कि काम इतना आवश्यक नहीं है, फिर देखा जायेगा। परन्तु महाराजजी बीच में छोड़ने वाले न थे। बड़ी देर हो गई परन्तु आप उसी में लगे रहे, और पूर्ण करके ही सोये। आपने कहा कि "कर्म-मात्र में कुछ न कुछ कठिनाई तो होती ही है। यदि उसमें आई हुई थोड़ी सी कठिनाई के भय से ऊबकर कर्म करना छोड़ दोगे तो तुमही बताओ कि मन की ऐसी आदत बन जाने पर मुक्ति जैसी दुर्लभ वस्तु, जिसके रास्ते में नाना प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, कैसे प्राप्त कर सकोगे।"

महाराजजी के गुणों के सम्बन्ध में तो बड़े-बड़े विद्वान पुरुष आते और धोखा खा जाते। एक दिन एक बंगाली महात्मा महाराजजी से मिलने आये। कुछ वार्त्तालाप के पश्चात् कुटी देखने गये। महाराजजी कुटी को सजाकर तो रक्खा ही नहीं करते थे, परन्तु आँखों की सहन-शक्ति बढ़ाने के लिये कभी-कभी बहुत सफ़ाई करना भी बन्द कर दिया करते थे। वह बंगाली महाशय इस दृश्य को न सह सके, और अपने साथियों में

जाकर कहने लगे कि "यह कैसे योगी हैं। योगी का स्थान तो रमणीक होना चाहिये।" महाराजजी की दृष्टि में तो वही स्थान रमणीक था जो निरुपद्रव, एकान्त और भजन करने लायक़ हो तथा जहां पर स्वच्छ जल-वायु हो। पीछे से जब एक दिन उस महात्मा ने महाराजजी के साथ बिना नमक मसाले का भोजन किया तो कहने लगे, "मेरे विचार भ्रमात्मक थे। मैंने भूल की जो इनके लिये ऐसे-ऐसे विचार प्रकट किये। जिस सात्विक वृत्ति से आप रहते हैं, वह किसी महापुरुष का ही काम है।"

दूसरे के दुःख को देखकर आपके मन में अत्यन्त करुणा उत्पन्न होती थी; और वैसे तो आप अपनी योग की शक्ति छुपाते रहे, पर कभी-कभी दया के कारण उसका प्रयोग हो ही जाया करता। एक गृहस्थ जिज्ञासु आपके पास आये। वह ब्रह्मचर्य्य-पालन का प्रयत्न कर रहे थे। कुछ सफलता होने पर भी उनको गिरावट का भय लगा ही रहता था। महाराजजी के बहुत पीछे पड़े कि आप अपनी शक्ति द्वारा सहायता दीजिये। पहिले तो आप टालने की कोशिश करते रहे, परन्तु वह जिज्ञासु मानने वाले न थे। अन्त में जब वह हर समय यही याचना करते रहे, गुरुदेव भी विवश हो गये। कृपा के आवेश में आपने कहा "अब तुम्हें भय नहीं होगा।" उस दिन से उनका ब्रह्मचर्य्य व्रत कुछ काल तक तो अखंड रूप से चलता रहा। ब्रह्म-निष्ठ, सत्य-आरूढ़ महात्माओं का आशीर्वाद वृथा नहीं जाता। यह व्रत कोई भोग तो नहीं कि केवल महात्मा के आशीर्वाद से मिल जाय। थोड़ी शक्ति तो वे देकर साहस बढ़ा सकते हैं। पर अन्त में तो अपने पुरुषार्थ पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

श्री स्वामीजी और तारकानन्दजी कुछ काल के लिये बाल-गंगा में ठहर गये थे। रियासी में बुख़ार आजाने के कारण कुछ

शरीर अधिक कमज़ोर हो गया था, उसको स्वस्थ करने के विचार और पुरुषार्थ में थोड़े दिन बीत गये।

एक युवा अधीर जिज्ञासु को घर तो भेज दिया था। पर अभी उसके वैराग्य में संदेह था। इसलिये प्रो० सदानंदजी द्वारा सूचना भिजवा दी कि "उसमें पूर्ण वैराग्य नहीं है, उसके अन्दर मोह बहुत है। ऐसी अवस्था में घर ही में रहे तो अच्छा है। जब तक दूषण दूर न हों और वैराग्य तीव्र न हो, तब तक न छोड़े, नहीं तो बहुत कठिनाई झेलनी पड़ेगी। उसे अपने पास रखने में भी बन्धन प्रतीत होता है। यदि वह आयेगा तो संभल कर आये, उसे स्वतंत्र ही रहना पड़ेगा।"

थोड़े दिन बाद वह युवक वहाँ आ ही गये। उनके पिता और उनकी धर्मपत्नी भी पीछे से पहुँचे। युवा काल में मोह को जीतना बड़ा कठिन है। काम भी पीछे लगा रहता है। फिर, महाराजजी को चेला मूंडने की कोई इच्छा नहीं थी, इसलिये उसको वापस घर में रहने के लिये ही कह दिया; और वे लौट गये।

इस वर्ष प्रो० सदानन्दजी जो अप्रैल से मुलतान में कालिज खुलने के कारण वहीं नियुक्त हो गये थे, फिर महाराजजी के सत्संग को आये और कई दिन तक रहकर लाभ उठाते रहे।

यहां तेजरामजी भी गरमी की छुट्टियों में रियासी से आये। महाराजजी से गणित और अंगरेज़ी की कमी पूरी करते रहे। मास्टर कर्मचंदजी भी यहां कुछ दिनों से आये हुए थे, उनसे भी वे अंगरेज़ी की सहायता लेते रहे। स्वामीजी के आज्ञानुसार तेजरामजी ने मास्टरजी से रोटी पकाने की विधि भी सीखी। कुछ दिन बाद महाराजजी ने संध्या पूजन की विधि बतलाई जिससे उनका मन बहुत शांत रहने लगा। उनका विवाह हो चुका था, इससे आपने उनको तीन और भी उपदेश दिये।

"(१) अपनी स्त्री को हिन्दी भाषा पढ़ाना जिससे वह धर्म-ग्रन्थों का पाठ कर सके। इसपर उसने जब पहला अवसर मिला तो उसी समय से ही आचरण शुरू कर दिया। (२) स्त्रीसे कहना, 'मैं तुमसे तब प्रसन्न रहूँगा जब तुम हर प्रकार से सास-ससुर की तन-मन से सेवा करोगी।' इस उपदेश से उसकी गृहिणी का जीवन बड़ा प्रेममय और मधुर बन गया। (३) विषय-भोग में बहुत न फँसना, ब्रह्मचर्य्य के नियम-उपनियमों को पालन करते रहना।" यहाँ रहते-रहते तेजरामजी की दिनचर्य्या इतनी नियम-पूर्वक हो गई कि छुट्टियों के बाद भी जम्मू में जाकर वैसे ही नियमों से रहने लगे। सत्संग में रहकर आपने उस छोटी अवस्था में ही अनेक लाभ पाये जिससे जीवन की कला भी पलट गई।

ला० हरीरामजी भी जम्मू जाते हुए यहाँ आये। उनकी श्रद्धा तो नहीं थी क्योंकि भ्रम अभी मिटा नहीं था; पर फिर भी महाराजजी की बातें उन्हें अच्छी लगती थीं, इसी कारण आने से नहीं रुक सके। यहाँ आकर अपने अनेक संदेहों को स्वामीजी के सामने प्रकट किया। महाराजजी ने भी उनके अज्ञान को दूर करने के लिये बड़े प्रेम से सब-कुछ समझाया। कुछ संशय हिले तो अवश्य पर अभी जड़ से न उखड़े। यह स्वाभाविक है कि जो भाव एक बार जड़ पकड़ लेते हैं वे शीघ्रता से पीछा नहीं छोड़ते, चाहे वह अज्ञानवश ही क्यों न पैदा हुए हों। उनको दूर करने में देर लगती है।

सुभीता और शरीर अस्वस्थ होने के कारण आप नवरात्रों तक यहीं ठहरे रहे। जब सब सत्संगी चले गये और शारीरिक अवस्था भी सुधर गई तो ऊपर अपनी गुफ़ा में जाकर रहने लगे। जब महाराजजी अपनी गुफ़ा में पहुँच गये थे तो वही अधीर युवा जिज्ञासु तीन-चार मास घर रहकर वापस आ गये। आप तो

कहते थे कि 'अभी बहुत कसर है', पर वह बहुत बेचैनी प्रकट कर रहे थे। अपनी इच्छा से ही स्वामी तारकानंदजी से संन्यास ग्रहणकर 'आत्मानंद' के रूप में रहने लगे। उनको डावा में रहने की आज्ञा हुई। और यही निश्चय हुआ कि भिक्षा का प्रबन्ध करके जाड़ा भर वहीं रहें। दैनिक विचार के लिये गुरूजी महाराज ने कुछ उपदेश लिखवा दिये। "(१) पाँच ज्ञान-इंद्रियों से केवल ज्ञान ही होता है, इनसे यथार्थ बोध प्राप्त करना चाहिये। विषय-भोग में पड़ने से यथार्थ बोध नहीं प्राप्त हो सकता। (२) सब ज्ञानइंद्रियाँ शरीर के निर्वाह के अर्थ हैं। (३) शरीर के निर्वाह मात्र पर दृष्टि रखनी चाहिये। (४) दुःखों को हर समय स्मरण करना चाहिये। (५) स्वतंत्रता के लिये हर समय उपाय करते रहना चाहिये। (६) भजन नियमपूर्वक होना आवश्यक है। (७) अभिमान से बचो, नहीं तो गिर जाओगे। (८) द्रष्टा रहने का स्वभाव दृढ़ करना चाहिये। (९) संसारी पुरुषों के संग से दूर रहना चाहिये। (१०) इंद्रियों और मन के विषयों से उपराम रहो (११) मोह की सेना को विचार की सेना से जीतना चाहिये। काम को यथार्थ बोध से, क्रोध को क्षमा से, लोभ को संतोष से, अहंकार को नम्रता से और मोह को संसार की असारता पर विचार करने से जीत सकते हैं। (१२) दुःखों के कारण का त्याग अथवा सर्वनाश, जीवन का लक्ष्य है।"

प्रो० सदानंदजी और सरदार जेसासिंहजी भी मुलतान से बुला रहे थे। कुछ चित्त हुआ भी पर पीछे मुलतान का विचार आते ही घृणा आने लगी। इसका कारण पीछे पता चला। प्रो० सदानंदजी संसारी झगड़ों के कारण दुविधा में थे और यह आशंका थी कि यदि महाराजजी आये तो उनकी सेवा न हो सकेगी। इस भाव का असर गुरुदेव के निर्मल चित्त में

भासित हो गया। आपका चित्त इतना उज्ज्वल रहा करता कि पत्र को देखने मात्र से, वस्तु और मनुष्य के दर्शन से, अथवा उनके चिन्तन से ही उनके अनुकूल भाव चित्त में पैदा हो जाते थे। यही तो ऋतम्भरा प्रज्ञा का लक्षण है।

तेरहवाँ प्रकरण

युवकप्रेम

बख्शी रामदासजी जम्मू में पधारने की प्रार्थना कर रहे थे। बहुत दिनों से श्रद्धा और भक्ति पूर्वक सेवा भी करते रहे। पहले उनको कई बार टाल भी चुके थे, अबकी बार उनको सहायता देने का विचार था। जम्मू में दूसरे सत्संगी भी आशा लगाए बैठे थे। पर यहां एक सज्जन अम्बिकादत्तजी योग का अभ्यास सीखने आए हुए थे, उनकी वजह से श्रीमहाराजजी शीघ्र छुट्टी न पा सके। जब उनकी चिन्ता से मुक्त हुए, तो आप स्वामी तारकानन्दजी के संग दिसम्बर में जम्मू पहुँचे, और वेद मन्दिर में ठहरने का प्रबन्ध किया।

कुछ दिन से रोटी से चित्त घबरा रहा था। ऐसे कठिन व्रत के कारण शरीर और चित्त बहुत सूक्ष्म हो गया था। इसलिए रोटी को छोड़ फल दूध और सब्जी पर निर्वाह करने लगे। रात को एक फटी लोई में गुजारते। दिन को नंगे बदन धूप में बैठे रहा करते थे। आपका कई बार यह विचार होता कि यदि सर्दी गरमी सहार ली जायं, तो कपड़ों का बोझ न लादना पड़े। इसी बात का अभ्यास यहाँ भी कर रहे थे। परन्तु अभ्यास के कारण

ऐसे नियमों से रहते थे कि जिससे आपका शरीर और भी सूक्ष्म होता जा रहा था। शरीर सर्दी गरमी सहारने के क़ाविल नहीं था। जब कभी थोड़े दिन हठ से ऐसा करते रहते तो शरीर फिर गड़बड़ा जाता और लाचारी उस यत्न को त्यागना पड़ता। यह सब होते हुए भी आप प्रायः इसी उद्योग में लगे रहते, और यद्यपि अपने इस लक्ष्य में आप कभी पूर्ण रूप से सफल नहीं हो पाए, परन्तु फिर भी अपने अनेक साधु और गृहस्थी युवक साथियों की अपेक्षा आपका जीवन तितिक्षा से अधिक सम्पन्न था। यहाँ एक ब्रह्मचारी योग सीखने के विचार से आए, और वह पास ही ठहराए गए। उन पर पूरा विश्वास करके स्वामीजी उनकी सेवा में प्रवृत्त हुए। परन्तु उसका चित्त अभी तक योग की अपेक्षा भोग में अति अधिक आसक्त था। थोड़े दिनों बाद एक कम्बल, कुछ रुपया और थोड़ी खाने की सामग्री लेकर चलता बना। महाराजजी ने इश्वर का धन्यवाद किया कि "ऐसे अनधिकारी को भजन में लगाने के पाप से तो बच गए, नहीं तो पीछे कष्ट ही होता।"

महाराजजी के पास अनेक वृद्ध युवा सज्जन सत्संग में आकर विशेष लाभ उठाया करते थे। रामरखाजी ने तो पहली बार ही आपके दर्शन किए। महाराजजी की प्रशंसा तो कई बार अपने सहपाठी तेजरामजी से सुन चुके थे। कई और लड़कों के साथ दर्शनों को आने लगे। दो-चार बार तो चुपचाप बैठकर लौट जाते रहे। महाराजजी उदासीन वृत्ति से बैठे रहा करते। जो लोग आते उनको विषयों के त्याग का उपदेश करते रहते। एक बार साहस करके बड़ी नम्रता और संकोच से पूछा "महाराजजी, आपने विषय-त्याग का तो बहुत उपदेश दिया, पर यह बतलाया ही नहीं कि विषय कैसे छोड़े जाते हैं।" फिर महाराजजी ने एक दिन फूल को दिखलाकर इनको जचवाया कि जब ध्यान से

देखा जाता है तो विषयों में सुख नहीं प्रतीत होता। ऐसेही विचार से अनुभव को दृढ़ करते रहना चाहिए, चित्त आपही उपराम हो जाता है।

रात को शरीर पर कपड़ा थोड़ा ही रखते थे। पर सरदी बढ़ने लगी। इसी पर एक दिन आपने कहा कि "ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वर हमारी परीक्षा ले रहा है। कभी-कभी यह भी विचार आता है कि कहीं निमोनिया न हो जाए। फिर भी बुद्धि यही रहती है कि देखें क्या होता है।" जिस साधन में स्वयं रहते उसीकी ही प्राय: चर्चा किया करते थे। तप, त्याग और वैराग्य सम्बन्धी बातें छेड़ते। यदि कोई पुरुष दूसरा प्रश्न कर देता तो बिना बुरा माने जैसा उचित समझते अपने विचार प्रकट करते थे।

तेजरामजी भी प्राय: दर्शनों को आते रहे। इन्हीं के विचित्र रहन-सहन और खान-पान से प्रेरित होकर रामरखाजी और अन्य कई विद्यार्थी आया करते थे।

जितने भी बड़े पुरुष हुए हैं उनको युवकों से हमेशा प्रेम रहा है। युवकों का चित्त अधिक सरल और झमेलों में कम फँसा होता है। श्री रामकृष्ण परमहंस कहा करते थे, "बालकों का हृदय सोलह आने उनका अपना होता है। यदि वह चाहें तो सारे का सारा प्रभु की भेंट कर सकते हैं। जब उनका विवाह होता है, तो आठ आना चित्त स्त्री ले लेती है, जो शेष बचता है, वह बच्चों सम्बन्धियों, धन, और नाम की इच्छा में बांटा जाता है, फिर भला वह प्रभु को क्या भेंट कर सकते हैं।" यही कारण है कि युवक भी महान उपदेशों को ग्रहण करने के लिए अधिक उत्सुक रहते हैं। उच्च भावनायें उनके आशावादी हृदय में शीघ्र अपना प्रभाव दिखलाती हैं।

रामलालजी भी जो १६१६-२० में आपके पास पढ़ते रहे थे

और सत्संग भी किया था, इस वर्ष फिर आने लगे। उनके विवाह के सम्बन्ध में फिर चर्चा चली। महाराजजी ने यही कहा, "यदि तुम्हारा चित्त नहीं है तो इस बन्धन में कदापि न पड़ो।" सोच-विचार करके, उसने जहाँ उसकी सगाई हुई थी, उनको इनकार लिख दिया। इससे उसके माता-पिता बड़े घबराए। रामलालजी ने उनको निश्चय दिलाया कि वे घर नहीं छोड़ेंगे और उनकी सेवा में लगे रहेंगे। पर उनको विश्वास कब आता था!

उनके पिता एक दिन श्रीस्वामीजी से कुछ बुरा-भला कहने आए। कभी मिन्नत आरज़ू भी करते कि किसी प्रकार से आप स्वयम् उसको विवाह की आज्ञा दे देवें। जब कुछ असर न हुआ, तो वह बहुत बिगड़े। तब महाराजजी ने कहा, 'भाई, मेरी समझ में जो कुछ सत्य होता है, उसीको करने के लिए कह देता हूँ। यदि उसी को कोई करने लग जाय तो इसमें मेरे साथ क्रोधित होने से क्या लाभ है। मैं वही बात भरी समाज में कहता हूँ। किसी का आत्मा शुद्ध है, उसके दिल में लग जाती है। तुम बूढ़े अथवा अन्य लोग भी तो यही बातें सुन जाते हैं, परन्तु उस पर आचरण का ख्याल भी आपको नहीं आता। वह बच्चा है, उसका मन पवित्र है, अब उसे भला काम करने से कैसे रोका जा सकता है। मैं तो सच्ची बात ही कहूँगा। हाँ, जो तुम लोग नाराज़ हो जाओ, तो जब हम भिक्षा माँगने आवें न देना। आखिर कुत्तों को भी तो कई बार तुम टुकड़ा नहीं डालते।" निरभिमानता तथा दृढ़ता का कैसा अनुपम मेल है! रामलाल तो अपने व्रत पर डटे ही रहे, एक दूसरे सज्जन भी इनको प्रण से गिराने का यत्न करते रहे, और पीछे से माता-पिता के कष्ट को देख कर यह कुछ घबरा भी गए, और विवाह करना स्वीकार कर लिया। जब महाराजजी को फिर पता चला तो उन्होंने

ढाढ़स दी और वे फिर अपने प्रण पर अड़ गए। धीरे धीरे जब उसके माता पिता को भी विश्वास हो गया कि उनका पुत्र घर नहीं छोड़ता, पर ब्रह्मचर्य्य से रहना चाहता है, तो वह आपही ढीले पड़ गए। जब लाला हरीरामजी के अपने विचार बदले और भ्रम दूर हो गया, तो कहने लगे, "महाराजजी के उपदेश अमृत हैं, उन्हीं पर चलने से कल्याण हो सकता है।" इस वर्ष रामलाल भी घट-शुद्धि का कुछ अभ्यास सीखते रहे, फिर भजन-साधन में प्रवृत्त हुए।

एक दिन पूज्य महाराजजी केवल लँगोट पहिने हुए बैठे थे। रामरक्खाजी और अन्य विद्यार्थी भी पास ही बैठे थे। बूट, सूट कसे कुछ फ़ैशनेबल आदमी आए। रामरक्खाजी ने कहा "महाराजजी एक चटाई अन्दर से बाहर निकाल लाऊँ ?" आपने उत्तर दिया, "रहने दो, बैठना होगा तो बैठ जायेंगे"। वह आदमी इधर-उधर देखकर अपने बैठने योग्य कोई स्थान न पा वापस चले गए। तब महाराजजी ने कहा, "मक्खीयें उड़ गईं, सो अच्छा हुआ"।

एक दिन लाला हरीरामजी आपसे मिलने आए। महाराजजी उनसे बड़े प्रेम से बातें करते रहे। ऐसा प्रतीत होता था जैसे किसी परम श्रद्धालु से बातें कर रहे हों। जब वे चले गए तो पास बैठे विद्यार्थी को यह सुन कर बड़ा आश्चर्य्य हुआ कि यह वह पुरुष हैं जो भ्रम में पड़ कर आपको कभी गालियाँ देते थे। आपका हृदय द्वेष से सर्वथा शून्य था।

आपके पास ग्राम का बना एक जूता था। बहुत पुराना हो गया था, और गठवाते-गठवाते काफ़ी भारी प्रतीत होता था। जब किसी ने उस जूते के त्यागने के लिए कहा तो आपने उत्तर दिया, "माँग कर निर्वाह जितने थोड़े से हो सके करना चाहिए, नहीं तो प्रतिग्रह का दोष लगता है। साधू को बड़े संकोच से व्यय करना चाहिए।" फटे हुए कपड़े, कई टाकियाँ

लगी हुई धोती, जुड़ते-जुड़ते भारी हो गया हुआ जूता, यह सब आपके सरल और सादा जीवन को दरशाते थे। आज कल तो अनेक लोग साधू बनकर ठाट-बाट से रहने में ही अपना कल्याण समझते हैं।

फ़रवरी के आरम्भ में स्वामीजी कुछ दिन के लिए वृन्दावन और कनखल चले गए थे। वहाँ के सत्संगियों को कृतार्थ कर फिर शीघ्र लौट आए।

जम्मू में प्लेग फूट पड़ी। लोग शहर छोड़कर इधर-उधर जाने लगे। पर सब कहाँ जा सकते थे। लोग बहुत घबराए हुए थे। पहले तो महाराजजी का विचार भी चले जाने को था किन्तु जब लोगों की यह आर्त दशा देखी. तो रुक गए। अनेक नर-नारी सत्संग में आकर धीरज पा जाते। ऐसी शोचनीय दशा में उनको छोड़कर जाने में भी चित्त नहीं मानता था। इसलिए वहीं डटे रहे।

विद्यार्थियों का इम्तहान आगया। यह विचारे कहाँ जा सकते थे ? उनके सम्बन्धी तो चले गए। कई एक तो वेद-मंदिर में ही महाराजजी के पास आकर रहने लगे। पूरा होस्टल सा बन गया। प्रत्येक विद्यार्थी अपनी बारी पर अपनी रुचि अनु-सार भोजन बनाता था। सब लोग वही खाते। दाल-साग बिना नमक के ही बनता था। इनको अभ्यास तो था ही नहीं, कभी कभी नमक माँग बैठते। एक दिन महाराजजी ने स्वामी तारका-नन्दजी से कहा, "तुम इनको नमक देदिया करो, यह तो स्वाद के लिए भोजन करते हैं।" ऐसा सुन कर सब शर्मा गए, और फिर थोड़ा बहुत स्वाद पर अधिकार प्राप्त कर लिया। कभी-कभी आप लड़कों के साथ खेला भी करते थे। एक दिन उनको Potato-game भी सिखलाई।

विद्यार्थियों को खिलाते समय भी आपका ध्यान उनकी

मनोवृत्तियों पर रहा करता था। खेल चुकने पर आप उनको बताया करते कि अमुक लड़के का मन निर्मल है। उसने पीछे रहना स्वीकार किया पर छल नहीं किया। अमुक लड़के ने बनियापन किया है। खेल के नियम को पूरा किए बिना ही वापस लौट गया। अमुक लड़का वीर है, वह हारने के भय से पीछे नहीं हटा, इस प्रकार आचार्य्य की तरह खेल-कूद में भी युवकों को उपदेश दिया करते थे।

आपकी सहन-शक्ति बहुत बढ़ी हुई थी। मार्च में धूप काफ़ी तेज़ हो जाती है; परन्तु स्वामीजी लँगोट लगाए घंटों धूप में बैठा करते थे। आपके युवक साथी थोड़ी देर में घबरा जाते थे। एक दिन रामरक्खाजी ने पूछा कि महाराजजी आपको करना तो कुछ है नहीं, आप शरीर को क्यों इतना कष्ट देते रहते हैं। महाराजजी ने उत्तर दिया "पहले छाते के बिना धूप में नहीं चल सकता था, धूप बहुत काटा करती थी, परन्तु अब जितनी देर चाहूँ बड़े मज़े से चल अथवा बैठ सकता हूँ।"

आपने मान को भली-भाँति मर्दन किया हुआ था। शहर के अनेक सम्मानित पुरुष आपके दर्शन को आया करते थे। परन्तु आप कभी कभी एक सुलफ़ा पीनेवाले साधू के यहाँ जाते और जूते उतारने वाले स्थान में बैठ आया करते। पूछने पर आप कहा करते थे, "मन कहीं अभिमान में अपने आपको बड़ा न समझने पावे, इसलिए इसकी परीक्षा करते रहना चाहिए।"

इस प्रकार युवकों में बालक समान विचर कर उनके सरल पवित्र हृदयों में अनेक शुद्ध संस्कार डालते रहे। पीछे गरमी आ गई तो भी आप रुके रहे। जब लड़कों का इम्तिहान होने लगा तो प्रातःकाल उनको खिला-पिलाकर भेजते थे। उसके बाद भजन में बैठते। जब ज़रूरत पड़ी तो दोपहर की रोटी

भिजवाने का भी प्रवन्ध कर दिया। मातृ-स्नेह से सवकी रक्षा करते रहे। फिर जब उनका इम्तिहान समाप्त हो गया, तो बड़ी उपरामता से कटरे को चल दिए। सबको ब्रह्मचर्य्य का उपदेश देते थे :—"काम के वश मनुष्य घाटे में मरा जाता है। गृहस्थी विषय में रत हो जाते हैं। संतान-निमित्त ही विवाह की आज्ञा है। जो इस बखेड़े में ना पड़ें तो अच्छा है। स्त्री-पुरुष यदि संयम में रहने लगें तो वहुत सा दुःख कम हो जाय, पाप से बचें, और भजन-उपासना में लगकर शान्ति और आनन्द का अनुभव कर सकें।"

एक दिन कुछ वेदान्ती झगड़ा करने आए। पर जब महाराजजी बड़े प्रेम से सब वातों को समझाते रहे तो उधर भी गम्भीरता और शांति आने लगी।

इस वर्ष वख्शी रामदास की प्रेरणा से आप जम्मू में रहे थे। भोजन आदि की सेवा भी वे किया करते। भिक्षा बड़े शुद्ध-भाव से देते कि जिसमें महाराजजी का चित्त प्रसन्न रहता। उन्होंने सत्संग से खूब लाभ उठाया और महाराजजी ने आपको अनेक उपदेश दिए जिनका कुछ सार हम यहाँ देते हैं :—

१—इन्द्रियों के विषयों को निष्पक्ष भाव से देखना चाहिए। मन के संयोग बिना कुछ बोध नहीं हो सकता परन्तु जब तक मन निष्पक्ष न रहे, तब तक यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते।

२—मन का जहाँ-जहाँ लगाव हो, वहाँ-वहाँ यह विचारना चाहिए कि असली तत्व क्या है; कितना धोखा है, कितना भ्रम है, कितनी सच्चाई है। आसक्ति के कारण को देखो, अविद्या है या कुछ और।

३—हर वस्तु से बेलगाव रहना चाहिए, और हर समय मन निष्पक्ष रहे। इसके भावों के अधीन होकर पक्षपात में बुद्धि को फँसने नहीं देना चाहिए।

४—जब मन अपने आप कुछ करना चाहे तो सोचो इससे कौन सा दुःख दूर होगा। यदि दुःख बढ़ना ही हो, तो उस काम को हाथ में लेना मूर्खता ही होगी।

५—एकाग्रता के अभ्यास के लिए जिस काम में रुचि हो उसमें लग जाओ। उसको पूरी तवज्जो से करो। बाधाओं से घबराकर बीच में मत छोड़ो।

६—जो वस्तु या बात निष्पक्षता से जैसी अनुभव में आए, उसको वैसा ही समझना सत्य है, उसके ख़िलाफ़ झूठ है।

७—सत्य के बराबर कोई तप नहीं। इसलिए सत्य और असत्य का निर्णय करो। सत्य का ग्रहण करना और असत्य का बलपूर्वक त्याग करना परम धर्म है। अपने से जुदा जो चीज़ है वह सब विषय में दाख़िल है। इनको सुख लाभके लिए प्रयोग में लाना विषय सेवन है, परन्तु दुःख निवारण के लिए प्रयोग में लाना दवाई है। इसी औषध रूपसे ही सब पदार्थों को बरतना ठीक है।

८—विषय में सुख का धोखा होने से ही राग होता है। यदि यथार्थ बोध से सुख बुद्धि ही उड़ा दी जाय तो फिर राग नहीं होगा। और न चित्त ही फँसेगा।

९—सब दुःख सुख मानसिक हैं। मन की खिलाड़ हैं। हक़ीक़त में प्रकृति के खेलों में न सुख है और न दुःख है।

१०—सबसे ऊँचा दर्जा इस भाव की पुख़्तगी है कि सब कुछ ईश्वर कर रहा है; हम कुछ नहीं कर सकते। गोया अहम-भाव बिलकुल लोप हो जाय। इससे कम यह है कि जो कुछ करें ईश्वर अर्पण करें। अपना ममत्व साथ न रहने दें। तीसरा दर्जा यह है कि जो कर्म किसी फल की प्राप्ति के लिए किया जाय, वह शास्त्र की विधि के अनुसार होना चाहिए; और भावना यह हो कि जो हमारे अधिकार में था, वह हमने कर

दिया ; अब जैसा फल ईश्वर देंगे, उसी में ही संतोष मानेंगे। इससे भिन्न जो भी भावनायें हैं, वह पापमय और अत्यंत दुःख कारक हैं।

भोजन आदि का प्रबन्ध बख़्शीजी की ओर से था ही। कुछ रुपए प्रो० सदानन्दजी ने भोजनादि के लिए भेज दिए। इस पर आपने उनको लिखा, "इतना रुपया बिना ज़रूरत तथा बिना सूचना दिए हुए आ जाना बोझ सा प्रतीत होता है। आशा है आगे को आप इस बात पर ज़रूर ध्यान देंगे। अधिक रुपया पास होने पर बेजा चिन्ता हो जाती है। भूख होने पर जब माता दूध पिलाती है तो दूध अधिक क़दर के योग्य होता है। बिना भूख के अजीर्ण हो जाने की सम्भावना रहती है।"

आप कई बार कहा करते थे कि "गृहस्थी हमारे माई बाप हैं। इन्हीं को हमारे खिलाने-पिलाने की चिन्ता रहती है। वे ही हमारा पालन-पोषण करते हैं।"

स्वामी तारकानन्दजी का विचार नैपाल की तरफ़ जाकर किसी ठंढे स्थान में भजन करने का था। पर फिर वहां जा न सके। यहाँ से महाराजजी और तारकानन्दजी १९ मार्च को चल कर कटरा पहुँच गए।

चौदहवाँ प्रकरण

नम्रता

कटरा पहुँच कर आप फिर उसी कुटी में रहने लगे। एक छतरा में तो स्वामी आत्मानन्दजी रहा करते थे, दूसरा छतरा स्वामी तारकानन्दजी ने अपने लिए बनवा लिया।

स्वामी कृष्णानन्दजी पिछले साल रियासी में मिल आये थे। प्रो० कृष्णकुमार द्वारा ही आपको श्री सेवा में जाने का विचार आया था। आज्ञानुसार गायत्री जाप भी करते रहे थे। जिससे बहुत कुछ लाभ हुआ, आसन भी काफ़ी दृढ़ हो चुका था, इसी वर्ष जम्मू में दर्शन कर आये थे। आदेश अनुसार कटरा पहुँचे। बाल गंगा में रहने का निश्चय हुआ। महाराजजी ने एक दिन व्रत कराके भजन में लगाया। प्राणायाम में लग गये। निर्वात स्थान में अभ्यास करने की आज्ञा थी। खुली हवा में प्राणायाम करने के संस्कार पड़े थे। एक दिन बाहर बैठकर साधन करने लगे, पर सफलता न हुई। जब अन्दर जाकर किया तो ठीक होने लगा। महाराजजी से सब हाल कहा तो आपने उत्तर दिया, "मैं उधर आया था, मैंने देखा कि आप बाहर बैठे साधन कर रहे हैं। मैंने सोचा कि आपने मेरे कहने पर विश्वास नहीं किया, सो ठोकर खाकर समझ आ जायगी।" स्वामी कृष्णानन्दजी दूध और सूखे फलों पर निर्वाह करते थे। दिन रात्रि में चार बार २-३ घंटे साधन करते रहे। फिर शीघ्र ही ध्यान में लग गये। अधिक मौन रहते। महाराजजी के पास तीसरे चौथे रोज़ जाकर सब हाल कह आते, अथवा उचित आदेश ले आते। स्वामी आत्मानन्द भी यथा अवसर आपक सेवा करते रहते। स्वामी कृष्णानन्दजी जब कभी गुरुदेव के पास जाते, तो महाराजजी उनसे बड़ी नम्रता और प्रेम से पेश आते। वे चकित थे कि किसी प्रकार का गुरु भाव नहीं दरशाते। कभी-कभी वे उन्हें पहले से ही दण्डवत कर देते। महाराजजी की इच्छा थी कि वे अभी कुछ काल वहीं रहकर साधन करें परन्तु उनका दिल उचाट था, इसलिये जाने की आज्ञा दे दी।

आत्मानन्दजी का चित्त भी कुछ दिनों से फिर मोहवश हो रहा था। इसी से महाराजजी के प्रति अश्रद्धा बढ़ती जाती थी। संन्यास से लौट घर जाने को तो महाराजजी पाप समझते थे। वहाँ से तो आज्ञा न मिली। फिर चित्त में जलन होने लगी। तब वह दूसरे महात्माओं से अपना हाल कहते रहते थे। कुछ शास्त्र की आज्ञा अथवा प्रायश्चित्त आदि के सम्बन्ध में पूछते रहते। चित्त डाँवाडोल था ही, वे घर लौट आये। जब मुलतान में आये, तो प्रो० सदानन्दजी ने फिर हिम्मत बँधाई। घर गये वहाँ सम्बन्धियों को देख चित्त और डाँवाडोल हुआ, साधू भेष को त्याग कर फिर गृहस्थ में चले गये। जब महाराजजी को पता चला, तो बड़ा तरस आया। वह इस बात पर और भी चकित थे कि कोई संन्यासी प्रायश्चित्त बताकर घर लौट जाने की राय भी दे सकते हैं। आपका विचार था कि ऐसा विधान किसी शास्त्र में नहीं; और जो ऐसा बताते हैं, उनको प्रायश्चित्त की Philosohpy (रहस्य) भी समझ में नहीं आ सकती। प्रायश्चित्त तो अधम अवस्था से ऊपर ले जाता है, ऊपर से नीचे गिराने में कैसे सहायक हो सकता है।

इस बार छुट्टियों में प्रो० सदानन्दजी, मा० कर्मचन्दजी, रामरक्खाजी, साधुसिंहजी आदि अनेक लोग सत्संग करने आये। आपने रामरक्खाजी को भजन-साधन का उपदेश किया। क्रियायें आदि भी सिखलाईं। बहुत चिकने पदार्थ खिलाये बिना उनको अभ्यास में लगा दिया। शायद ऐसा करने का आपका पहला ही तजर्बा था। तजर्बा अच्छा रहा।

रामरक्खाजी को दूध का हिसाब रखने का काम सौंप रक्खा था। इसमें उन्होंने कुछ बेपरवाही कर दी तो महाराजजी ने ज़रा कड़े शब्दों में डाँट दिया। झटपट बाद ही कहा, "तुम

लोग सोचते नहीं कि मुझे गुस्सा लाने में कितनी कठिनाई होती है। मैं समझाता रहता हूँ, तुम ग़लतियाँ करते रहते हो। यह ठीक नहीं। यह पाप है, अपनी ज़िम्मेदारी को तुम समझते नहीं हो।"

ट्रुड में गंगाराम की कन्या बीमार थी। उसके दुःख को देखकर आप कभी-कभी उचित सहायता देने चले जाते और कहते, "देखो संसार में कितना दुःख है। माता को चैन नहीं, पिता भी दुःखी हैं। पता नहीं वह लड़की कितने समय तक संसार में है, पर उसका दुःख देखा नहीं जाता।"

शरीर कमज़ोर था, पर जब कभी वर्षा के कारण कुटी चू पड़ती, तो मट्टी मँगवाकर इतनी देर तक कूटते रहते कि युवक साथी हैरान। उनको क्या पता था कि महाराजजी तो मानसिक शक्ति से ही कड़े से कड़ा कार्य्य कर लिया करते थे।

शहर में रहनेवालों को साबुन से कपड़ा धोने की आदत होती है। एक दिन आपने समझाया, "राख से ही कपड़े सफ़ा कर लेने चाहिए। इससे दुर्गंध तो चली जाती है। बहुत साफ़ कपड़े पहनना भी व्यसन है। कपड़ा इतना साफ़ हो कि बदबू न आए, बहुत फ़ैशन की परवाह नहीं करनी चाहिए।"

जिस कुटी में आप रहते, उसी में सारा सामान रहता। एक जिज्ञासु की यह इच्छा हुई कि रोज़ कमरे को सफ़ा कर दिया जाय। आप उसके भाव को ताड़ गए। कहने लगे, "तुमको आँखों का दोष है, सजा हुआ कमरा तुमको अच्छा लगता है, रूप में फँसे हो। आगे से चार पाँच दिन के बाद ही कमरा सफ़ा किया करो। यदि कोई वस्तु रास्ते में हो, तो हटा दो, ज़रा सहन-शक्ति भी बढ़ानी चाहिए।"

पन्द्रहवाँ प्रकरण

वेदान्त

सरदी के बढ़ने पर स्वामीजी महाराज पहली नवम्बर १९२२, बुधवार को जम्मू पहुँच गए। आपके संग स्वामी तारकानंदजी भी थे। यहाँ पर आप बख्शी रामदासजी, वज़ीर वज़ारत, के पास कुछ दिन ठहरे।

मुलतान से सरदार जेसासिंहजी और प्रोफेसर सदानन्दजी कई वर्षों से बुला रहे थे। इस वर्ष मुलतान जाने का विचार हो चुका था। परन्तु मुलतान में थोड़े दिन पहले कुछ झगड़ा हो गया था, इसी रौले के कारण यह विचार था, कि कुछ दिनों बाद वहाँ पहुँचें। साथ ही, जालन्धर से भी, खींच हो रही थी। महाराज जी का विचार था कि मुलतान में शायद कुछ ज्यादा दिन लग जायेंगे, इसलिए थोड़े दिन जालन्धर रह कर मुलतान पहुँचें। ऐसे ही विचारों से प्रेरित होकर स्वामीजी २० नवम्बर को जालन्धर आ गए। यहाँ पर सात दिसम्बर तक रह कर, कपूरथला और जालन्धर के अनेक सत्संगियों को कृतार्थ करते रहे। आप ठहरा तो मास्टर कर्मचन्दजी के पास करते थे, परंतु साधुसिंहजी भी आपके विशेष कृपा-पात्र थे। यह सज्जन कई वर्षों से महाराजजी का सत्संग कर रहे थे। स्त्री के देहान्त होने के पश्चात् अपने लड़कों सहित बड़े संयम से जैसे-तैसे निर्वाह किया करते। महाराजजी के उपदेश से आप फिर इस बखेड़े में नहीं पड़े। एक सच्चे सिक्ख की तरह भक्ति और उदारता से आपका हृदय भरा हुआ था। गुरुओं की वाणी का पाठ करते करते आप प्रभु के भजन के लिए लालायित हो रहे थे। इधर जबसे स्वामीजी

महाराज की शरण में बैठ कर भजन उपदेश में लगे थे, तब से बड़ी भावना और लग्न के साथ, दिनोंदिन, प्रभु की समीपता प्राप्त करते चले जाते थे। इस बार भी महाराजजी को पास पाकर बहुत लाभ उठाते रहे।

स्वामीजी का विचार था कि रात की गाड़ी से असुविधा होने के कारण यात्रा न करें, परन्तु रात्रि को लाहौर ठहर कर दिन की गाड़ी से मुलतान पहुँचे। इसी विचार से मुलतान से एक आदमी भी आगया था, जिसकी सहायता से जालन्धर से चलकर एक रात्रि लाहौर में रहने का विचार था।

मुलतान एक बड़ा पुराना नगर है। पुरातनकाल में भक्त प्रह्लाद ने यहीं जन्म लेकर अपनी अटल भक्ति का परिचय दिया था। यहाँ पर दैत्यराज हिरण्यकश्यप ईश्वर विमुख होकर शासन करता था। उसने अपने शासन-काल में प्रभु-पूजा के स्थान पर अपनी ही पूजा प्रचलित कर रक्खी थी। राम-भक्त बड़े भयभीत हो रहे थे। ऐसे समय में, भगवान् की अपार कृपा से, भक्त प्रह्लाद ने दैत्यराज हिरण्यकश्यप के घर में जन्म लिया था। छोटेपन से ही, वह राम की भक्ति में मस्त रहता था। पिता ने बहुत प्रकार से स्वयम् समझाया, परन्तु बालक बड़ा दृढ़-प्रतिज्ञ था। उसकी माता और राज्य-कर्मचारी हिरण्यकश्यप के दुष्ट तथा मदोन्मत्त स्वभाव को भली भांति जानते थे। वे सब अनेक प्रकार से प्रह्लाद को पिता का भय जताने लगे, पर वह तो उलटा उन सबको राम-भजन का उपदेश दिया करता था। हिरण्यकश्यप ने अनेक प्रकार से अपने क्रोध को प्रगट किया। अनेक दण्ड विधान किए, परन्तु प्रभु अपने भक्त की रक्षा आप ही करते हैं। अन्त में हिरण्यकश्यप का संहार हुआ। और राम-भक्ति का नाद यहाँ पर गुंजाया गया। इस सब कथा को

समस्त हिन्दू संसार भली भाँति जानता है। प्रति वर्ष चारों दिशाओं में होलिका-दहन के सम्बन्ध में भक्त प्रह्लाद और प्रभु की कृपा की चर्चा होती है। इसी कारण से इस नगरी का पुरातन नाम प्रह्लादपुरी है। इसके अतिरिक्त, यहाँ ही पर और भी अनेक ज्ञानी और संत हुए हैं। यहाँ ही आधुनिककाल में मुसलमान फ़क़ीर शमस्तबरेज़ का आततायियों के हाथ से वध हुआ था। प्रभु की अविचल भक्ति और सत्याग्रह के दो उज्ज्वल दृष्टांतों के कारण यह नगरी विख्यात है। हिन्दू और मुसलमान दोनों में भक्तिभाव बहुत है। अपने साधुओं और फ़क़ीरों के लिए, यह शहर अब भी मशहूर है। ऐसे बहुत से स्थान नगर के अन्दर और बाहर हैं कि जहाँ अनेक भक्त लोग सत्संगति अथवा प्रभु-कीर्तन के निमित्त प्रातः-सायं एकत्र होते हैं। वेदान्त का विचार भी प्रचलित है। ऐसे ही मुसलमानों में भी भक्ति और सूफ़ियाना विचार बहुत पाये जाते हैं।

स्वामीजी महाराज यहाँ पहिले भी आ चुके थे। जब आप नौकरी करते थे, तो मुलतान के संत मोतीरामजी की प्रशंसा सुनी थी। पीछे अवसर मिलने पर आप उनके दर्शन के निमित्त यहाँ पर आए थे। अब फिर इसी पवित्र भूमि में अपने सत्संगियों के भक्ति भाव से प्रेरित होकर महाराजजी यहाँ पर नौ दिसम्बर को पधारे। आपके ठहरने का प्रबन्ध आग़ापुरे में किया गया। इन दिनों में सरदार जेसासिंहजी यहीं रहा करते थे। जिस मकान में स्वामीजी ठहरे हुए थे, वह उनके घर से थोड़ी दूरी पर था। स्वामी तारकानंद जी भी पास ही ठहराए गए। जब तक आप मुलतान में रहे, एक दिन के अतिरिक्त शेष सब समय महाराजजी उस मकान से बाहर, नहीं गए। अभी तक दूध, फल, तरकारी आदि का आहार किया करते थे। अन्न खानेको अभी चित्त नहीं करता था। आपके भोजन

की सामग्री अपने उत्साही भक्त के घर से आया करती थी। शेष स्थानीय सेवा का भार सरदार जेसासिंहजी अथवा नन्दलालजी पर रहा करता था। प्रातःकाल तो स्वामीजी महाराज अपने भजन ध्यान में रहा करते। आठ बजे से वे लोग आते कि जिनको विशेष समय दिया गया होता। दोपहर को भोजन आदि से निवृत्त होकर फिर इसी प्रकार से अनेक अधिकारी आज्ञानुसार भजन उपदेश लेने आते। जो भी दर्शन करने आता, वह पहले इस बात का संदेशा भेजता। सरदार जेसासिंहजी और उनकी अनुपस्थिति में नन्दलालजी द्वारपाल का काम करते थे। सूचना मिलने पर, जिसके प्रति चित्त में जैसी प्रेरणा होती, वैसा उत्तर दिया जाता। यदि चित्त में हटने के भाव उदय होते, तो चाहे कैसाही सम्मानित व्यक्ति क्यों न हो, उसे दर्शन की आज्ञा न मिलती। पर यदि चित्त प्रसन्न होता तो साधारण पुरुष होने पर भी उसे सत्संग की आज्ञा मिल जाती। यहाँ तो ईश्वरी प्रेरणा के अधीन सब काम होता था। समाज किसको बड़ा अथवा छोटा समझता है, कौन श्रीमान अथवा कौन धन-हीन है, इससे सन्तों को क्या वास्ता ?

चार-पाँच बजे के लगभग आम सत्संग लगा करता था, जिसमें सर्व साधारण स्त्री-पुरुष आ सकते थे। कभी-कभी केवल माताओं को ही आने का समय दिया जाता। इस प्रकार से अनेक नारी और नर महाराजजी के दर्शनों और सत्संग से लाभ प्राप्त करते रहे। कभी-कभी दर्शकों की संख्या पचास तक पहुँच जाती। स्थान थोड़ा होने के कारण, कई सज्जन, खड़े ही रहा करते थे। सब प्रकार के लोग दर्शन करने आते। समय-अनुसार ज्ञान-स्थल, देवपुरा, संतोपस्थल आदि सब स्थानों के सत्संगी महाराजजी के दर्शन करने आते रहे। वेदान्त के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न-उत्तर हुआ करते थे। महाराजजी कहा

करते थे " कोरे तर्क-वितर्क से कल्याण नहीं हो सकता। मनुष्य वृथा वागयुद्ध में अपना समय नष्ट करते हैं। ब्रह्मवाद के भ्रम में पड़कर, साधन छोड़ कर सिद्ध बन बैठते हैं। विषय-वासना तो छोड़ ही नहीं सके, मन सर्वदा अशान्त रहता है, कलह और क्लेश में जीवन व्यतीत करते रहते हैं, मोह आदि दोषों से छुटकारा नहीं पाया, माया के जाल में अनेक प्रकार से फँसे होते हुए भी अपने आप को ब्रह्म ही मानते रहते हैं। फिर यह भी नहीं सोचते कि जैसे जब एक पुरुष बूढ़ा हो जाता है तो सब उसको "बाबा" कहने लगते हैं, वह किसी को ऐसा कहने के लिये नहीं कहता, और न ही वह अपने आपको इस उपाधि से बुलाता है; इसी प्रकार यदि तुम 'ब्रह्म' हो तो लोग अपने आपही तुमको 'ब्रह्म' कहेंगे। परन्तु दूसरा तो कोई तुम्हारे ब्रह्मत्व को जानता ही नहीं, तुम वृथा 'अहं ब्रह्मास्मि' का दावा किए चले जाते हो। पर जिस दावा की पुष्टि में एक भी साक्षी न मिले, उसके सत्य होने में संदेह ही है। फिर यह भी विचारो कि जब साधारण पुरुष ही अपने आपको नहीं भूलता तो सच्चिदानन्द स्वरूप, आनन्द-घन पारब्रह्म जो ज्ञानस्वरूप ही हैं, अपने स्वरूप को कैसे विस्मरण कर सकते हैं? संसार को स्वप्नवत् मिथ्या मानने में अनेक दोष आते हैं। (१) स्वप्न बोध होने पर नष्ट हो जाता है, पर संसार भासता ही रहता है। (२) स्वप्न में प्रति दिन नये नये दृश्य दिखाई देते रहते हैं, पर संसार में बहुत कुछ वैसा ही बना रहता है, इसी के आश्रय ही सुव्यवस्थित व्यवहार चलता है। (३) स्वप्न भिन्न-भिन्न पुरुषों को भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, परन्तु जागृत संसार के दृश्यों में अति अधिक समानता है, जिसके कारण सामाजिक जीवन चलता रहता है। (४) स्वप्न का कारण बीज रूप जागृत

अवस्था है, पर संसार स्वप्न का कारण बीज रूप क्या है। जो पूर्व जन्म के संस्कार मानो तो फिर उसका कारण क्या है? ऐसे विचारों से द्वैत ही सिद्ध होता है। परन्तु द्वैत-अद्वैत का झगड़ा निरर्थक है। संसार-दुःख से छूटने के लिए वैराग्य की बड़ी आवश्यकता है। यम-नियम का पालन, आहार-व्यवहार की शुद्धि, विचार-पूर्वक संसार का यथार्थ बाध प्राप्त करना अति आवश्यक है। साधन सम्पन्न हुए बिना कल्याण का पाना असम्भव है। यदि मोक्ष-सुख की इच्छा रखते हो, तो व्यर्थ बातों में अपना समय नष्ट न करो। जीवन बहुत थोड़ा है, धोखे में मत मारे जाओ, शीघ्र ही अपने आचार-विचार को पवित्र करलो, प्रभु की शरण पड़ो। शरण गहे की लाज वह अवश्य रखते हैं। जो सच्ची लगन से उसका दरवाजा खट-खटाता रहता है उसकी कभी न कभी सुनाई हो ही जाती है।"

इस प्रकार, दो-तीन मास तक उसी मकान के अन्दर रहते हुए, अनेक बार मुलतान के प्रेमियों को अपने मधुर-सरस और सरल उपदेशों से अनुगृहीत करते रहे। कभी-कभी पूछनेवाले, वितण्डावाद से प्रश्न करते थे, और कभी द्वेष और क्रोध में आकर पूछते, पर शान्ति-सरोवर, करुणा के सागर, संत सिया-रामजी ऐसे प्रेम और गम्भीरता से उत्तर देते कि बहुत लोगों के हृदयों में श्रद्धा-भक्ति के भाव उदय होने लगते। इसमें सन्देह नहीं, शठ तो शठ ही हैं, उनको तो ब्रह्मा भी कुछ लाभ नहीं पहुँचा सकते, पर जिन हृदयों में कुछ भी भले संस्कार विद्यमान हैं वे शीघ्र ही पारस रूपी सत्संग से कंचन बनने लगते हैं। अनेक नर-नारियों को तो सत्संग का अवसर मिलता ही रहता था इनके अतिरिक्त ईश्वर-प्रेरणा-अधीन कई एक भाइयों और पुरुषों को भी आपके सत्संग से विशेष लाभ प्राप्त हुआ।

भगत धनपतराय पहले १६१६ में कटरा में रह कर सत्संग कर चुके थे। इन दिनों कार्य्य-वश खानेवाल में रहा करते थे। पर जिस भले पुरुष ने एक वार श्रीचरणों में रह कर अमृत-पान किया हो वह भला ऐसे सुअवसर को कब हाथ से जाने देता ? हर इतवार को धनपतिजी, स्वामीजी महाराज के दर्शनों के निमित्त मुलतान आ जाया करते थे। इस प्रकार, अनेक वार, सत्संग करके, अपने जीवन को कृतार्थ करते थे। इन दिनों स्वामी जी हवन करने पर वहुत ज़ोर दिया करते थे। भगतजी ने एक दिन पूछा— "संन्यासी के लिये तो हवन का विधान नहीं किया, तो फिर आप इस कर्म को क्यों करते रहते हैं, वैसे भी हवन करने से क्या लाभ होता है कि आप सवको ऐसा करने का उपदेश देते रहते हैं ?" श्री महाराजजी ने उत्तर दिया, "शास्त्रों की जो आज्ञा है, वह हमारे कल्याण के लिये ही है। शास्त्रों का जो गूढ़ आशय है, सो वह जानें ; पर इतना अनुभव में आता है कि मनुष्य का सूक्ष्म शरीर वायु का वना हुआ है, उसको शुद्ध करने अथवा रखने के लिये हवन से वहुत सहायता मिलती है। शहरों का वायु वहुत गड़वड़ रहता है। यहां आते ही चित्त उदास हो जाता है। हवन करते रहने से कुछ सहारा रहता है। यहाँ का दुर्गन्धित वायु सहन करने का सामर्थ्य आ जाता है। पहाड़ों में भी हवन करने से लाभ ही होता है परन्तु वहां यदि न भी करें तो निर्वाह हो जाता है। शास्त्रों ने तो गृहस्थी के लिए पाप निवारणार्थ इसका विधान किया है, पर अभ्यासी चाहे किसी आश्रम में हो उसके लिए तो हितकारी ही है। चित्त का प्रसाद पाये विना मनुष्य साधन में उन्नति नहीं कर सकता।"

एक दिन, एक आर्य्य समाजी, पण्डित सुरेन्द्र शर्मा, स्वामीजी के पास आकर 'मुक्ति से पुनरावृत्ति' के विषय में पूछने लगे।

स्वामीजी ने कहा, "समझ में नहीं आ सकता कि वह मुक्ति ही क्या हुई, जिससे फिर लौटना पड़े। मोक्ष का अर्थ यही है कि दुःखों से नितान्त छूटना।" वे सज्जन कहने लगे—"स्वामी दयानन्द जी भी योगी थे, उन्होंने तो मुक्ति से पुनरावृत्ति मानी है, उनको भी इस विषय में कुछ अनुभव तो होगा ही।" महा-राजजी ने कहा कि, "इस विषय में अनुभव तो हो नहीं सकता, जब तक कोई वापस लौटकर न आए; और फिर यह भी कैसे निश्चय हो कि वह जो कहता है उसमें किसी प्रकार की भ्रांति नहीं है। उसके कथन को दूसरा पुरुष अपने अनुभव द्वारा परख तो सकता नहीं। हाँ, जो अनुभव है, उसके आधार पर अनुमान तो यही निश्चय कराता है कि मोक्ष होने पर फिर नहीं लौट सकते हैं, और ऐसा अनेक ऋषि-मुनि मानते आये हैं। स्वामी दयानन्दजी योगी होंगे, परन्तु उनके पुस्तकों से तो कुछ पता नहीं चलता। जैसे योग दर्शन के 'तदाद्रष्टुःस्वरूपे अवस्थानम्' इस सूत्र का जो अर्थ उन्होंने किया है वह हमें ठीक नहीं जँचता। स्वामीजी ने 'द्रष्टा' का अर्थ 'परमात्मा' लिया है। ऐसा अर्थ लेना योग दर्शन के आशय के विरुद्ध है। व्यास-भाष्य भी जो कि अति प्रमाणिक है, ऐसा नहीं मानता और न अनुभव में ही ऐसा आता है।"

स्वामीजी महाराज का चित्त ऐसा निर्मल था कि विना जाने हुए भी प्रायः ऐसे प्रसंग की बातें किया करते थे कि जिनका विशेष सम्बन्ध नए आने वाले व्यक्ति से होता था। एक वार, मुलतान के एक प्रसिद्ध वकील मिलने आये। यह पहले भी मिलने आये थे, परन्तु महाराजजी ने चित्त की प्रेरणा के अनुसार मिलने की आज्ञा नहीं दी थी पर इस वार कई सत्संगियों के कहने पर कि वे वड़े सम्मानित पुरुष हैं और

दर्शनों के बहुत इच्छुक हैं, कइ वार पहले भी आ चुके हैं, (महाराजजी का चित्त तो नहीं करता था, फिर भी) आज्ञा दे ही दी। जब वे आकर बैठे, तो श्रीस्वामीजी ने तम्बाकू के व्यसन पर कहना शुरू किया कि जब व्यसन बहुत बढ़ जाता है तो मनुष्य हुक्का को साथ लिये लिये फिरते हैं। पीछे जब वह चला गया, तब स्वामी जी को पता चला कि उस पुरुप में यही बड़ा दोप था।

ऐसे ही, एक वार एक मास्टरजी आपसे मिलने आये, और कहने लगे, कि मुझे भी अपने साथ रक्खें, क्योंकि घर पर बहुत गड़बड़ी होती रहती है, जिससे क्रोध के मारे जलन होती है। वे ऐनक चढ़ाए हुए थे। और उनकी एक आँख में कुछ नुक़्स था कि जिसके कारण उसमें से दीखता नहीं था। महाराजजी इसके सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानते थे। आप समझाने लगे कि देखो "यदि एक पुरुप काना हो, और दूसरा उसे ऐसा कहकर पुकारे, तो पहले को क्रोध आ ही जाता है, पर जब विचार करके देखा जाय कि यह सत्य ही है, तो फिर क्रोध रुक सकता है"।

एक दूसरे सहृदय पुरुप जो भक्ति-भाव से परिपूर्ण तथा सन्त-सवी सज्जन थे महाराजजी की कई दिन से प्रतीक्षा कर रहे थे। प्रह्लादपुरी में कई वर्ष से नृसिंहजी के दर्शनों को नियम से जाया करते थे। महाराजजी के यश और गुणों को सुन चुके थे। कुछ साधन भी करने लग गये थे; पर श्रीचरणों के दर्शनों की इच्छा तीव्र हो चली थी। भक्त धर्मचन्दजी छुट्टी का प्रबन्ध करके कटरा जाने का भी विचार रखते थे, पर ऐसा अवसर न मिल सका। फिर यह जानकर, कि स्वामीजी महाराज अपने एक परम सेवक तथा विशेप कृपापात्र और व्यवहार कुशल तथा परमार्थ

साधन में कटिबद्ध भक्त के निवेदन के कारण शायद जाड़े में यहाँ आजायें, इस आशा से वे धीरज धरकर उस शुभ दिन की बाट देखने लगे। वह दिन आ गया। दर्शन करने के पश्चात् एकान्त मिलने का समय भी प्राप्त हुआ। पहले दिन महाराजजी ने आहार को शुद्ध और सात्विक रखने का उपदेश दिया। जब घर की अड़चनों का ज़िकर किया गया तो महाराजजी ने धीरज से कटिबद्ध होने के लिये कहा, और फिर यथाअवसर एवं आवश्यकता के अनुसार सहायता देने की आशा दिलाई। जब उन्होंने ऐसी शंका की कि "पिता को कष्ट देने से, मुझे पाप तो नहीं लगेगा," तो आपने समझाया "तुम्हारी नीयत उनको दुःख देने की नहीं है, यदि फिर भी, वे आपसे आप दुःखी होते हैं, तो यह उनका भोग है। हाँ, यदि तुम कुकर्म में प्रवृत्त होते तो सारे पाप के भागी तुम्हीं होते। तुम पुण्य कार्य्य में लगते हो, तो तुम्हारा आचरण शास्त्र के अनुकूल होने से जो कोई भी उससे दुःखी होता है उसमें तुम निर्दोष हो।" इस प्रकार कई दिन जब आहार व्यवहार शुद्ध रखने का अभ्यास हो चला तो फिर एक दिन महाराजजी ने उनको प्रातः सात बजे समय देकर, अभ्यास में लगाया, और चित्त स्थिर करने की युक्ति बताई। वे कमरा बन्द करके भजन करने लगे और ब्रह्मचर्य्य से जीवन व्यतीत करने लगे। अब तो उनके पिता को बहुत क्रोध आया और वे स्वामीजी के पास जाकर बहुत बुरा-भला कहने लगे:— "आप गृहस्थियों को क्यों बिगाड़ते हैं? जब उनका कोई लड़का भी नहीं, तो उनकी स्त्री को क्या आश्रय रहेगा? इस तरह वे पाप के भागी बनेंगे। आप भी इस पाप से मुक्त नहीं हो सकते।" महाराजजी ने सब कुछ शान्तिपूर्वक सुना और फिर बड़े प्रेम से आप कहने लगे:—"भाई, मैं किसी को घर से बुलाने गया नहीं, इसी एक मकान के अन्दर

ही रहता हूँ। वाहर जाकर देखा भी नहीं कि तुम्हारा नगर कैसा है। हाँ जो यहाँ चलकर आयेगा, उसको यथाशक्ति सुझा देना साधु का परम धर्म है। सो मैं करता हूँ। आप तो अपने लड़के के वारे में वृथा ही चिन्तित हैं। हमें तो ऐसा पता चला है कि उसका पुत्र होने वाला है।" महाराजजी की शान्ति को देखकर सव हैरान थे। सन्त भला अपनी साधुताई को कव छोड़ते हैं। इस प्रकार धर्मचन्दजी विघ्न-वाधाओं के होते हुए भी, भजन-साधन में लगे रहे। नित्य प्रति दर्शन करने जाया करते और सत्संग में अनेक व्यवहार और परमार्थ सम्वन्धी उपदेश सुनते। उन्हें ऐसा प्रतीत होता कि महाराजजी उनसे पुत्र से भी अधिक स्नेह करते हैं।

यहाँ पर महाराजजी के पास वड़े-वड़े सेठ सम्मानित और प्रतिष्ठित पुरुष आया करते, और चाहते कि स्वामीजी उनको प्रभु-भजन का मार्ग सुझायें; पर जव आप उनको व्यवहार शुद्ध करने का उपदेश देते, तो उन्हें काठ मार जाता। ऐसे ही एक वाबू साहव सरकारी नौकरी से रिटायर होकर, ईश्वर भजन में लगना चाहते थे। नौकरी की अवधि समाप्त कर चुके थे। महाराजजी ने प्रश्न किया, "आप ईश्वर को साक्षी जान कर कहिये कि क्या आप अपनी नौकरी के समय लोगों से रिश्वत लेते रहे हैं? और ऐसा कितना धन आपके पास इस समय जमा है?" झूठ वोलने की हिम्मत न हुई। उसने सच-सच कह दिया "ऐसे कोई वीस हज़ार रुपये मेरे पास होंगे।" तव स्वामीजी ने तुरन्त कहा, "यदि आप उचित अधिकारियों में, कम से कम, दस हज़ार रुपये दान कर दें तो हम आपको अभ्यास में प्रवृत्त कर देंगे।" परन्तु वह ऐसा करने पर तय्यार न हुआ। महाराजजी ने भी स्पष्ट कह दिया, "मोक्ष मार्ग के लिये पहले वल पैदा

करो, जो त्याग से धीरे धीरे उत्पन्न होता है।" चित्त में धन, मान, बड़ाई का लेशमात्र भी आकर्षण नहीं था अतएव जगत के धनी और सम्पन्न, सम्मानित व्यक्तियों के लिए आपके हृदय में कोई विशेष भाव कभी नहीं देखा गया। साधारण स्थिति का व्यक्ति जो भगवान में लगना चाहता था और जो उसका अधिकारी होता था उन्हें बहुत प्रिय था। महाराजजी ने कभी इस बात का भेद भाव प्रगट नहीं किया कि प्रतिष्ठित अथवा धनी पुरुषों को अधिक समय और आदर दें, और निर्धनों की उपेक्षा करें। इसके विपरीत बहुत बार देखा गया कि बड़े बड़े आदमी तो बाहर खड़े रह जाते थे। परन्तु साधारण अधिकारी बहुत देर सत्संग में रहा करते। महाराजजी तो निस्पृह थे। नाम अथवा धन की इच्छा तो थी नहीं, ईश्वर-आज्ञा-अनुसार ही मनुष्यों के कल्याणार्थ उपदेश में प्रवृत्त होते थे, फिर भला ऊँच-नीच का विचार कैसे करते ? हाँ, अधिकार बढ़ाने का उपदेश सबको किया करते।

डाक्टर ज्ञानसिंहजी १९१६ में, ऋषिकेष में महाराजजी के दर्शन कर चुके थे। कुछ अभ्यास करने के कारण, थोड़ी सिद्धि भी प्राप्त थी, पर चित्त तो शान्त था नहीं। जब यहां दर्शनों की आज्ञा मांगी, तो आदेश हुआ कि एक सप्ताह मांस भक्षण छोड़-कर फिर मिलने आना। ऐसा ही उन्होंने किया। महाराजजी ने विषयों के त्याग करने का उपदेश किया, और समझाया कि "सिद्धि के मार्ग में पड़ने से कल्याण नहीं हो सकता, सांसारिक लाभ चाहे कुछ मिल जाय।" तजरबा करके सुझाया कि "जब निष्पक्ष होकर विषयों को देखते हैं तो उसमें सुख नहीं मिलता।" इस प्रकार अनेक बार सत्संग करके कल्याण-मार्ग का उपदेश लेते रहे।

लाला राधाकृष्ण भी उपदेश के लिये उत्सुक हो रहे थे।

पण्डित सातवलेकरजी की पुस्तकों के आधार से कुछ प्राणायाम का अभ्यास किया करते थे, पर स्वामीजी से कहने का साहस नहीं होता था। उनका स्वभाव सरल और हृदय पवित्र देखकर, एक दिन स्वामीजी ने अपने आप ही, उन्हें प्रातःकाल आने की आज्ञा दी। फिर भजन उपदेश भी किया। आहार व्यवहार शुद्ध रखने पर विस्तार से समझाते रहे। विषय-वासना को त्याग करने का रास्ता सुझाया। एकान्त सेवन के लिए आदेश किया और ऐसा भी कहा, "तुम्हारा हृदय सरल है, यदि डटे रहे, तो कल्याण में कुछ सन्देह नहीं।" ऐसे आशीर्वाद और मंगल-कामना से उत्साहित होकर वे अनेक वार श्री चरणों में बैठकर जीवन को कृतार्थ करते रहे। आपके सत्संग से उनका जीवन पलट गया, सन्तोष की मात्रा बढ़ गई, मृत्यु का भय कम होने लगा, संसार की दुःखरूपता भासने लगी, निष्काम कर्म का रहस्य समझ में आने लगा और अखण्ड ब्रह्मचर्य्य पालन करने का अतुल सामर्थ्य उन्हें मिल गया।

सरदार जेसासिंहजी तो प्रति दिन सेवा में रहा ही करते थे। सायंकाल पीछे आपको श्रीचरणों में एकान्त सत्संग का नित्य प्रति अनुपम-अवसर मिलता। महाराजजी की अमृत वाणी को भक्ति-भाव से सुनते, संशय-निवारण कराते, और अनेक प्रकार से स्वामीजी की सेवा करते हुए रात्रि में चिरकाल तक वहीं रहा करते थे। आपके परम-भक्त भी अनेक वार महाराजजी के दर्शनों को आया करते थे। व्यवहार के अनेक झमेलों के कारण उनको श्री स्वामीजी के सत्संग करने का बहुत अवसर तो नहीं मिला करता था, परन्तु विचारशील और अनुभवी होने के कारण, वे जितना थोड़ा अवसर प्राप्त करते थे, उतने में ही अपने कल्याण के लिए पर्याप्त उपदेश

ग्रहण करने का पूरा यत्न करते। महाराज जी की उन पर विशेष कृपा तो रहा ही करती थी। इस लिए जितना थोड़ा अवसर इनको मिलता था, उतने में ही आप उनसे बहुत बातें कर लिया करते थे। इसके अतिरिक्त, महाशय कन्हैयालाल, लेखराम, रामलाल, बाबा बजरंगदास, कुंवरभान, मूलचन्द, मलिक मेहरचन्द, श्यामदास आदि अनेक सज्जनों ने श्री महाराज जी के चरणों में बैठकर बहुत लाभ उठाया। कई एक तो अभ्यास में भी लगाये गये। कुछ एक ने शरीर शुद्धि के अर्थ भी क्रियाओं का अभ्यास सीखा। स्वामीजी क्रियाओं की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया करते थे। स्वाद को जीतने, धर्म के नियमों का पालन करने, व्यवहार को शुद्ध करने, ब्रह्मचर्य्य का सेवन, विषयों से वैराग्य आदि ऐसी अनेक बातों की ओर सत्संगियों का ध्यान खींचा करते थे।

इस प्रकार तीन महीने तक अनेक जीवों का हित चाहते हुए महाराज मुलतान में रहे। चित्त उदास रहा करता था और कभी-कभी बहुत सुस्त पड़ जाता। शहर की दूषित और दुर्गन्धित वायु भी आपके सूक्ष्म अन्तःकरण पर अपना असर करती ही रहती, लोगों के गड़बड़ व्यवहार और क्षुद्र विचार से चित्त में घृणा (हटने का भाव) भी होती रहती ; परन्तु फिर भी हठ से दूसरों के कल्याण में लगे ही रहते। यही विचार रहा करता कि जिनका कल्याण ईश्वरीय प्रेरणा के अनुसार होना है, होता रहे, और अपने भाग्य में जो कष्ट भोगना है उसका भी निपटारा हो जाय।

अन्त में, जब चित्त बहुत सुस्त तथा उदासीन होने लगा, और मुलतान का भोग समाप्त हो गया, तो एक दिन चुपचाप ग्यारह बजे की गाड़ी से चल दिये। सिवाय दो एक सत्संगियों के

शेष किसी को पता भी न चला कि महाराजजी आज जा रहे हैं। जब महाराजजी जिज्ञासुओं से बात-चीत किया करते थे, तो ऐसा प्रतीत होता कि उनके कल्याण के लिए बहुत चिन्तित हैं। आप बड़े प्रेम से सब वृत्तान्त पूछते, उचित उपदेश देते, विघ्नों के आने पर उत्साह दिलाते हुए उनसे मुक़ाबला करने की विधि बतलाते, उनके हित के लिए निन्दा और अपमान भी सहते, परन्तु चित्त से सर्वदा उदासीन रहा करते। देखने में, मोह से भरे हुए प्रतीत होते; परन्तु निःस्वार्थ प्रेम, निष्काम भाव और ईश्वरीय प्रेरणा के कारण सर्वदा बेलाग रहा करते थे। जाने की तिथि तक का किसी को पता न चलता था। उसी दिन ही एक-दो व्यक्तियों को इत्तला कर देते कि अमुक गाड़ी से जाने का विचार है। आपके त्याग और वैराग्य को सब समझते थे। आपकी अटल इच्छा-शक्ति और अविचल धारणा से सब परिचित थे, किसीको रोकने का साहस न होता। और जिस मुसाफ़िर-दृष्टि का उपदेश दिया करते थे, उसी के अनुसार आपका व्यवहार हुआ करता। जिस शास्त्रीय जीवन का आप व्याख्यान करते थे, जिस योग और वैराग्य का आपके द्वारा निरूपण होता था, जिस ज्ञान-ध्यान की चर्चा आपके यहाँ चला करतीं, जिस प्रभु की शरण का महत्व आप बखानते थे, वे सब बातें आपके जीवन में प्रत्यक्ष दीखा करती थीं। पुस्तकों का अध्ययन तो रहता ही नहीं था, फिर हर प्रश्न का उत्तर, प्रत्येक समस्या का हल, अनेक उलझनों का सुलझाना, विघ्न-बाधाओं पर जय प्राप्त करने की युक्ति बताना, सुख-दुःख, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा इन सब में सम रहना, क्रोध के कारण उपस्थित होने पर भी शान्ति और प्रेम को न छोड़ना, घबराहट में पड़े जिज्ञासुओं को उत्साह देते हुए, स्वयं धीरगंभीर बने रहना, यह

सब कैसे सम्भव हो सकता था ! पूर्ण आत्म-समर्पण हो चुकने पर भक्त-वत्सल भगवान् आप ही सब योग-क्षेम के जिम्मेदार रहते हैं। सन्तों का चित्त तो प्रभु की लीला का क्रीड़ा-स्थल बना होता है फिर किसी प्रकार की चिन्ता कैसे खड़ी हो सकती है ? प्रभु जैसा उचित समझते हैं सुझाते और कराते हैं।

सोलहवां प्रकरण

निरभिमानता

स्वामीजी महाराज मुलतान से वृन्दावन को चले गये जिससे उधर रहनेवाले सत्संगियों को लाभ हुआ। थोड़े दिन वहाँ रह कर फिर कनखल पहुँचे। वहाँ भी अनेक जिज्ञासु आपके दर्शन और सत्संग से कृतार्थ हुए। मुलतान निवासी गुरुकुल कांगड़ी के हेडमास्टर .गोपालजी तो पहले से ही स्वामीजी महाराज से परिचित थे। आपके सत्संग से भी बहुत बार लाभ उठा चुके थे। इस बार उनकी प्रेरणा से प्रोफ़ेसर लालचन्दजी, पहिली बार, महाराजजी के दर्शनों को आये। स्वामी सोमतीर्थजी भी वहीं बैठे थे। महाराजजी ऐसी सादगी से रहते थे, कि अनजान को शीघ्र पता भी न चलता। परन्तु चूंकि शेप उपस्थित सज्जन इन्हीं से संशय निवारण करा रहे थे इससे कुछ पता चला। फिर बात-चीत करने के बाद लालचन्दजी ने भी कुछ एकान्त समय मांगा। समय मिलने पर महाराजजी के साथ घूमने गये। आपने दो बातों के सम्बन्ध में पूछा (१) दृष्टि को कैसे पवित्र किया जाय (२) ईश्वर की शक्ति अनन्त है, संसार भी अन्तहीन प्रतीत होता है, इसके भय से मनुष्य कैसे मुक्त हो सकता है ?

महाराजजी ने थोड़ा-बहुत समझाया और फिर कहा, कि मरीज का इलाज डाक्टर के पास रहने से ठीक होता है। आपने आगामी ग्रीष्म-ऋतु में सत्संग से लाभ उठाने का निश्चय कर लिया।

स्वामीजी महाराज यहाँ से चलकर जालन्धर आये। यहाँ भी मास्टर कर्मचन्दजी की खींच के कारण अथवा अन्य अनेक सत्संगियों के निमित्त कुछ दिन ठहरना ही पड़ा। गरमी बढ़ रही थी, इसलिए शीघ्र ही चल दिये। जम्मू में स्वामी तारकानन्दजी आपकी प्रतीक्षा कर रहे थे। उन दिनों जम्मू से ऊधमपुर को लारी जाया करती थी। उसी के आश्रय आप दोनों कटरा को चले। आगे जाकर रास्ते में उतर पड़े। यहाँ से कटरा का रास्ता फूटता था। सात-आठ मील पैदल चलना पड़ता है। पहाड़ी रास्ता है, उतार-चढ़ाव भी बहुत है जिससे मनुष्य जल्दी थक जाता है। आप दोनों के शरीर बहुत कमज़ोर थे। अपना-अपना असबाब भी सिर पर उठाया हुआ था। चलने का अभ्यास भी कुछ दिन से बन्द था। थक जाना कोई बड़ी बात नहीं थी। स्वामी तारकानन्दजी ने देखा कि महाराजजी एक टीले पर वृक्ष की छाया में बैठे अपने पाँव दबा रहे हैं। पास पहुँच कर, यह भी उनके पाँव दबाने लगे। जब यह पाँव दबा चुके, तो स्वामीजी महाराज ने उनके पाँव दबाने आरम्भ कर दिये। इनको बहुत शर्म आई, बहुतेरा मना भी करते थे, पर आप कब मानते थे। कहने लगे "अभी बहुत दूर जाना है, तुम भी थके हुए हो, पाँव दबा देने से थकावट उतर जायगी, और चलने लायक़ हो जाओगे"। ऐसी ऐसी कई घटनायें प्रतिदिन हुआ करती थीं कि जिनसे आपकी दयालुता, कोमलता और सन्त-स्वभाव का पता चलता था। दुःखी

को देखकर, आप करुणा से भर जाते थे। और कहा भी करते थे. "मुझे कोई शिष्य नहीं दीखता। मित्र-भाव ही बना रहता है; संसार-यात्रा में प्रारब्ध के अनुसार लोग एकत्र हुआ करते हैं। जैसी एक दूसरे की सहायता अथवा सेवा बन सके कर देनी चाहिये।"

इस वर्ष अनेक जिज्ञासु सत्संग करने के निमित्त अथवा एकान्त वास का आनन्द उठाने के लिये कटरा आये। मुलतान से लाला राधाकृष्ण बीस-पचीस रोज़ स्वामी जी का संग करने के लिये यहाँ ठहरे रहे। क्रियाओं का भी कुछ अभ्यास किया और भजन ध्यान की विधि भी सीखी। जीवन को उच्च करने वाले अनेक उपदेश प्राप्त किये। कृष्णकुमार जी को भी इस वर्ष थोड़ा सत्संग करने का अवसर मिला। श्रीयुत गोपालजी, श्रीमान प्रोफ़ेसर सदानन्दजी, श्रीरामरखाजी, और श्री तेजरामजी, स्वामी सोमतीर्थजी, लाला अनन्तरामजी, लाला कर्मचन्दजी, सरदार साधुसिंहजी, और अन्य अनेक सज्जन भी यहाँ आकर सत्संग से लाभ उठाते रहे। प्रोफ़ेसर लालचन्दजी छुट्टियों के होते ही थोड़े दिन पीछे वहाँ पहुँच गये। कुछ दिन तो क्रियाओं का अभ्यास करते रहे। पीछे स्वामी जी महाराज ने आपको भजन-साधन में लगाया। जाप की विधि बताई और ध्यान की युक्ति सुझाई। शीघ्र ही आपको विचित्र अनुभव होने लगे। महाराजजी इस पर चकित थे। पूछने लगे, "यार, तुम क्या करते रहे हो"। प्रोफ़ेसर जी ने जैसी कुछ संध्या आदि किया करते थे, वह सब बता दिया कि किस प्रकार वे प्रभु की शक्ति का विचार करते करते घण्टों मस्त रहा करते थे। महाराजजी इससे बड़े प्रसन्न हुए, और कहा कि, "ख्याल में बड़ी शक्ति है।" ब्रह्मचर्य्य के सम्बन्ध में बहुत उपदेश दिया

करते थे कि "स्त्री के शरीर में दोष दृष्टि पकाने से मनुष्य का चित्त धीरे धीरे हट जाता है"। स्वाध्याय के लिये, प्रश्नोत्तरी रम्भा-शुक सम्वाद, योग-वसिष्ठ का वैराग्य-मुमुक्षु प्रकरण, श्रीमद्भगवद्गीता, मनुधर्मशास्त्र, पारस भाग, रामायण आदि अनेक पुस्तकों को पढ़ने के लिये आज्ञा दी। जब प्रो० लालचन्दजी ने 'ब्रह्मचर्य्य-व्रत को सफल करने के लिये कौन-कौन से जीवन चरित्र पढ़ने चाहिये,' ऐसा पूछा तो आपने महात्मा बुद्ध, स्वामी रामकृष्ण परमहंस और स्वामी दयानन्द के नाम बताये।

मास्टर गोपालजी इस वार अधिक सत्संग करने के लिये प्रोफ़ेसर लालचन्दजी के साथ ही यहां ठहरे हुए थे। आपने पहले-पहल १९१२ में श्री स्वामी जी के दर्शन कनखल में पं० योगेश्वरजी के मकान पर किये थे। उस समय सरदार जेसासिंह जी भी साथ थे। महाराजजी की दिव्य तथा शान्त आकृति को देखकर बड़े प्रभावित हुए थे। तब आपने इन दोनों को गंगा-नहर के किनारे उपदेश दिया था। उपदेश देने का तरीक़ा ऐसा था जैसा कि अध्यापक अपने बालकों को विद्यालय में शिक्षा देते हैं। उन दिनों छ: घण्टे तक सत्संग रहा। उस सत्संग का मुख्य अंश, जिसने उनके युवा-हृदय को अधिक प्रभावित किया, यह था:—"सौंदर्य-भावना कोई वास्तविक वस्तु नहीं है, केवल काल्पनिक विचार है — धोखा मात्र है। यदि मनुष्य इसी पर संपूर्णतया विचार करे, तो वह पापों से रहित हो सकता है।" दो दिन तक दर्शन होते रहे। तत्पश्चात् श्री गोपालजी घर लौट गये, परन्तु मन में श्री स्वामीजी से मिलने की उत्कण्ठा बनी रही। पाँच वर्ष तक फिर दर्शन न कर सके। पुनः १९१७ में, उन्हें दर्शनों का सौभाग्य श्री प्रोफ़ेसर सदानन्दजी के मकान पर लाहौर में प्राप्त हुआ। वे इन दिनों,

कुछ ज्वर से पीड़ित रहते थे। बहुत इलाज करने पर भी बुखार नहीं जाता था। श्री स्वामीजी महाराज ने बस्ति कर्म की विधि बतलाई और त्रिफला सेवन करने के लिये कहा। उस दिन को वे कभी भूल नहीं सकते जबकि आत्म-उपदेश के साथ-साथ उन्हें श्री स्वामीजी का निष्काम प्रेम भी प्राप्त हुआ था। स्वामी जी के प्रेम की सीमा अपार थी। आप उस त्रिफला को स्वयं व्यवस्थित करके मास्टर जी को सेवन कराते रहे, जिससे उनका बुखार सर्वथा जाता रहा। कई दिन तक वे श्रीसेवा में रहे और कृतार्थ होते रहे।

१६१६ में पुनः उन्हें प्रोफ़ेसर कृष्णकुमारजी के मकान पर लाहौर में स्वामीजी के दर्शन करने का अवसर मिला। इस बार के सत्संग में उन्होंने यह अनुभव किया कि श्रीस्वामीजी महाराज पूरे सत्याग्रही हैं। कुछ व्यक्तियों की ओर से श्रीस्वामीजी के मार्ग में रोड़े अटकाने का कार्य किया गया, परन्तु आप अपने उद्देश्य से तिल भर विचलित नहीं हुए। जिस लक्ष्य को रखकर वहाँ ठहरे थे, उससे आप नहीं हटे। आपके उपदेशों में एक और विशेषता थी कि आप कभी अपने विचारों को ज़बर-दस्ती ठूंसने के आदी न थे। जितना जिसको अधिकारी समझते उतना ही जिज्ञासु की शक्ति के अनुसार उपदेश देते। अतः कोई भी व्यक्ति आपसे लाभ उठाए बिना वापस न जाता था। आपकी व्यावहारिक बुद्धि भी अनुपम थी। इसलिए संसार की दृष्टि से चालाक से चालाक व्यक्ति भी आपको धोखा नहीं दे सकता था। यह सब बातें गोपाल जी को स्पष्ट अनुभव हुई। पर इन्हें अधिक देर तक सत्संग करने का अवसर १६२३ से पूर्व प्राप्त न हो सका।

१६२२ में यह गुरु-कुल कांगड़ी में काम करते थे। उस समय इनके पुराने मित्र प्रोफ़ेसर सदानन्दजी एम० एस-सी० एक मास के लगभग इनके पास आकर ठहरे रहे। उनके पवित्र

जीवन को देख कर इनके हृदय में यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि श्री स्वामीजी महाराज के पास रह कर निश्चिन्त रूप से वे अभ्यास सीखें। इस वार उन्हीं के साथ ही वे यहां आए थे। यह स्थान उन्हें अत्यन्त रमणीक लगा। दोनों ओर ठण्ढे पानी के चश्मे थे और वीच में महाराजजी की टूटी-फूटी कुटिया। चारों ओर निर्जन वन था। इस प्राकृतिक परिस्थिति से वे वहुत आह्लादित हुए।

श्री महाराजजी की सेवा में १॥ मास तक रहते रहे। घट शुद्धि के पश्चात् शीघ्र ही भजन में प्रवृत्त हो गए। पवित्र हृदय के कारण थोड़े ही दिनों में विचित्र अनुभव होने लगे। अनेक सन्तों के दर्शन किये। मंत्रों के चित्र भी आपके सामने आ जाया करते थे। भगवान कृष्ण की लीला को भी अपनी आंखों से देखा। इस प्रकार ध्यान में दिन प्रति दिन उन्नति करने लगे।

वे प्रोफ़ेसर लालचन्दजी के साथ एक छोटी सी कुटिया में रहा करते थे और गुरु-आदेश-अनुसार जीवन को पवित्र करने के उद्योग में लगे रहते थे। भोजन वनाने का कार्य प्रोफ़ेसर लालचन्द जी करते थे। शेष सेवा को मास्टर गोपालजी सम्पादित किया करते थे। प्रातः तथा सायंकाल को महाराजजी का सत्संग होता था। दोपहर के समय आध घण्टे तक योग-वाशिष्ठ का स्वाध्याय होता। अपने जीवन में इन्होंने ऐसा निश्चिन्त रूप से १॥ मास का समय कभी नहीं गुज़ारा। सब सांसारिक तथा सामाजिक धन्धे भूल गए। महाराजजी के वात्सल्य प्रेम का स्मरण अभी तक इनके हृदय पर अङ्कित है।

इसके पश्चात् वे सम्भवतः प्रति वर्ष महाराजजी के चरणों में उपस्थित होते रहे, और उनसे अपने जीवन के सुधार के विषय में उपदेश लेते रहे।

मुलतान से जाने के पश्चात् महाराजजी का चित्त बहुत सुस्त रहा। लम्बी यात्रा करने के कारण कुछ शरीर भी गड़बड़ हो रहा था। उदासी बहुत रहा करती थी। कटरा में पहुँचकर एक छोटा सा व्रत भी कर डाला था। शरीर की सफ़ाई भी की गई, पर भूख फिर भी तेज़ न हुई। आहार में रुचि कम रहा करती थी, फिर भी हठ से शरीर को खिलाते-पिलाते रहते थे। कभी-कभी चित्त बहुत शान्त और शरीर हलका रहता। ऊँचे में बैठे हुए सृष्टि को उदासीन भाव से देखा करते। मुलतान के अनुभव से उत्साह ढीला रहता था। यही चित्त होता कि उत्तम अधिकारी को छोड़ शेष किसी की चिन्ता में न पड़ा करें। यह सब होते हुए भी, जब कोई जिज्ञासु विनीत भाव से आपकी सेवा में उपस्थित हुआ करता, तो करुणा तथा ईश्वरीय प्रेरणा वश उसके कल्याण में प्रवृत्त होना ही पड़ता था। जैसे कामी पुरुष स्त्री को देख धीरज छोड़ बैठता है, जैसे वृद्ध मनुष्य अपने लड़के-पोते और पुत्र-वधुओं से तिरस्कृत होता हुआ भी मोहवश उनकी देख-रेख, सेवा-सुश्रूषा को छोड़ नहीं सकता, जैसे छोटे बालक को भय में पड़ा देखकर जननी मातृ-स्नेह-वश अपने प्राणों को भी खतरे में डाल देती है, ऐसे ही भगवान् के भक्त, न चाहते हुए भी, कुछ स्वार्थ न होने पर भी, उस लीला-मय मंगल स्वरूप प्रभु की प्रेरणा के अधीन, करुणा-वश, संसार में भटकते हुए प्राणियों के हित में लगे बिना नहीं रह सकते ; और जो दुःख और कष्ट भोगवश सहना पड़ता है उसको प्रभु की दात्त अथवा अनुग्रह समझ कर, उसी में अपना कल्याण देखते हुए, परम सन्तोष को धारण कर मस्त रहते हैं।

इस वर्ष भी मृत्यु का योग था। इसी कारण चित्त सुस्त रहा करता था। भूख बन्द होते देख व्रत किया था। इस समाचार

को सुनकर शिष्यों का दिल दहल जाता था। एक दिन एक युवक सत्संगी ने पूछा, "महाराजजी, यदि आपका शरीर छूट गया तो हम लोग क्या करेंगे"। आपने बड़े उदासीन-भाव से समझाया, "सभी का सहारा ईश्वर है, दूसरों को निमित्त ही मानना चाहिये। उन्हीं की प्रेरणा से ही मैं तुम्हारी सेवा करता हूँ। प्रभु को ही हर समय रक्षक समझना चाहिये। जैसे रास्ते पर लटका हुआ एक लैम्प रास्ता दिखलाता है, ऐसे ही मैं भी हूँ। चलते-चलते यदि एक लैम्प गुज़र जाता है तो दूसरा सामने आ जाएगा, इस बात की कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिये। अपना अधिकार बढ़ाना चाहिये, प्रभु आपही सहायता करते हैं।" सब कुछ करते हुए भी आप सदैव ईश्वर को ही करता धरता माना करते थे। अहंकार नितान्त मिट चुका था। न केवल फल का बल्कि कर्तृत्व का भी अभिमान शेष नहीं रहा था। भगवद्गीता के कथनानुसार भगवान् को ही सब लीला का आधार अनुभव करते थे। ज्ञान तथा भक्ति की यही अन्तिम अवस्था है।

किसी ने कहा, 'आपने तो बहुत त्याग किया है।' कहने लगे, "क्या त्याग किया है, दुःख से तो पशु-पक्षी भी भागते हैं। जहाँ मच्छर होते हैं, वहाँ से तो गाय-भैंस भी भाग जाती हैं। यदि हमने भी दुःख रूप समझ कर संसार को छोड़ दिया तो इसमें हमारी बहादुरी क्या हुई?"

एक सत्संगी ने कहा, "महाराजजी! आपने प्रोफ़ेसरी छोड़ी, इधर कुछ तो प्राप्त हुआ ही होगा, तभी तो आपने सब कुछ छोड़ दिया है।" आपने कहा, "जो गांठ में था वह भी खो बैठे। कुछ प्राप्त किया है, ऐसा तो पता नहीं लगता। जो याद था उसे भुलाने में ही लगे हुए हैं।" "तो आपको गणित पढ़ने में कुछ लाभ

नहीं हुआ ?" "केवल इतना लाभ हुआ कि विचार में exactness (ठीक-ठीक विचारना) आ गई, बस और कुछ नहीं।"

इस बार एक दण्डी संन्यासी आपसे अभ्यास सीखने आये। उनका शरीर बहुत गड़बड़ रहा करता था। कुछ शरीर-शुद्धि आरम्भ की तो उनको उलटियें आने लगीं। महाराजजी ने कहा कि "यह क्या बात, सफाई से तो शरीर आदि के दोष दूर होते हैं, आपको उल्टी क्यों आनी शुरू हो गई ?" उन्होंने कहा, "मुझे यह पुराना रोग है, कई बार ऐसा ही होता है।" महाराजजी ने अपने सिर से बोझ हलका करने के लिए उन्हें एक दिन में इतनी ऊँची अवस्था में पहुँचा दिया जितना कइयों को छे मास में भी सम्भव न था। पिछले जाड़े में मुलतान में रहते हुये भी, इसी प्रकार अपनी मानसिक शक्ति से बहुत लोगों को लाभ पहुँचाया करते थे। इससे आपकी शक्ति का ह्रास तो होता, पर आपका चित्त इतनी उच्च अवस्था में रहा करता था कि बहुत झंझट सहारने को उत्साह नहीं होता था। पर दयालु होते हुए, नाहीं भी नहीं कर सकते थे। इसलिए शीघ्र ही छुटकारा पाने के लिए जिज्ञासुओं को इस प्रकार निपटा दिया करते थे।

सितम्बर मास में स्वामीजी महाराज को फिर भगन्दर की कुछ तकलीफ़ हो गई। फोड़ा ऐसा था जैसा कि बारह वर्ष पहले त्रिलोकीनाथ की यात्रा से लौटते हुए हुआ था। यही शंका थी कि आपरेशन कराने के लिये नीचे जाना पड़ेगा। परन्तु ईश्वर की कृपा से कुछ दवाई खाने से ही ठीक हो गया। प्रोफ़ेसर सदानन्दजी कुछ पत्तियें लाहौर से ले गए थे। उनका रस पीते रहे। उधर कानपुर से प्रोफ़ेसर कृष्णकुमारजी ने अपने मित्र बाबू हृदयनारायण जी से पूछ कर कुछ होम्योपैथिक

दवाई दो-तीन बार भेजी। यह सब खा ली गई। आराम हो गया और सब कष्ट मिट गया। स्वामीजी महाराज अपने शिष्यों के प्रति भी वड़ी नम्रता का व्यवहार रक्खा करते थे। नम्रता और निरभिमानता की तो वे मूर्ति ही थे। इसी औषधि के सम्बन्ध में आप लिखते हैं. "आपने वड़ी कृपा की। और यह आपके शुभ संकल्प का ही असर था, जो इतनी जल्दी अच्छा हो गया। ईश्वर तुम्हारे मित्र को भी उनके शुभ कार्य्य का फल देंगे, मेरे में तो कुछ सामर्थ्य नहीं है।"

रामरखाजी महाराजजी के सत्संग से उत्साहित हो कर घर छोड़-छाड़ कर चले आए थे। उनकी माता ने भी अपने पुत्र की दृढ़ता को देख कर जन्म सुधारने के लिए आज्ञा दे दी। घर में इक्कीस दिन ताप से पीड़ित रह कर वे चार नवम्बर को वड़ी कमज़ोर हालत में, स्वामीजी के पास जम्मू पहुँच गए। इधर और भी कई एक सत्संगी महाराजजी के पास जाड़े में रहना चाहते थे, जिनका प्रबन्ध करने के लिए आपने प्रोफ़ेसर सदानन्दजी को पहले से ही सूचना करदी। यह भी विचार था कि मुलतान से गरमी आरम्भ होने के प्रथम ही, यदि सम्भव हुआ तो, पहाड़ को चल देंगे, इस लिए स्वामीजी महाराज शीघ्र ही थोड़े दिन जालन्धर ठहरते हुए १५ नवम्बर तक फिर मुलतान पहुँच गए।

सत्रहवाँ प्रकरण

सूक्ष्म चित्त

इस बार आपके ठहरने का प्रबन्ध, आम खास बाग़ से थोड़ी दूर, लाहौर की सड़क पर भाई कौड़ाराम पन्सारी की सराय में किया गया। उसका आँगन इतना बड़ा है कि वायु और धूप खूब आती थी, और उसमें, इतनी कोठरियाँ हैं कि बहुत से लोग वहाँ रहकर भजन और सत्संग दोनों से लाभ उठा सकते थे। नगर के भी अनेक नर-नारी बड़ी सुगमता से वहाँ बैठकर स्वामी जी के सत्संग से लाभ प्राप्त कर सकते थे। घूमने-फिरने के लिये भी आराम है। पास ही खेतों में अनेक कुएं चला करते थे, जहाँ स्नान आदि का बड़ा सुभीता रहता है। देहात की तरह सब प्रकार से खुली वायु और धूप आदि प्राप्त हैं। साथ ही नगर की समीपता के कारण नगर-वासियों को भी दर्शन उपदेश का मौक़ा मिल सकता था, तथा खाने-पीने की सब सामग्री सुप्राप्य थी। यह सब सुप्रबन्ध प्रो० सदानन्दजी वा उनके मित्रों के प्रयत्न और विचार का फल था। भाई कौड़ारामजी भी प्रशंसा के योग्य हैं, जिन्होंने इस शुभ कार्य्य के लिये अपना मकान बड़ी उदारता से दे दिया।

यहाँ पर अनेक साधु, ब्रह्मचारी, गृहस्थी आकर रहने लगे। श्रीस्वामी सोमतीर्थजी, श्री स्वामी तारकानन्दजी, ब्रह्मचारी राम-रखाजी, श्रीयुत पद्मनाभजी (करनाटकवासी), स्वामी आनन्द-तीर्थजी, स्वामी कृष्णानन्दजी, बाबू हृदयनारायणजी, एक नेपाली ब्रह्मचारी आदि अनेक सज्जन यहाँ रहकर श्रीस्वामीजी के सत्संग, और भव-भय-हरण उपदेशों से कृतार्थ होते रहे।

कुछ थोड़े दिन के लिये, अनन्तरामजी और कृष्णकुमारजी भी श्री चरणों में बैठने का सुअवसर प्राप्त कर सके। सराय तो पूरा योग-आश्रम ही वन रहा था। भजन करनेवालों के प्रभाव से उस स्थान का वायु-मण्डल ऐसा पवित्र हो गया था कि एक वार तो जिज्ञासु अन्दर जाते ही शान्ति को अनुभव करता था।

स्थान पर्याप्त होने से नगर के अनेक नर-नारी बड़ी सुगमता से आ सकते थे। दर्शकों की कई वार तो काफी भीड़ लग जाया करती। महाराजजी अव की वार तीसरे पहर घूमने भी जाया करते। तत्पश्चात् आम सत्संग लगा करता, लोग अपनी-अपनी शंका निवारण कराते। अनेक लोग प्रश्न करते, शंकायें उठाते और संतोष-जनक उत्तर सुनकर मुग्ध हो जाते। दो एक सज्जन नित्य नई वात विचार कर प्रश्न करने को लाते थे, परन्तु आप बड़ी गम्भीरता और शान्ति से सव का समाधान किया करते थे। वे दोनों सज्जन वड़े वाद-कुशल थे, पर उनको भी यह भली भाँति प्रकट हो गया कि महाराजजी के उत्तर केवल शास्त्र के आधार पर, या सुने-सुनाये नहीं होते थे, उनका आश्रय अनुभव हुआ करता था। इन्होंने स्वामी जी से साधन सीखने का असीम प्रयत्न किया, पर स्वामी जी के वताये नियमों को पालन करने में असमर्थ होने के कारण फलीभूत न हुए।

इससे पहले साल स्वामीजी महाराज कुछ एक अध्यापिकाओं को अभ्यास में सहारा दे गये थे। पर उनके व्यवहार से स्वामी जी संतुष्ट नहीं थे। आपका विचार था कि अध्यापिकाओं के सुधार से लड़कियों पर भी अच्छा प्रभाव पड़ेगा और नई सभ्यता के संसर्ग से जो दूषण हिन्दू देवियों को तप और सेवा से विमुख कर रहे हैं उनमें कुछ रुकावट हो जायगी। पर

जब वे अपने व्यवहार को सरल और शुद्ध न कर सकीं, तो कुछ निराशा सी हुई। अब उनके दर्शन करने आने पर, उनकी देखा-देखी और स्त्रियों में भी तीव्र चाह पैदा हुई, और स्त्रियों का खूब झमेला होने लगा। महाराजजी ने कुछ कड़े नियम बताने आरम्भ किए और यथा अधिकार स्त्रियां भी लाभ उठाने लगीं। जो स्त्रियां आती थीं उनके लिए ऐसे नियम हुआ करते थे: (१) पति की सेवा करना, उनको संतुष्ट रखना और उनकी आज्ञा लेकर भजन में प्रवृत्त होना। (२) आहार सात्विक करना और स्वाद को जीतना (३) व्यवहार को सरल और निष्कपट बनाना, चपलता को त्याग साधुताई को बढ़ाना, (४) मोटा कपड़ा पहनना और शृङ्गार को धीरे-धीरे छोड़ते जाना। शहर के कुछ गृहस्थी अभ्यासी भी महाराजजी के पास ही लाला खिलुरामजी के मकान में प्रबन्ध करके रहने लगे। मनुष्य आप जैसा है वैसा ही औरों को भी समझता है। विषयासक्त मनुष्य साधु-महात्माओं के पवित्र तथा निर्मल व्यवहार में भी वासना का आरोप कर लेते हैं। हम साधारण मनुष्य साधु स्वभाव का अनुमान भी नहीं लगा सकते। यहां भी वही हुआ। संसार के विषयों में डूबे हुए मनुष्य महात्माओं में भी पाप और विषय ही देखते हैं। अतएव अब तो शहर में उनके सम्बन्धियों ने और भी रौला मचाना आरम्भ किया। क्योंकि स्त्रियां भी बहुत आती थीं और कई एक महाराजजी के पास एकांत में बैठ कर भजन-उपदेश भी लेती थीं, अतः इससे विरोधियों को और भी सहायता मिली। वे स्वामीजी पर लांछन लगा-लगा कर गालियां देने लगे। कभी-कभी कोई व्यक्ति इसी क्रोध के मारे सराय में महाराजजी को बुरा-भला कहने अथवा मारने तक के लिए आते, परन्तु यहां आते ही उस शान्त वायु-मण्डल के प्रभाव से कुछ ऐसे मुग्ध हो जाते,

कि विरोध छोड़ भक्त बन जाते। यदि किसी ने आकर ऊँच-नीच कह भी दिया, तो महाराजजी अपनी असीम सहन-शक्ति के कारण चुपचाप सह लिया करते, कि जिससे वृथा का झगड़ा न खड़ा हो जाय। इसी का उपदेश आप सर्वदा दिया करते थे कि बात सह जाने से अपना तो भला होता ही है, पर दूसरे के चित्त पर भी अच्छा असर पड़ता है और धीरे-धीरे उसका विरोध कम होता जाता है।

विरोध करने वाले भी अनेक आड़ों से विरोध का बहाना ढूंढ़ लेते हैं। धर्मचन्द्जी के पिता ने महाराजजी के जाने से पहले, पिछले साल, उन्हीं के मुख से सुना था कि धर्मचन्द्जी के लड़का होने वाला है। पीछे जब लड़का हो गया तो वे महाराजजी की सिद्धि में विश्वास करके बड़ा भक्ति-भाव दिखलाने लगे। आपके आने से पहलेही उन्होंने अपने मित्र, एक सेठ को महाराजजी से लड़का दिलवाने की आशा दिलाई थी। स्वामीजी के पास उनको ले आए और प्रलोभन भी दिए। दया की भी भिक्षा माँगी, पर सब निरर्थक हुआ। महाराजजी हँस पड़े और बड़े प्रेम से समझाया, "हम में यह सामर्थ्य नहीं है। हम तो केवल ईश्वर-भजन के सिवाय और कुछ तन्त्र-जन्त्र वा औषधि नहीं जानते। हमारे में यह सिद्धियाँ होतीं तो फिर क्या परवाह थी। हम दूसरे के पास मारे-मारे न फिरा करते।" स्वामीजी तो त्याग की साक्षात मूर्ति ही थे। वे भली भांति जानते थे कि किसी भी बात से प्रेरित होकर यदि एक योगी सिद्धि-द्वारा दूसरे का सांसारिक लाभ जान-बूझ कर करता है तो माया की फाँस को सूक्ष्म रीति से अपने गले में डालने का यत्न करता है। फिर उसे ईश्वर-विमुख होने में क्या देर लगती है? अपने सत्संगियों को भी यही उपदेश

दिया करते थे कि 'जो कुछ भी विशेष अनुभव अथवा सिद्ध मिले, उसको गुप्त रक्खो और उससे किसी प्रकार का अपना या दूसरे का सांसारिक लाभ न लो। उसको माया का फंदा समझ कर उपेक्षा-भाव से, उससे उदासीन रहो। ऐसा करने से ही संसार के बंधन से मुक्त हो सकते हो, और प्रभु का अमर पद प्रसाद रूप में प्राप्त करने के योग्य बन सकते हो।"

धर्मचन्द और रामलाल पास ही खिलुरामजी के मकान में आकर रहने लगे थे। धर्मचन्दजी तो एक मास की छुट्टी लेकर सत्संग तथा सेवा से अति लाभ उठाते रहे। अब वे पिता से अलग एक मकान में रहा करते थे, और इससे उन्हें यह सन्देह होने लगा कि ऐसा करने से कहीं पापी तो नहीं बनेंगे। पर श्रीस्वामीजी ने समझाया :—"जो तुम माता-पिता से विषय-तृप्ति के लिए अलग हुए होते तो पाप था, पर अब, जब कि तुम्हारा लक्ष्य ईश्वर का भजन है, तो जो भी उसमें रुकावट डालते हैं, वह तुम्हारे वास्तविक शत्रु हैं। उनको तजना पाप नहीं है, जैसा कि तुलसीदासजी ने भी कहा है :—

जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिए ताहि कोटि वैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥
तज्यो पिता प्रहलाद, विभीषन बंधु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो, कंत व्रज-बनितन, भए मुदमंगलकारी॥
नाते नेह राम के मानियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लौं॥
'तुलसी' सो सब भाँति परम हित पूज्य प्राण ते प्यारो।
जासों होय सनेह राम पद, एतो मतो हमारो॥

डाक्टर ज्ञानसिंहजी भी अनेक बार दर्शनों को आये। उनके

व्यवहार के सम्बन्ध में अनेक वात-चीत चला करती थी और इस वात पर स्वामी जी वहुत आग्रह किया करते थे कि वैद्य का अन्न वहुत गड़वड़ होता है। उसको फ़ीस नहीं लेनी चाहिए। उनके कपड़ों से अँगरेज़ी औषधियों की तेज़ गंध आया करती थी इससे महाराजजी का चित्त वहुत घवराता था। इसलिए उनका आना कुछ रोज़ के लिए वन्द रहा। महाराज जी तो गन्ध रहित शुद्ध वायु से ही प्रसन्न रहा करते थे। फूलों और फलों की तेज़ गन्ध भी आपको असह्य होती थी।

कानपुर से वावू हृदयनारायणजी, स्वामी कृष्णानन्दजी की सहायता से अभ्यास में रुचि लेकर श्रीचरणों में आये थे। प्रोफे-सर कृष्णकुमारजी से भी महाराजजी के सम्वन्ध में वहुत कुछ सुना था। यहां पर एक मास रह कर भजन सीखते रहे और सत्संग से भी तृप्त होते रहे।

लाला राधाकृष्णजी, लाला राजारामजी, सरदार जेसासिंहजी और अन्य अनेक सज्जन यथापूर्व सत्संग से लाभ उठाते रहे। ब्रह्मचारी सत्यानन्दजी स्नातक भी इस साल साधन में लगे। और वड़ी श्रद्धा और उत्साह से महाराजजी के वताए मार्ग का अनुष्ठान करने लगे। मुलतान के प्रसिद्ध वकील लाला मोतीरामजी भी श्रीसेवा में वैठ सन्मार्ग में प्रवृत्त हुए।

ब्रह्मचारी सत्यानन्दजी के द्वारा एक दूसरे जिज्ञासु को भी महाराजजी के चरणों में वैठने का अहोभाग्य प्राप्त हुआ। स्वामी नारायणहरिजी उन दिनों संतोषस्थल में ठहरे हुए थे। उनका विचार फ़रवरी मास में प्रयागराज की अर्धकुम्भी में जाने का था। यहां दूसरे महात्माओं के संग हरिद्वार से आये थे। वहुत दिनों से किसी विरक्त योग अभ्यासी महात्मा की जांच में फिरा करते थे। छोटी अवस्था में घर पर एक गृहस्थ महात्मा से भजन-

उपदेश ले चुके थे। घर के विरोध के कारण स्वयं उन्होंने और उनके गुरुजीने भी सम्बन्धियों के कोप से बहुत-कुछ कष्ट भी उठाया था। दूसरा चारा न देख, घर छोड़ किराची में कुछ स्वतंत्र आजीविका करके रहते रहे। वहाँ का वायु-मण्डल, ब्रह्मचर्य्य, तप और ईश्वर-भजन के प्रतिकूल पाकर साधुवृत्ति से रहने का निश्चय करके, स्वामी त्रिलोकहरिजी से संन्यास ग्रहण कर लिया था। मुलतान में रहते हुए स्नातक सत्यानन्दजी से कुछ संस्कृत का अभ्यास कर रहे थे। वहीं से पता चला कि श्री स्वामी सियारामजी महाराज मुलतान में रह रहे हैं, और उनके सत्संग से ब्रह्मचारीजी और अन्य अनेक भक्तजन तृप्त होते रहते हैं। स्थान देखकर, आप भी नित्य प्रति सत्संग में जाने लगे। चुपचाप कई दिन जाते रहे, कभी कभी महाराजजी के पीछे-पीछे टहलने भी चले जाया करते। बातचीत तो होती नहीं थी पर फिर भी महाराजजी के पास रहने से अथवा दूसरों के प्रश्नों का उत्तर सुनने से, आपके सरल और शान्त हृदय पर विलक्षण ही प्रभाव पड़ता चला गया। प्रभु की समीपता में एक प्रकार की मस्ती रहा करती थी। स्वयं तो इतने शर्मीले थे, कभी कुछ पूछा तक नहीं था, फिर भला एकान्त में बात-चीत करने का अवसर कैसे मिलता? स्वामी कृष्णानन्दजी की सहायता से महाराजजी के पास पहुँचने का अवसर मिला। सारा वृत्तान्त यथा-तथा सुना दिया। श्रीगुरुदेव भी आपकी सरलता से बड़े प्रभावित हुए, उचित उपदेश दिया, भजन की शिक्षा भी दी, और दयालुता से उचित खान-पान का कुछ प्रबन्ध भी कर दिया। पीछे से जब पता चला कि जिस स्थान में वे रहते हैं, वह अनुकूल नहीं है तो वहीं सराय में रहने के लिये आज्ञा तथा स्थान दे दिया। चुपचाप रहते हुए वे भी बड़ी लगन से साधन

में लग गये। प्यासे प्राणी की तरह एक तार होकर सन्तों के वचन-रूपी अमृत को पान करने लगे। धीरे-धीरे रंग में रंगते गये और महाराजजी के सत्संग की भी लगन बढ़ती चली गई। बातचीत तो कम ही किया करते, पर पास रहने से, अथवा श्रीसद्गुरुदेव की रहनी-कथनी और करनी को अनुभव करने से आपके चित्त में अपने आपही परिवर्तन होता चला गया। सहस्रों लोग महात्माओं के दर्शन करने आते हैं, सैकड़ों भजन में प्रवृत्त होते हैं, अनेकों को सत्संग और उपदेश का विशेष अवसर सहजता से प्राप्त हो जाता है, पर चित्त की अवस्था और पुण्य संस्कारों के कारण, कोई विरला ही महापुरुषों के जीवन के तत्व को भली-भाँति समझने का अधिकारी होता है। जिन थोड़े सज्जनों ने संत सियारामजी के सत्संग से सार को ग्रहण किया है उनमें से स्वामी नारायणहरिजी का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है। जब स्वामीजी गरमी में जाने लगे तो आपकी तीव्र इच्छा थी कि कुछ काल गुरु-सेवा में और रहकर जीवन पर ज्ञान ध्यान का और भी पक्का रंग चढ़ा लें जिससे बिछुड़ने पर भी चित्त डावांडोल न हो, और लक्ष्य की ओर दृष्टि सदैव बनी रहे। भगवान् भक्तवत्सल हैं। सन्त फिर क्या कम हैं? जाने से पहले आपने एक दिन "गरमी में कहाँ जाने का विचार है" ऐसा पूछा। शिष्य की शुद्ध भावना को जानकर, निवेदक का अधिकार और पवित्र स्वभाव देख अपनी शरण में रहने की आज्ञा दे दी। दिनों दिन एक दूसरे को अच्छी प्रकार से जानने का अवसर मिल गया। गुरु का निष्काम प्रेम और शिष्य की श्रद्धा-भक्ति दिनों-दिन सब बढ़ती गयी। उपदेश देने और लेने वाले, दोनों ने कुछ कमी न की। आठों याम अमृत बरखा में रहते हुए, सांसारिक क्लेश-वासनाओं की अग्नि बुझती चली गई। पाँचों

इन्द्रियों, और अन्तःकरण चतुष्टय से, बिना परिश्रम, सहवास के कारण सार को ग्रहण करते गये। सुगन्धित फूलों में रहने से जिस प्रकार गंध-हीन पदार्थों से भी वास आने लगती है, तथा चन्दन के समीप रहने से जैसे दूसरी लकड़ी में भी उसकी सुगन्ध बस जाती है, ऐसे ही अनेक वर्षों की समीपता से सन्तों की साधुताई धीरे-धीरे आप में रमती गई।

इस वर्ष कुछ माइयों ने भी भजन-उपदेश ग्रहण किया। अपने-अपने अधिकारानुसार थोड़ी-बहुत उन्नति भी की। नारियों में जागृति पैदा करने के निमित्त महाराजजी बहुत समय देते रहे, कष्ट और निन्दा भी बहुत सही। यह अनुभव करके कि स्त्रियाँ ही भजन-आनन्दी पुरुषों के रास्ते में बहुत बाधायें डाला करती हैं, और स्वयं भी कष्ट उठाती रहती हैं। आपका यह विचार था कि यदि देवियों में भी ईश्वर-भजन की लगन पैदा हो जाय, तो दोनों का कल्याण निश्चित है। सांसारिक जीवन भी सुख और शान्ति से व्यतीत हो और परमार्थ साधन में भी एक दूसरे के लिये रुकावट होने की अपेक्षा सहायक बन जायें। भिरावांबाई, उत्तमीबाई, छिनकोबाई आदि अनेक कुमारी, विधवा, और सधवा देवियों ने श्रीचरणों में बैठ विशेष लाभ प्राप्त किये। कई-एक ने तो बहुत अच्छी अवस्था प्राप्त कर ली।

पण्डित शिवरामदास शुरू से ही स्वामीजी के दर्शनों को आया करते थे। वे बहुत भक्ति-भाव और श्रद्धा प्रकट करते। पर महाराजजी का चित्त उनको देखने से प्रसन्न नहीं हुआ करता था। वकीलों के व्यवहार में अनेक गड़बड़ियाँ होती हैं। महात्मा गान्धी भी ऐसे ही विचारों को अनेक बार प्रकट कर चुके हैं। वे स्वयं वकालत करते हुए भी बड़ी कठिनाई से सत्य के नियमों का पालन किया करते थे। पर ऐसा करना किसी

शूरवीर का काम है। धीरे-धीरे पण्डित शिवरामदासजी महाराजजी के आज्ञानुसार, अपने व्यवहार को पवित्र करते चले गये। इस लिये बाद में स्वामीजी उनसे दूसरों के निमित्त सहायता भी लिया करते थे। १६२३ में जो साधु ब्रह्मचारी मुलतान में अभ्यास के लिये ठहरे हुए थे, उनकी भोजन सामग्री, प्रायः इन्हीं के यहाँ से आया करती थी, और यहाँ से जाते समय रेल आदि के भाड़े का भी, इन्होंने प्रवन्ध कर दिया। महाराजजी का अपना खाना तो प्रोफ़ेसर सदानन्दजी के यहाँ से यथा-पूर्वक आया करता था। कभी-कभी कोई बाहर की वस्तु पण्डित जी से ले लिया करते। इस बार आपने खिड़की में लगाने के लिये एक कपड़ा भेजा। कपड़ा खिड़की में लगा दिया गया। रात के बारह बजे महाराजजी उठे और दूसरे एक सत्संगी को उठाकर कहने लगे, "इस कपड़े को खिड़की से हटा दो, हमारा चित्त इससे बहुत घबड़ाता है, इस कपड़े से ख़ून की गंध आती है। या तो यह कपड़ा पण्डित शिवरामदासजी को वापस कर देना, या उन्हें दाम देकर फिर यहाँ लगा देना"। दूसरे दिन जब यह वार्त्ता सत्संगियों और शिवरामदास जी को ज्ञात हुई तो वे सब चकित थे। पण्डितजी ने बहुत सोचा कि क्या कारण हो सकता है। विचार करते हुए मालूम हुआ कि शायद जिस रुपये से यह कपड़ा ख़रीदा गया था वह एक ख़ून के मुक़दमे की फ़ीस में मिला था। महाराजजी का सूक्ष्म चित्त ही ऐसी बातको अनुभव करने के योग्य था। ऐसे ही उन्होंने लकड़ियों का एक बोझ भेजा था। उससे भी घृणा होने लगी। जाँच करने पर इसमें भी ऐसे ही किसी दोष का पता चला।

एक तीसरी घटना इसी साल हुई। प्रोफ़ेसर सदानन्दजी ने अपने एक पुराने मकान की छत उखाड़ी थी। उस छत में छोटे-

छोटे डाट के टुकड़े लगे हुए थे, यह लकड़ी बहुत सूख गई थी। इसीसे उनको विचार हुआ कि इनको चीर-फाड़ कर हवन करने के काम में लगा दिया जाय। ऐसीही कुछ लकड़ी, वे महाराजजी के पास ले गये। महाराजजी ने देखते ही कहा कि यह लकड़ी कुछ गड़बड़ मालूम होती है। पर जब उन्होंने बहुत तसल्ली दी कि बहुत अच्छी है तो आपने रखवा ली। हवन तो आप नित्य प्रति किया ही करते थे। इसके लिए सामग्री और घी भी प्रोफ़ेसरजी भेजते थे। जब स्वामीजी हवन करने बैठे, तो आपका हाथ उस लकड़ी के पास जाने से घबराता था और चित्त में घृणा के भाव पैदा होते थे। लाचार, उस लकड़ी को छोड़ जो लकड़ी पहले की पड़ी हुई थी, उसीसे ही हवन किया। जब प्रोफ़ेसर सदानन्द जी आये, तो आपने उनको यह सब हाल कह दिया। विचारने से पता चला, और स्मरण आया कि उसी मकान में बहुत पहले कोई खून हुआ था। इसी का सूक्ष्म प्रभाव स्वामीजी महाराज के चित्त को प्रतीत हुआ। ऐसेही अनेक घटनायें हुआ करती थीं, जिससे महाराजजी के परम सूक्ष्म और पवित्र चित्त का पता चलता था। वे तो प्रत्येक स्थान के वायु-मण्डल को दूर से ही भाँप लिया करते थे, और इसी प्रकार सत्संगियों के मनोभाव भी आपसे छिपे नहीं रहते थे।

स्वामीजी महाराज अबकी बार अनाज का सेवन किया करते थे। वे जितने दिन मुलतान रहे, रोज़ ही मूंग की दाल तथा रोटी खाते थे। स्वाद बदलने की इच्छा से आहार में परिवर्तन करने का विचार कभी नहीं किया। स्वाद पर आपका पूर्ण अधिकार था।

कुछ दिन, रात को, सूरसागर की कथा हुआ करती। योग की क्रियाओं की ओर तो बहुत कम ध्यान जाता था।

प्राय: अभ्यासियों को अपने कमरे में बिठाकर ध्यान कराया करते थे, और अपनी मानसिक शक्ति लगाकर उनको ऐसी अवस्था में पहुँचा देते कि फिर वह अपने आप ध्यान जमाने के लिये स्वतन्त्र हो जाया करते थे। इस प्रकार आपने कई नर-नारियों को प्रभु-भजन में लगाया। स्त्रियों को विशेष करके बहुत समय देते रहे। आपका विचार था कि स्त्रियों को सत्संग करने का मौक़ा बहुत कम मिलता है। बहुत पढ़ी-लिखी भी नहीं होतीं। इतना गहरा विचार भी नहीं रहता कि शास्त्रों को पढ़कर स्वयं विचार सकें। साधुओं के यहां ब्रह्मवाद की कोरी बातें सुनने से कुछ नहीं बनता। फिर सभी साधु इतने सच्चरित्र नहीं होते हैं कि जिनके पास वे निःसंकोच जाकर अपनी मानसिक अवस्था सुनायें और उचित उपदेश लें। साधु लोग भी प्राय: व्यवहार शुद्धि की ओर कम ध्यान देते हैं। आत्मा-परमात्मा, अथवा द्वैत-अद्वैत के निरर्थक झगड़े में ही लगे रहते हैं। इसलिये, बहुत कष्ट सहकर भी आप देवियों की मंगल-कामना करते हुए उनके व्यवहार को पवित्र करने के लिए भरसक यत्न करते रहे। चित्त शुद्धि के लिये सबको शास्त्र-अनुसार, व्रत करने की आज्ञा देते थे। अनेक नर-नारियों ने चान्द्रायण, प्रजापति आदि व्रत करके अपने हृदयों को शुद्ध किया।

एक दिन एक वेदान्ती ने आकर प्रश्न किया, कि 'कल्याण कैसे हो।' उत्तर मिला; 'सत्य को ग्रहण करो, जैसा जँचे उसके अनुकूल बर्ताव करो।' वेदान्ती ने फिर पूछा, 'महाराज, मन शान्त नहीं रहता, कुछ साधन बताइये।' आपने कहा, 'साधन की तो जीव को जरूरत होती है, ब्रह्म को इससे क्या?' उसने फिर पूछा, कि "मन विषयों में अटका हुआ है उससे कैसे छूटें?" महाराजजी ने उत्तर दिया, "इसी में तो परीक्षा होती है।

केवल वेदान्त रटने से काम नहीं बनता। यम-नियम का पालन करो। व्यवहार शुद्ध करो, कुछ मौन रहो, व्रत करो, तब जाकर कहीं हृदय शुद्ध होगा।"

लाला गिरधारीलाल और लक्ष्मीनारायण दोनों भाई सुनार का काम करते हैं। गिरधारीलालजी को अनेक वार सत्संग करने का अवसर मिला। व्यवहार-शुद्धि और गृहस्थ के नियम पालने का उपदेश किया कि जिसका उनके चित्त पर अच्छा प्रभाव हुआ। मिलावट और झूठ के व्यवहार को छोड़ कर सत्य पर आरूढ़ हो गए। फिर आपने महाराजजी से भजन उपदेश भी लिया और स्वामीजी के उपदेश से प्रभावित होकर तभी से सत्य के आश्रय निर्वाह कर रहे हैं। लक्ष्मीनारायणजी भी जब स्वामीजी के दर्शन करने गए, तो अन्दर जाकर पूछने लगे, कि *"स्वामीजी कहाँ हैं?" उत्तर मिला, "बैठ जाइए, आ जावेंगे।"* पीछे पता चला, वे ही स्वामीजी थे। महाराजजी आपको कई दिन काम, क्रोध, लोभ, मोह के सम्बन्ध में सविस्तर समझाते रहे। कभी-कभी व्रत कराते और क्रोध की कड़ी परीक्षा लेते थे। सत्संग में, उनका मन बहुत शान्त रहा करता, पर पीछे सत्संग छूटने पर फिर वैसी अवस्था प्राप्त नहीं हो सकी।

इसी वार, स्वामी सोमतीर्थजी ने, शंकर भाष्य, वेदान्त-दर्शन की उपोद्घात, स्वामी कृष्णानन्दजी को सुनाई तो उनको अच्छी लगी। उसकी चर्चा उन्होंने महाराजजी के चरणों में भी करदी। इस विषय की चर्चा सोमतीर्थजी भी महाराजजी की सेवा में कर चुके थे। उन्होंने निवेदन किया, "वेदान्त का पूर्ण रहस्य इस भूमिका में है। मेरा विश्वास इसीसे वेदान्त पर हुआ है। मेरी हार्दिक इच्छा है कि मैं एक वार इसे आपको सुना दूं।" महाराजजी ने स्वीकृति दे दी। इस पर सोमतीर्थजी

ने निवेदन किया, कि "जब तक मैं कह न चुकूं, तब तक आप बोलें नहीं।" महाराजजी ने इसको भी स्वीकार कर लिया। भोजन के पीछे थोड़ी देर टहलकर सोमतीर्थजी को आज्ञा हुई कि वह वेदान्त की कथा सुनायें। वे पुस्तक लेकर पहुँचे, और महाराजजी बैठ गए। वहाँ और कोई नहीं था। वे पढ़ते गये और स्वामीजी महाराज एकाग्र-चित्त से सुनते रहे। जब सब सुन चुके तो बोले, "इस वेदान्त को मैं भी मानता हूँ। इसके समझाने के लिये शंकराचार्य्य ही जैसा दिमाग़ चाहिए। मेरा विश्वास नहीं कि इसको बहुत से पाठक समझते भी होंगे। यह बहुत ऊँची बात है।" इतना कह कर चुप हो गए। स्वामी सोमतीर्थजी अपने पढ़े और समझे का प्रमाण-पत्र प्राप्त कर अत्यन्त प्रसन्न हुए।

अठारहवां प्रकरण

वैराग्य की श्रेष्ठता

इस प्रकार अनेक नर-नारियों को अपने अमृत रूपी उपदेशों से कृतार्थ करते हुए, १५ मार्च १६२४ को मुलतान से चल दिए। चलते समय बहुत से सत्संगी दर्शन करने को आये। स्वामी नारायणहरिजी तो सीधे जम्मू चले गए; परन्तु महाराजजी कुछ दिन जालन्धर रुके रहे। रामरक्खाजी भी हरिद्वार से जालंधर पहुँच गए थे। यहाँ से जिज्ञासुओं के इच्छानुसार कश्मीर जाने का विचार था। आपका अपना चित्त तो कश्मीर के स्मरण से उदास हो जाता था। पर दूसरों के चित्त को कश्मीर के सौंदर्य्य

से उपराम करने के निमित्त ही आपने वहाँ जाने का निश्चय कर लिया था। सात अप्रैल के लगभग जालन्धर को छोड़कर रावलपिण्डी के रास्ते आप कश्मीर पहुँचे। वहाँ महाराज गुलाबसिंहजी की समाधि में रहे। वर्षा हो जाने पर मकान चूने लगा, आपके पास कपड़ा भी थोड़ा था, उधर बर्फ भी पड़ गई, सर्दी अधिक होने से जुकाम तेज़ हो गया, और शरीर भी बहुत गड़बड़ाने लगा। ऐसा प्रतीत हुआ कि नमोनिया ही हो जायगा। पर आप इस सब कष्ट को बड़े सन्तोष से, भोग समझकर सहते रहे। कम्बल का प्रबन्ध करने का यत्न किया पर वह भी शीघ्र न हो सका। पीछे राज-गुरु ब्रह्मचारी नित्यानन्दजी को पता चला तो उन्होंने महाराजा रामसिंहजी की समाधि में आपके ठहरने का प्रबन्ध कर दिया। वहाँ ऊपर के दो कमरे आपको रहने के लिये मिल गये, और नीचे एक कमरा रसोई के लिये मिला। आपके साथ, उस समय दो ब्रह्मचारी भी थे। विचार तो यही था कि थोड़े दिन इनको कश्मीर दिखाकर, शीघ्र कटरा लौट जायेंगे। पर शरीर अधिक अस्वस्थ हो जाने के कारण वापस लौटना सम्भव नहीं प्रतीत होता था। इसीलिये आपने स्वामी नारायण हरिजी को जम्मू से चले आने के लिये लिख दिया, फिर, यहाँ पर आप बहुत दिन तक रहते रहे।

कश्मीर में रहते हुए महाराजजी का स्वास्थ्य वैसे ही चलता रहा। जुकाम बराबर जारी रहा। अनेक औषधियाँ कीं, पर किसी तरीक़े से उसमें कमी न आई, बिगड़ता ही चला गया। जैसे-तैसे, शरीर का भोग समझ, सन्तोष से सहते रहे। कोई विशेष सत्संग तो नहीं हुआ करता था, पर जो कोई अभ्यास के विषय में पूछता तो सहायता देनी ही पड़ती। इधर सत्संगी भी शरीर अस्वस्थ होने से बहुत बोलने को मना करते रहते थे,

पर फिर भी निर्मल चित्त के कारण जो आता उसको कुछ न कुछ उपदेश दे ही दिया करते थे।

लायलपुर से, अनन्तरामजी, नत्थूरामजी और उनके भाई मुल्कराजजी वहाँ पहुँचे। अनन्तरामजी को तो स्वामीजी महाराज ने एकान्त वास करने की आज्ञा दी। नदी 'दूध गंगा' के तट पर कुछ कुटियाँ खाली पड़ी रहा करती थीं। वे वहीं जाके रहने लगे।

वीस-पचीस दिन तक एकान्त साधन में लगे रहे। इससे उनको बड़ा लाभ हुआ। जिन-जिन संस्कारों में उनका चित्त फँसा हुआ था, उनका स्पष्ट पता चला, और फिर विचार करने से वे संस्कार वहुत कुछ ढीले भी पड़ने लगे। यही विचार रहता कि अपने कल्याण में लगे रहें, दूसरे की चिन्ता करना व्यर्थ है। यदि उसका भला होना होगा, तो ईश्वरीय प्रेरणा वश आप ही हो जायगा। इस प्रकार गुरु आज्ञानुसार साधन से अनेक लाभ प्राप्त किये। फिर घर को लौट गये।

नत्थूरामजी भी घट-शुद्ध निमित्त कुछ क्रियायें करते रहे। राधास्वामी विधि के अनुसार कुछ अभ्यास करते थे, और वे उसी में ही सन्तुष्ट थे। इनके छोटे भाई मुल्कराजजी एंटेंस पास करके आये थे और ब्रह्मचर्य्य से जीवन व्यतीत करने का विचार था। स्वामीजी ने वड़ी कृपा करके अनेक नियम उपनियम वताये और भजन-साधन में भी लगा दिया। वे तभी से वड़े जनों की सेवा करते हुए संयम के व्रत में डटे हुए हैं। इनके आने से पहले ही मुलतान से नन्दलालजी और टेकचन्दजी वहाँ पहुँचे हुए थे। टेकचन्दजी पहले कटरा में रहकर सत्संग से कृतार्थ हो चुके थे। अव भी वैसे ही भक्ति भावना को लेकर श्रीचरणों में एक मास तक निवास करते हुए जीवन को उच्च करते रहे। नन्दलालजी ने भी १६२२ में मुलतान में वहुत कुछ सत्संग

किया था, वे भी उस समय की पुण्य स्मृति से खिंचे हुए, बीस पचीस दिन समीप रहकर संयम का आनन्द लेते रहे।

मुलतान से लाला मुरलीधर भी पहुँचे। पिछले जाड़ों में आपने सत्संग करके अपने जीवन को बहुत सुधारा था। मांस, शराब आदि अनेक दुर्व्यसनों से मुक्ति पाई थी। पर महाराजजी के चले आने पर कुसंग के कारण फिर गिर गये। सदाचारमय जीवन का कुछ आनन्द उठा चुके थे, इसलिये बल प्राप्त करने के लिये फिर कश्मीर पहुँचे। सारा हाल सुना दिया। स्वामीजी ने बड़ी दयालुता से समझाया और प्रतिज्ञा भंग करने का पाप भी सुझाया। कुछ जाप आदि प्रायश्चित्त के लिये कहा। वहाँ से चलते समय उन्होंने कुछ भेंट करना चाहा, पर स्वामीजी ने ज़रूरत होते हुए भी, उनके व्यवहार से असन्तुष्ट होने के कारण कुछ ग्रहण न किया। यह वापस आकर प्रायश्चित्त करके अपने व्रत में डटे रहे। दलाली के काम में जो गड़बड़ी हुआ करती थी, उससे भी धीरे-धीरे छुटकारा पा लिया। अपने व्यसनी साथियों की आलोचना सहते हुए भी सदाचार के व्रत से न हटे। इस अद्भुत परिवर्त्तन को देखकर वे लोग भी इनके भक्त हो गये और महाराजजी के सत्संग में आने लगे। पीछे भी १९२६-१९२७, १९२७-१९२८ में जब स्वामी जी मुलतान आते रहे, तो सत्संग में अनेक बार जाकर, अभ्यास में लगने के लिये आप प्रार्थना करते रहे। बाहर की गड़बड़ी छूट गई थी, पर अभी अपनी स्त्री के सम्बन्ध में ब्रह्मचर्य का पालन नहीं होता था। सन्तान भी थी, अवस्था भी ४५ वर्ष की हो चुकी थी, ईश्वर-भजन की लगन बढ़ रही थी; आखिर हिम्मत करके १९२८ के आदि में दम्पति ने विधि-पूर्वक ब्रह्मचर्य्य का व्रत लिया, जिस पर वे बड़ी दृढ़ता से डट गये। स्वामी जी महाराज ने प्रसन्न हो

एक करोड़ गायत्री जाप करने की आज्ञा दी। जाप की विधि बताई। पहले तो वह घबराये, पर पीछे जब महाराजजी ने समझाया कि यही अभ्यास है, और इसी से लाभ भी होगा, तो वे उसमें जुट गये। दो-तीन समय नीयत करके बड़ी श्रद्धा से जाप करने लगे। कुछ दिनों में ही विचित्र-अनुभव होने लगा। हृदय बहुत शान्त रहने लगा। जिन पिछले पापों के कारण चित्त भयभीत रहा करता था, उनका भय जाता रहा। ऐसा प्रतीत होता था कि नींद में भी गायत्री जाप होता रहता है। काम काज भी सब भली-भाँति चलता रहा। अभी उनका यह जाप पूरा ही नहीं हुआ था कि जनवरी, १९३० में नमोनिया के कारण आपका शरीरान्त हो गया। पर मरते समय भी बड़े सावधान रहे और बड़ी उपरामता और प्रसन्नता से शरीर को छोड़ा। इस प्रकार सन्तों की शरण पकड़ने से वे अपने जीवन को सुधार कर पुण्य संचय करते हुए परलोक को चले गये। सत्य है, जिन पर सन्तों की कृपा हो जाय और जो श्रद्धा से उनकी आज्ञा का अनुकरण करने लग जायें, फिर उनका बेड़ा पार हो ही जाता है।

इसी प्रकार मुलतान से लाला मोतीरामजी और उनकी भौजाई श्रीमती ईश्वरदेवी जी भी दोनों कश्मीर में आकर उपदेशों से लाभ उठाते रहे।

कश्मीर में भी कई एक सज्जन सत्संग करते रहे। पण्डित जानकीनाथ वकील, नारायण ब्रह्मचारी आदि अनेक जन श्री सेवा में आकर भजन में दीक्षित हुए। एक देवी भी भजन के मार्ग में प्रवृत्त हुई और तभी से कल्याण के मार्ग में पुरुषार्थ करती जा रही है। उत्तरकाशी में जिस 'नाथ' साधु ने भजन उपदेश लिया था, वह भी यहाँ पर आये। आहार का नियम

न रखने से, तब वे पाँच मिनट भी ध्यान में नहीं बैठ सकते थे। वह संकोचवश ऐसे पदार्थ माँगने में घबराते थे। स्वामीजी ने कुछ तो स्वयं सामग्री दे दी, और उनके मिलने वालों से भी कह दिया कि उन्हें अभ्यासी होने के कारण चिकने पदार्थों का सेवन कराते रहें। फिर उन्हें भी समझा दिया कि जब 'भिक्षुक बने हैं, तो मान का विचार छोड़, अपने शरीर की जरूरत के अनुसार याचना करने में संकोच नहीं करना चाहिए।'

स्वामीजी को पीछे पता चला कि नाथजी शराब और मांस का सेवन कर लेते हैं। जब पूछा, तो, पहले तो वह वेदान्त के ढंग से अपने आपको निर्लेप अथवा निर्दोष करने लगे। महाराजजी ने अनेक प्रश्न करके उनके अपने मुख से ही यह सिद्ध करा लिया कि वे स्वादवश इस व्यसन में फँसे हुए हैं और वे ऐसे निर्दोष नहीं जैसा कि वे अपने आपको समझते थे। जब वह चला गया, तो गुरुजी ने अपने सहवासियों से कहा, "देखो भाई, यह अभ्यास भी बहुत करते हैं, बड़े तप और निवृत्ति से रहते हैं, विद्वान भी बड़े हैं, पर ब्रह्मवाद के नशे में अपने दूषणों को नहीं देख सकते। इनके जीवन से शिक्षा लेनी चाहिए और मन की सूक्ष्म चालों से अपने आपको सचेत रखना चाहिए।" ऐसे ही अनेक साधू अधूरे साधन तथा चरित्र की कमी के कारण अपने व्यसनों को वेदान्त से सिद्ध करते हैं। पर यह है निरा धोखा। वेदान्त के अधिकारी वे नहीं हैं, इसी से वेदान्त का पढ़ना उनके जीवन को पतन की ओर ले जा रहा है। ईशोपनिषद में ठीक कहा है कि केवल ज्ञान भी मनुष्य को हानि पहुँचा सकता है। चरित्र का बल प्राप्त किए बिना ऊँचा ज्ञान उठाने के बजाय गिराता है। पाप तो पाप ही है। उसे वेदान्त के नाम से हम पुण्य नहीं बना सकते हैं।

यहां ही एक मदरासी ब्रह्मचारी रामचन्द्रजी बी० ए० महाराजजी से मिले। वे उत्तराखण्ड से योगी की तलाश करते हुए आए थे। वहां महाराजजी का नाम तो सुना था, पर उनका पता ठीक नहीं चला था। इधर अमरनाथ की यात्रा को भी इसी विचार से जा रहे थे। श्रीनगर में पता चला कि एक योगी महात्मा वहीं रहते हैं। इनके साथ कूपत स्वामी भी थे, यह दोनों दर्शनों को आये। महाराजजी ने सारा वृत्तान्त सुना और कहा, "अमरनाथ-यात्रा का विचार पूरा कर आओ, फिर आकर यहाँ रहना।" जब वह अमरनाथ की यात्रा से लौट आए तो उनके दूसरे गृहस्थी साथी कूपत स्वामी उन्हें कुछ धन की सहायता देकर वापस चले गए, पर रामचन्द्रजी महाराजजी के पास ही रह कर साधन करने लगे। उनका विचार था कि कुछ सिद्धि प्राप्त करके देश-सेवा में लग जाऊँगा। स्वामीजी ने समझाया कि "अभी तो इस विचार को छोड़ कर साधन में लगे रहो, पीछे जब सामर्थ्य हो जाय तो जैसा उचित समझना, वैसा करना।" स्वामीजी उसको भोजन आदि में सहायता देते रहे और बड़े कड़े नियम में रख कर प्राणायाम मार्ग से साधन कराया। कूपत स्वामीने कुछ विशेष तो महाराजजी से नहीं सीखा था, परन्तु तभी से वे गुरु भावना से आपके सम्बन्ध में पूछते रहते हैं।

रामरक्खाजी भी साथ ही आए थे। खान-पान में गड़बड़ी करने के कारण कुछ रुग्ण भी रहते थे। पीछे जब महाराजजी को रोग का पता चला, तो समझाया, और बड़े कड़े नियमों में रखने लगे। परन्तु किशोर अवस्था होने के कारण फिर उनका मन बिगड़ने लगा, बिना कहे ही कुपथ शुरू कर दिया। जब पता चला तो उसके हितार्थ, प्रायश्चित्त रूप से

भिक्षा माँगने की आज्ञा दी गई। कुछ समय तक वे यही नियम-पालन करते रहे, पीछे शरीर अस्वस्थ होने के कारण भिक्षा का नियम छोड़ना पड़ा। जब शरीर की हालत कुछ सुधरी, तो फिर सत्संग में आने लगे।

कुछ दिन बाद प्रोफ़ेसर लालचन्दजी और देवराजजी सेठी भी वहाँ पहुँचे। देवराजजी, १६२३ में, जब स्वामीजी कनखल में गये हुए थे, तो परीक्षा के उपरान्त, महाराजजी से मिले थे। कुछ ध्यान की विधि और खान-पान के नियम पूछ आये थे। फिर पिछले जाड़े में दस दिन तक मुलतान में रहकर क्रियायें आदि सीखी थीं। यहाँ पर एक मास पर्यन्त सत्संग करते रहे। स्वामीजी रूप, रस आदि के सम्बन्ध में यथार्थ बोध प्राप्त करने के लिये बहुत कुछ समझाया करते थे। इन्हीं दिनों में, लाला मूलराज एम० ए० भी महाराजजी से मिलने आये। उनको भी अभ्यास सीखने की रुचि थी, पर मांस-भक्षण छोड़ने पर वे तय्यार नहीं हुए। स्वामीजी भी अपना नियम ढीला करने पर तय्यार न हुए।

प्रोफ़ेसर लालचन्दजी भी यहाँ सत्संग करते रहे। स्वामीजी अनेक युक्तियों से अपने शिष्यों के कल्याण की कामना करते थे। कभी समझाते, कभी प्रशंसा करके उत्साह दिलाते, कभी अभिमान को चूर्ण करने के लिये दूषण दिखाकर डांट भी देते। भोजन में भी वैसे ही घटी-बढ़ी करते कि जिससे जिज्ञासु स्वाद को जीतने में समर्थ हो जाय। स्वयं भी अपनी अनुकूलता की परवाह न करते हुए वैसा ही आहार किया करते। महाराज जी का शरीर अस्वस्थ रहा करता था, जुकाम भी चलता रहता। लालचन्दजी ने यह विचार करके कि स्वामीजी अपने आपही बदपरहेज़ी करते रहते हैं, बहुत कुछ अनुचित कह दिया। महा-

राजजी ने बड़ी शान्ति से समझाया कि भोग-वस गड़बड़ी होती रहती है, जिसको अभी तुम मूर्खता के कारण समझ नहीं सकते। यह तो सायंकाल तक अपने क्रोध में मस्त रहे, और यही विचार था कि स्वामीजी सब कुछ सुनकर क्रोध में ही होंगे। पर वह चकित हुए, जब सायंकाल को आपने लालचन्दजी को वैसे ही प्रेम से बुलाया, "चलो यार, सैर करने चलोगे।" जब मान ही नहीं रहा था तो दूसरे की मूर्खता पर क्रोध क्यों और कैसे आता?

साथ ही, एक कमरे में स्वामी पूर्णानन्दजी रहा करते थे। वे बड़ी अच्छी वृत्ति के महात्मा थे। एक दिन लालचन्दजी उनके दर्शन करने गये और उपदेश देने के लिये निवेदन किया। उन्होंने फटकार दिया और कहा, "अच्छे ग्रन्थ का एक वाक्य भी तुम्हारे कल्याण के लिये पर्याप्त है, सबसे उपदेश नहीं लेना चाहिये। ईश्वर की सत्ता को हर समय अनुभव करते रहो।"

जब स्वामी पूर्णानन्दजी जाने लगे तो महाराजजी से मिलने आये। जब वे कमरे के दरवाजे पर पहुँचे तो महाराजजी भी अपने स्थान से उठकर उनका स्वागत करने के लिये चले। कमरे के दर्म्यान में दोनों ने एक दूसरे के चरण छुए। यह अपूर्व दृश्य था कि दोनों इतने उच्च कोटि के महात्मा होते हुए शील और नम्रता की साक्षात मूर्ति बन रहे थे। पीछे आपस में बातचीत करते हुए, महाराजजी उनको बाहर तक छोड़ आये।

पं० विश्वबन्धुजी भी अवसर अनुसार यहाँ स्वामीजी के दर्शनों को पहुँचे। आपको सर्व प्रथम १६१७-१८ में महाराजजी के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, जब वे लाहौर में चूना-मण्डी के एक जीर्ण मकान में प्रोफ़ेसर सदानन्दजी के पास ठहरे हुए थे। उन दिनों भी कइ बार आप दार्शनिक विषयों पर वार्ता-लाप किया करते थे। उन्हीं दिनों आपकी प्रार्थना पर स्वामीजी

महाराज ने प्राणायाम का कुछ साधन बताया था। कुछ काल तक लवण-त्याग की प्रेरणा भी की थी। एक ऐसे सुन्दर चित्र के द्वारा जो आपके मनको बहुत भाता था, विषय सुख के कल्पनात्मक स्वरूप की ओर भी आपका ध्यान खींचा था। पीछे, जब १९१९ में, स्वामीजी, प्रोफ़ेसर कृष्णकुमारजी के पास ठहरे थे, तो आप कुछ विशेष लाभ न उठा सके। अबकी बार वे यहाँ पर आर्य-समाज के उत्सव के सम्बन्ध में आये हुए थे, तो पं० ब्रह्मानन्दजी शास्त्री द्वारा महाराजजी का समाचार प्राप्त करके दर्शनों को पहुँचे। लग-भग ४ घण्टे तक भिन्न-भिन्न विषयों पर वार्तालाप होता रहा। महाराजजी भूमि पर लेटे हुए थे। प्रथम तो आपने बड़े प्रेम से ब्राह्म महाविद्यालय के समाचार पूछे। पीछे सुख-दुःख, सकाम-निष्काम कर्म तथा अभ्यास और वैराग्य के सम्बन्ध में अनेक उपदेश देते रहे जिनका कुछ सारांश आगे लिखा है।

गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक, ब्रह्मचारी सत्यदेवजी भी दर्शनों को पहुँचे और कई दिन सत्संग में रहकर कुछ साधन करते रहे। पं० महानन्दजी, जो पहले भी कनखल में दर्शन प्राप्त कर चुके थे, यहाँ अनेक वार श्रीसेवा में पहुँच सत्संग से लाभ उठाते रहे।

काशीनाथजी भी बीमारी की अवस्था में, श्री स्वामीजी के दर्शनों को श्रीनगर आये थे। ६ जून १९२४ से लेकर, जब तक महाराजजी वहाँ रहे, आप अनेक बार सत्संग को गये। अनेकों उपदेश लिए अथवा सुने।

श्रीमहाराजजी ने विशेष अनुग्रह कर जो सदुपदेश फ़िदाजी वा पं० विश्वबन्धुजी को दिए थे उसका संक्षेप में कुछ सारांश देते हैं:-

(१) दुःख — जब मनुष्य को सख्त प्यास लगती है, ज़बान सूखने लगती है, बोला नहीं जाता, उस समय वह यह नहीं

सोचता कि प्यास किसने पैदा की, कब और क्योंकर हुई, बल्कि उसको सबसे पहले पानी की तलब होती है, और उसे पीकर वह शांत हो जाता है। वह यह नहीं जानता कि तृषा दुनिया में किस प्रकार आई। ऐसेही दुनिया में लोगों को अनेक महान दुःख हैं, उनकी जड़ काटने का सामान भी है, फिर इस फ़िलास्फ़ी, साइन्स और दलीलबाज़ी की ज़रूरत क्या है, कि दुनिया किस वक़्त से है, ईश्वर इसको क्यों पैदा करता है। शास्त्रों के आज्ञानुसार अमली जीवन बनाना चाहिए, ज़बानी जमा-ख़र्च फ़ज़ूल है।

(२) वैराग्य अथवा योग— वैराग्य उत्पन्न करो, और बढ़ाओ, हर एक वस्तु के दोषों को देखो। उनके थोड़े-बहुत लाभ को देखने से संसार में राग बढ़ा है, अब दोष देखने से ही राग छूटेगा। वैराग्य ही सबसे मुख्य है, इसके बिना कुछ नहीं हो सकता। प्राणायाम के अभ्यास के बाद भी वैराग्य की आवश्यकता रहती है। यदि वैराग्य पूरा हो जाय, तो प्राणायाम की ज़रूरत नहीं। जिसको वैराग्य नहीं, उसको प्राणायाम चाहिए। यदि वैराग्य हो तो स्वप्न में भी बुरे काम नहीं हो सकते। कोई स्वप्न में विष्ठा नहीं खाता। जब तक शरीर में राग है तभी तक संस्कार-जन्य स्वप्न होते हैं। पहले हठ से विषयों को त्याग दो, फिर विचार से संस्कारों को छिन्न-भिन्न कर दो। शराब, मांस आदि सेवन करने वाले भी अभ्यास में कुछ उन्नति कर लेते हैं, इसलिए हमारे हृदय में अभ्यास की कुछ क़द्र नहीं, वैराग्य ही मुख्य है। बिना त्याग के अभ्यास कुछ नहीं। व्यवहार शुद्ध न होने से जो पाप होंगे उनका फल भोगना ही पड़ेगा। वैराग्य और ईश्वर-चिन्तन बड़े लाज़मी हैं। वैराग्य के संस्कार ही मरने के वक़्त साथ रहते हैं। यदि अभ्यास में चित्त न लगे, तो कुछ हर्ज नहीं। थोड़ा पुस्तक का पाठ, तथा जाप करता रहे, और वैराग्य

की ओर विचार को चलाये। एक अभ्यासी को ऐसी शक्ति प्राप्त हो गई थी कि जो व्यक्ति उससे मिलने को आता, बिना देखे ही उसका पता लगा लेता, वैराग्य के बिना कुछ दिन पश्चात् एक स्त्री में फँस गया। ऐसेही एक दूसरे महात्मा की कथा है, जिन्होंने योग और भक्ति की कुछ पुस्तकें बनाई हैं, और अच्छे योगी भी थे, पर वैराग्य न होने के कारण अब दो स्त्रियों को पास रखकर संतुष्ट रहते हैं। मन को स्थिर करने के लिए प्राणायाम की आवश्यकता नहीं। शाइरी करने में भी तो मन लग जाता है पर प्राण बन्द नहीं होते। परम वैराग्य से ही बिना प्राणायाम के समाधि लग जाती है। जिन व्यक्तियों को हमने हठ से अथवा कहने सुनने से अभ्यास सिखाया वह पीछे गिर गए। इसलिए यम-नियम का पालना लाजमी है, भजन करना छोड़कर जिस चीज में मन जाये, वहाँ उसको दोष दिखलाये, ऐसा लगातार करने से वैराग्य के संस्कार दृढ़ हो जायेंगे। बुरे स्वप्न भी नहीं आयेंगे और सब से बड़ी बात यह होगी कि मरते समय ऐसे ही विचार साथ जायेंगे, और आगामी जन्म में फिर उसी धुन में लगकर सफलता हो जायगी। जब तक विषयों में सुख प्रतीत होता है तब तक ब्रह्मानन्द नहीं प्राप्त हो सकता। ब्रह्म का आनन्द तो अभी दूर है, मुमकिन है कि इस जन्म में न मिले, परन्तु जब विषयों में सुख है ही नहीं तो इस धोखे को मिटाना आवश्यक है। जो व्यक्ति यह इच्छा करके अभ्यास करते हैं कि कुछ सिद्धि प्राप्त करके देश और जाति की सेवा करेंगे, वे शान्ति प्राप्त नहीं कर सकते। क्योंकि सब क़िस्म की इच्छा बुरी है। केवल योग और वैराग्य की इच्छा इसलिये अच्छी है कि इस से छुटकारा हो जाता है। विषयों को छोड़कर मन में उदासी आये तो उसको स्वागत करना चाहिये। मूर्ख तो कहने लगता

है कि चित्त दुखी हो रहा है। राजयोग और हठयोग में यही भेद है कि हठयोग से जो प्राणायाम किया जाता है, उसका नशा जब तक रहता है, तब तक मन पर वैराग्य रहता है, फिर वह जाता रहता है। इसलिये हठयोग की क्रिया जचती नहीं। बल्कि योग दर्शन में जो लिखा है वह ठीक है कि वैराग्य ही सब से मुख्य है। विषयों के यथार्थ बोध को प्राप्त करने से राग छूट सकता है। इस प्रकार विचारो, अपना शरीर ही मलमूत्र आदि से भरा हुआ है, और हमारा इसी में ही निवास है, तो जब विचार करते-करते अपने शरीर में ही आसक्ति नहीं रहेगी तो दूसरे के शरीर में चित्त नहीं फँसेगा। वैराग्य के बिना योग साधन करना मक्कारी ही है।

(३) कर्म— जैसे कृषक भूमि को ठीक करके उसमें बीज डालता है पर फल उस पर निर्भर नहीं है, परमेश्वर के अधीन है, वैसा ही हाल सब कर्मों का है। जब परोपकार की इच्छा होती है तो रजोगुण की प्रधानता के कारण मनुष्य विवश हो जाता है। इसलिये उसको वैसे ही शान्त कर देना चाहिये। मन कुछ न कुछ काम करता ही रहता है, परन्तु ऐसी अवस्था भी आ जाती है कि जब ईश्वरीय प्रेरणा से काम होता है, गुणों के दबाव से नहीं। ऐसी अवस्था में पहुँचने से, सन्तों का स्वभाव ही ऐसा बन जाता है कि फिर वह गिर नहीं सकते। देश, जाति और धर्म के बंधन से मुक्त होकर, वह सब को समान समझते हैं। किसी में ममत्व को न रखता हुआ, जो पास आ जाता है उसकी सेवा कर देते हैं। परन्तु यह उपदेश सब के लिये नहीं हैं। जिनकी कर्म में रुचि है, वह शास्त्रों के अधीन रहकर ही ऊँचे उठ सकते हैं। जो काम से दुःखित हैं, उनके लिये ऋतुगामी का बंधन लगाकर उनकी उन्नति का रास्ता

बताया है। शास्त्र का असली मनशा तो वैराग्य और त्याग है। आत्मा सुख-दुःख प्रतीत नहीं करता। ज्ञानी, नाटक के समान काम करता रहता है। उसका चित्त किसी में फँसता नहीं। फल में निगाह न रखना निष्कामता नहीं है। ईश्वर पर फल को छोड़ देना तो पहली अवस्था है। ऊँची अवस्था और है जहाँ केवल ईश्वरीय प्रेरणा से काम होता है। वहाँ ईश्वर यदि कोई फल दे भी तो इन्कार कर दिया जाता है। जब तक अपना कर्त्तव्य जचता है, अपने कल्याण के लिये ही काम करते हैं। पर जब ऐसा प्रतीत हो कि अपने लिये कोई कर्म नहीं है तो फिर वीत-राग बनकर पूर्ण वैराग्य से परोपकार होता है, फिर जय और हार से हर्ष-शोक नहीं होता। उस वक्त आनरेरी काम होता है। ईश्वरीय प्रेरणा से ही सब कुछ हुआ करता है। पर जब तक ऐसी अवस्था न आये, शास्त्रानुसार कर्म करते हुए उसके फल को प्रभु-अर्पण करते रहो, धीरे-धीरे सब भेद खुल जायेंगे। चित्त पवित्र होने पर लीलाधार प्रभु का क्रीड़ास्थल बन जावेगा।

स्वामीजी महाराज का स्वास्थ्य बिगड़ा हुआ था। जुकाम सुधरने में नहीं आ रहा था। स्थान और जल-वायु परिवर्तन करने के लिये स्वामी नारायणहरिजी और अन्य सत्संगी कहते रहते थे। लाचार, सितम्बर मास में दशहरा के लगभग चल पड़े। चलने से पहले, कई एक राज-कर्मचारी महाराजजी से महाराजा साहब के दर्शनों को आने की आज्ञा माँगते रहे। पहले तो स्वामीजी कहते रहे कि 'उनके यहाँ आने से क्या लाभ होगा,' फिर जिस दिन चलना था उस दिन कह दिया कि "यदि हम रुक गये तो महाराजा साहब कल आ सकते हैं।" पर आप उसी दिन वहाँ से चल दिये। दशहरा के दिनों में रावलपिण्डी में रहे। यहाँ एक साधु-स्थान पर आप सत्संगियों सहित पहुँचे।

महाराजजी ने, बड़ी नम्रता से सबको जाकर प्रणाम किया, मानों ख़ुद भी गृहस्थी हैं। चुपचाप बैठकर दर्शन करके चले आये। अभी गरमी तो थी, पर शरीर को सुधारने के विचार से शीघ्र जालन्धर को चल दिये।

उन्नीसवां प्रकरण

चित्र

स्वास्थ्य के बिगड़े रहने से इस बार आपका चित्त बहुत सुस्त था। एक पत्र में आपने प्रो० सदानन्दजी को कश्मीर से लिखा था:— "अब चित्त रिटायर होने को करता है; लोग बात भी नहीं समझते। यही चित्त चाहता है कि बद्रीनारायण की तरफ़ जाकर शरीर छूटने तक निर्वाह करता रहूँ; पर होना वही है, जो ईश्वर को मनजूर है, सो मनोराज्य करना निरर्थक है। जैसा प्रारब्ध है, वैसा ही भोगना पड़ेगा।" ऐसी ही धारणा को आप सदैव मन में धारण किये हुए थे। इसी के अनुसार ही यहाँ आए थे। मुलतान के सत्संगी मुलतान आने के लिये बहुत प्रेरणा कर रहे थे, पर मुलतान के नाम से ही चित्त में घृणा के भाव पैदा होते थे। वहाँ के वायु-मण्डल में घृणा पैदा करनेवाले चिन्ह नज़र आते थे। कुछ भयानक और भद्दे दृश्य भी दिखाई दिये, मानों कोई पशु अथवा मनुष्य खून में लिथड़े पड़े हैं। आपका निर्मल चित्त किसी आगामी अनिष्ट की सूचना दे रहा था। प्रो० सदानन्दजी को जब यह सब वृत्तान्त ज्ञात हुआ तो उन्होंने भी मुलतान न आने की राय दी। थोड़े दिन पीछे मुलतान में भयानक रूप से प्लेग फूट पड़ी, ऐसी

आशंका तो पहले ही थी । प्रो० कृष्णकुमारजी कानपुर के लिये प्रार्थना कर रहे थे, पर वहां की स्मृति से भी चित्त सुस्त हो जाता था। ला० कर्मचन्दजी, जब स्वामीजी अभी कश्मीर में ही थे तो जालन्धर आकर ठहरने की याचना कर रहे थे। लाचार, शरीर का भोग जान, वहां के सत्संगियों के अनुरोध पर आपने वहीं रहने का निश्चय कर लिया।

आपकी शारीरिक अवस्था इस वर्ष अच्छी न रही। जुकाम जो कश्मीर में बिगड़ा था, बराबर जारी रहा। बद्रीनारायण जाने का विचार दृढ़ था। सर्दी सहारने का अभ्यास भी चलता रहा। इससे नजले को सहायता मिली । इस सब गड़बड़ी के रहने पर भी जिज्ञासुओं को बराबर सहायता देते रहे। सिद्ध पुरुषों के लक्षण ही यही हैं। सहन-शक्ति इतनी बढ़ जाती है कि किसी कार्य्य में रुकावट नहीं रहती।

मा० कर्मचन्दजी बड़ी श्रद्धा से सेवा का कार्य्य निबाहते रहे। बाहर से आनेवाले अनेक जिज्ञासु समय-समय पर श्रीचरणों में बैठकर तृप्त हो-होकर वापस लौट जाते थे।

अजमेर से देवीदत्तजी, जम्मू से ज्योतिप्रकाशजी वकील और जयगोपालजी बजाज, काँगड़ी से प्रो० लालचन्दजी, कानपुर से कृष्णकुमारजी, लायलपुर से अनन्तरामजी, उत्तर-काशी से, गुजरात काठियावाड़ के चुन्नीलालजी, चकवाल से मा० कल्यानदेवजी, मुलतान से पं० शिवरामदासजी तथा भक्त धर्मचन्दजी, कपूरथला से पं० देवराजजी और ला० हरचरण-दासजी आदि अनेक सज्जन अपनी-अपनी बारी से आते रहे। पुराने भक्त तो सत्संग से ही बल प्राप्त करके चले गये। नये जिज्ञासु श्रीचरणों में बैठ, उचित उपदेश पाकर अपनी श्रद्धा के अनुसार अनेक मार्गों से भजन-साधन में लगाये गये। कोई

प्राणायाम में लगे, तो कोई मूर्ति-पूजा के सहारे साधन करने लगे। कोई जाप में प्रवृत्त हुए, तो कोई ध्यान जमाने की युक्ति प्राप्त कर अभ्यास करने लगे। विचार से वैराग्य को बढ़ाने का उपदेश तो होता ही रहता था, संसार की दुःखरूपता का निरूपण, विषय-सुखाभाव का विवेचन, आहार-व्यवहार-शुद्धि की आवश्यकता, तप-साधन का महत्व, यम-नियम, का अनुष्ठान आदि अनेक उन्नति के साधनों की चर्चा चलती रहती थी। जालन्धर के भी अनेक जिज्ञासु दर्शनों तथा सत्संग से लाभ उठाते रहे। मा० कर्मचन्दजी के पिता सांसारिक झमेलों से मुक्त होकर साधन में लग गये। ला० जगन्नाथजी बजाज और ला० मेलारामजी ने श्रीसेवा में बैठकर विशेष लाभ पाये। साधकों को विचित्र अनुभव होने लगे। कोई-कोई तो सिद्धि भी प्राप्त करने लगे। सब नये दीक्षित जन सत्य पर आरूढ़ रहने की प्रतिज्ञा में बाँधे गये।

एक पारसी महाशय मिट्ठू जी योगियों की तलाश में, बम्बई से तीर्थ-यात्रा करते, उत्तरकाशी से पता पाकर श्रीसेवा में आये। वे बी० एस-सी० थे, कुछ संस्कृत भी पढ़े थे। आप इस संशय में थे कि कौन सा धर्म ठीक है। कुछ शास्त्र भी पढ़ा था। अनेक महात्माओं का सत्संग किया था। राधास्वामी संघ में भी रह आए थे। उन्होंने आते ही यही प्रश्न किया—"कौन सा धर्म ठीक है, ईश्वर है वा नहीं ?" महाराजजी ने कहा, "इन सब लिखी बातों को त्याग दो। यह विचारो, कि दुःख का सब इलाज कर रहे हैं। यम-नियम का पालन सब धर्मों में मानते हैं। पाप से बचो, सुख प्राप्त करो। जो समझ में आवे, वही मानो, साधन करो, फिर जैसे जचता जाय वैसे मानते जाना, पर हमारे साथ रहकर साधन करोगे, तो

ठीक काम बनेगा।" फिर वह यह कहकर कि "अब मैंने सबको सुन लिया है, सोच विचार कर निश्चय करूंगा," चले गये। पीछे वे साधु होकर वेदान्त के चिन्तन में लग गये, उनकी रुचि ऐसी ही बनी। साधुसिंहजी भी यथापूर्व सेवा में रहकर अपने हृदय को पवित्र करने लगे।

जब जुकाम ने महाराजजी का पीछा न छोड़ा तो आप इधर कुछ ध्यान देने लगे। अपने भोजन का, अनुकूलता के अनुसार, स्वतन्त्र प्रबन्ध किया। कुछ उपाय भी किया, जिससे थोड़ा परिवर्तन हुआ। आपके हृदय में यही विचार उठता था कि जिस दिन जालन्धर छोड़ेंगे, उस दिन नजला भी बन्द हो जायेगा। ठीक यही हुआ। जब आप वृन्दावन गए, तो रास्ते में जुकाम ठीक हो गया। प्रारब्ध बड़ा प्रबल है। जब तक वह समाप्त नहीं होता सारा परिश्रम व्यर्थ जाता है।

स्वामी नारायणहरिजी भी बराबर सेवा में लगे रहे। सरल स्वभाव तथा शुद्ध हृदय के कारण आपका चित्त भी धीरे-धीरे साधुताई के रंग में रंगता गया। जहाँ आप अपने कार्य्य में लगे रहे, वहां दूसरों को आज्ञा के अनुसार उचित सहायता देते रहे, तथा महाराजजी के स्वास्थ्य की भी चिन्ता करते रहते थे। आपके बार-बार के अनुरोध करने पर ही महाराजजी ने इधर ध्यान देना शुरू किया था।

सेवकों की यही इच्छा थी कि गुरुदेवजी का एक चित्र ले लिया जाय। पर महाराजजी इस पर राजी न हुए। पहले भी अनेक बार ऐसा प्रयत्न किया गया था। जब प्रोफ़ेसर सदानन्दजी से राय ली गई, तो उन्होंने यहां तक कह दिया कि चुपके से मौक़ा ताड़, विना आज्ञा भी चित्र ले लिया जाय। जब स्वामीजी को पता चला, तो बड़ी फटकार पड़ी। आपने प्रो०

सदानन्दजी को लिखा, "बिना किसी की मर्जी के किसी की चीज़ लेना, 'अस्तेय' है, वा नहीं ? और जबर्दस्ती लेना 'हिंसा' भी है वा नहीं — ज़रा अन्तरात्मा में विचार करो कि इस तरह से प्राप्त की हुई वस्तु कैसे लाभकारी हो सकती है ?" आगे को ऐसा यत्न न करें, इस भाव से फिर लिखते हैं, "जैसे कुत्ते को टुकड़ा दे देते हैं, और उससे बदले की इच्छा नहीं रखते, ऐसी ही बुद्धि से जब मेरे को टुकड़ा दोगे, तब निराशा नहीं होगी, और न दुखी होंगे । तुमने देख लिया कि मैं भी कुत्ते से बढ़कर न हुआ, बल्कि घट कर निकला, जो कहने पर भी तुम्हारा कहना नहीं माना। और आवश्यकता होने पर पापी पेट के लिये फिर भी लज्जा और शरम को, कुत्ते की तरह छोड़कर, तुम्हारा दरवाज़ा खटकाने लगता हूँ । प्यारे, जब मैं नौकरी नहीं बजा सकता, तो ऐसी निर्लज्जता से शरीर छोड़ देना अच्छा है। अच्छा, प्रभु की कृपा है, कि आंखें अच्छी तरह खोल रहे हैं। आशा है, मेरी कमजोरी को क्षमा करोगे। 'आशा हि परमं दुःखम् निराशा परमं सुखम् ।' एक साथ ही उपदेश और प्रेम-भरी फटकार को कैसा मिलाया है । जहाँ अपनी नम्रता का प्रबल प्रमाण दे रहे हैं वहाँ ही निष्काम कर्म का विचित्र कभी न भूलनेवाला उपदेश भी दे रहे हैं। धन्य हैं सन्त तथा उनकी करनी । इसी प्रकार से दूसरे सत्संगियों को भी समझाया, "मिट्टी के शरीर से क्या लाभ ? यदि तुम्हारी श्रद्धा है भी, तो ज़बरदस्ती करने से वह फल प्राप्त न होगा । यह चोरी है कि दूसरे की वस्तु बिना आज्ञा लेने को प्रयत्न करते हैं । यम-नियम का पालन न करने से पाप के भागी बनोगे।" हताश, सब लोग चुप कर गये। जो चित्र इस पुस्तक में दिया है, वह आपके मित्र, बाबू अयोध्याप्रसाद फाटकवाला ने, १९१५ में, वृन्दावन

में, बड़ी कठिनाई से लिया था। उसीके आधार से यह बनवाया गया है।

जब महाराजजी यहाँ से चलनेवाले थे, तो एक फ़ारेस्ट आफ़िसर, जो कि पहले भी आपसे परिचित थे, आपके आगे अपना दुखड़ा रोने लगे। "मेरी युवा पुत्री विधवा हो गई है, वह पति के वियोग में बड़ी दुःखी रहती है। उसके कारण हमारा सारा घर दुःख में डूबा हुआ है। यदि प्रभु-कृपा हो तो कुछ सहारा मिल जाय।" स्वामीजी तो करुणा के सागर थे, अपना शरीर अस्वस्थ होते हुए भी आप दूसरे के कल्याण के निमित्त सब कष्ट सहारना मंजूर कर लिया करते थे। अपना जाना स्थगित कर दिया। सत्य है, 'जीवन मुक्त तो ऐसे होते हैं:—

'करुणा कृपा दीन पर करता, वीत राग जन दुःख का हरता,
दुःखी देख पिघले कर करुणा, दीन हीन के दर्द को हरता।

दूसरे दिन प्रातःकाल वह देवी बुलाई गई। आपने उसे अपने सामने ध्यान में लगाया। अपने आत्मिक बल से उसकी धारणा दृढ़ कर दी। शीघ्र ही उसका शोक-मोह मिट गया। भगवान् कृष्ण के दर्शन करने लगी। उनसे बात-चीत में लग गई। दिल बहलावा होने लगा। अपना दुःख-सुख कहने लगी। इस प्रकार वह घंटों ध्यान में मस्त रहने लगी। अपना दिमाग़ नज़ले के कारण कमज़ोर होते हुए भी श्रीस्वामीजी ने दूसरे के कल्याण के निमित्त अपनी शक्ति लगाने में संकोच नहीं किया।

चलने से पहिले स्वामी तारकानन्दजी और पं० यागेश्वरजी आए। तारकानन्दजी उत्तर काशी से इसलिये आए थे कि "मेरा चित्त भजन के लिये बहुत करता है, उसके लिये भोजन की विशेष सामग्री होनी चाहिये। इसके लिये याचना करना अच्छा नहीं लगता। भिक्षा से निर्वाह होता है, पर उससे

अधिक अभ्यास नहीं हो सकता।" इस समस्या का हाल पूछें। स्वामीजी ने उत्तर में कहा, "जब-तक तुम्हारा चित्त अभ्यास को कर रहा है, तो भिक्षु होते हुए मांगते रहो, माँगना न छोड़ो। साथ ही यह भी चित्त को समझाते रहो कि इसमें भी दुःख है। इस प्रकार भजन से भी वैराग्य बढ़ाते जाना चाहिये। पूर्ण वैराग्य से ही परमशांति मिल सकती है। भजन का भी राग छोड़ना पड़ेगा। जब-तक नहीं छूटता, इसके निमित्त भी दीन बनकर दुःख सहते रहो।" योगेश्वरजी भी बहुत दिन से नहीं मिले थे। दर्शन करने के लिये चले आए थे।

२६ जनवरी को आप वृन्दावन को रवाना हुए। आपके साथ नारायणहरिजी तो सेवा में थे ही। अनन्तरामजी और चुन्नीलालजी भी साथ गये। देहली स्टेशन पर अपने भक्त टेकचन्दजी को दर्शनों से कृतार्थ करते हुए वृन्दावन पहुँचे। अनन्तरामजी और चुन्नीलालजी वहाँ रहकर चान्द्रायण व्रत करते रहे। स्वामीजी यहाँ गोवर्धन और राधाकुण्ड भी गये। दोपहर को नींद टालने के लिये, रास देखने चले जाया करते। थोड़े दिनों में स्वामी तारकानन्दजी, स्वामी सोमतीर्थजी और स्वामी कृष्णानन्दजी भी आ गये। इसी वर्ष स्वामी दयानन्द के भक्त मथुरा में शताब्दी का महोत्सव मना रहे थे। यहाँ रहते हुए स्वामीजी महाराज प्रातः यमुना के किनारे चले जाते। वहाँ शौच आदि से निवृत्त हो, भजन-ध्यान में रहते। वहाँ से ९, १० बजे वापस लौटते। अयोध्याप्रसादजी की स्त्री का देहान्त हो गया था। उनको भी उचित उपदेश देकर शान्ति प्रदान करते रहे। यहाँ से शीघ्र ही चित्रकूट चले गये। जालन्धर रहते हुए ही चित्रकूट की स्मृति से चित्त प्रसन्न रहता था। यहाँ एकान्त स्थान मिल गया। स्वास्थ्य भी अच्छा रहा, चित्त भी प्रसन्न रहा।

साथी ' के भक्त भी यहाँ पहुँच गये। १०, १२ दिन तक ' साथी ' चलने के लिये आग्रह करते रहे। लाचार वहाँ भी जाना पड़ा। एक पाठशाला का प्रबन्ध गड़बड़ था, उसको ठीक कर दिया। यह पाठशाला आपके एक भक्त ने परमार्थ निमित्त खोल रक्खी थी। पहले तो कई दिन आस-पास के ६, ७ ग्रामवाले अपने-अपने ग्राम में ले जाते रहे। फिर ' साथी ' में ही टिक गये। अपने भक्त शिवदर्शन के यहाँ रहते रहे। आपके भाई आदि भी सत्संग में आया करते थे। आपका भतीजा जो अभ्यास में लगा हुआ था, साधु हो साथ चलने के लिये तय्यार हुआ। पर श्रीगुरुजी ने उसको गृहस्थ में रहकर, अपने वैराग्य को बढ़ाने के लिये उपदेश दिया। वृद्ध पिता की सेवा भी करने को कहा। इस प्रकार अपने कर्तव्य-पालन में रहकर ही उसे कल्याण का मार्ग सुझा दिया। यहाँ भी प्रातः ४ बजे से लेकर ४ बजे सायंकाल तक अनेक स्त्री-पुरुषों को भजन में सहायता देते रहते थे। सायंकाल को एक आम सत्संग लगा रहता, जिसमें आस-पास १०, १५ मील तक के रहनेवाले लोग सदुपदेश सुनने को आते। यहाँ एक डिप्टीकलेक्टर भी दर्शनों को आये। वह कई स्थानों पर साधुओं के दर्शन कर आए थे, पर किसी पर श्रद्धा नहीं जमी थी। स्वामीजी ने भी अनेक स्थानों का नाम बताया कि वहाँ जाकर दर्शन करें और पूछ-ताछ कर महात्माओं का पता चलायें। दो एक दिन में उनकी भक्ति वहीं जम गई। व्यवहार शुद्धि के अनेक नियम सीखे। पीछे छुट्टी लेकर पहाड़ पर रह, भजन-साधन करने का निश्चय हुआ। ऐसा सौभाग्य तो उनको न मिला। मगर तब से उनके व्यवहार में बहुत पलटा आ गया। बड़े धर्म और दया-भाव से सब काम करते हैं। राजकर्मचारी होते हुए, आपसे प्रजा बहुत प्रसन्न रहती है। सत्संग की महिमा अपार है।

यहाँ से जब ग्राम वालों की इच्छा के विरुद्ध चलने लगे तो पैर की नस में जोर का दर्द हुआ। दाँत में भी दर्द होने लगा। दाँत का दर्द तो सफ़ाई से हट गया, पर पैर का दर्द कई दिन में ठीक हुआ। फिर चलने को थे, तो पेट में बड़े जोर का दर्द हुआ; जो १६ घण्टे तक रहा। सेंक आदि उपाय करने से कुछ आराम हुआ। २ मार्च से २८ तक यहाँ रहे। फिर वृन्दावन पहुँचे।

जब से कश्मीर गये थे, तो चित्त उदास रहा करता, तब से शरीर भी कष्ट में ही रहा। जुकाम तो जालन्धर में भी लगा रहा। उदासी बराबर जारी थी। यही विचार था कि ऊपर पहाड़ में घुसकर शरीर छोड़ दें। इसी भाव से बद्रीनारायण जा रहे थे। उस कठिन यात्रा में जाने से पहले मुलतानवाले भी दर्शनों की आश लगाये बैठे थे। यह विचार कर कि कहीं शरीर छूट न जाय, यहाँ के भक्तों को भी दिलासा देना था। आप ५ अप्रैल को मुलतान पहुँचे। यहाँ १० दिन रहे। अभी प्लेग चल रही थी, इसलिये स्टेशन के पास लाला बल्लभदास के मकान में ठहरे। यहाँ ही सब सेवकों ने दर्शन किये, और उपदेश भी पाये। इस प्रकार से सब सत्संगियों को आदेश-उपदेश दे, दर्शनों से कृतार्थ कर आप मुलतान से बैसाखी के दिन रवाना हुए। दो रोज जालन्धर ठहर कर, २० अप्रैल से पहले ही कनखल पहुँच गये। नारायणहरिजी तो वृन्दावन से यहाँ सीधे ही पहुँच चुके थे।

बीसवाँ प्रकरण

मनुष्य-प्रेम

कनखल से आप शीघ्र ही ऋषिकेश को चले गये जहाँ से २७ अप्रैलको बद्रीनारायण की ओर चल दिये। आपकी सेवा में स्वामी नारायणहरि जी, स्वामी तारकानन्द जी तथा एक और ब्रह्मचारी थे।

१०, १२ मील ही गये होंगे कि पीछे से लाला नारायणदासजी और लाला टीकमदासजी भी आ मिले। ५० मील चलने के उपरान्त रामपुर चट्टी पर कुली बीमार हो गया। वह नैपाली था, इस विचार से कि उसका शरीर बलिष्ट है, उसने बोझा अधिक उठा लिया था। वहाँ से एक सिपाही की सहायता से दो कुलियों का, श्रीनगर तक, प्रबन्ध किया। एक ने तो सामान उठाया, दूसरे ने बीमार कुली उठाया। श्रीनगर में पहुँच कर उस रोगी कुली को अस्पताल दाखिल कराया। पं० तारादत्तजी वकील आपके दर्शनों को आये। उनकी सहायता से कुली के लिये अस्पताल में देख-भाल करने का और भी अधिक अच्छा प्रबन्ध करा दिया। उसकी अवस्था देखने के निमित्त वहाँ ठहर गये कि, जब वह अच्छा होने लगे तो आगे को जायेंगे।

फिर उसकी मजदूरी, कपड़े, छाता आदि डाक्टर के सुपुर्द कर दिया, कि जब वह अच्छा हो जाय तो उसको दे दिये जायें। उस डाक्टर से रसीद भी ले ली। कभी खुद, कभी स्वामी नारायणहरिजी उसको देख आते थे। उसका रोग भयानक था, ३ दिन पीछे उस बेचारे की मृत्यु हो गई। फिर यह विचार कर कि कहीं उसकी सामग्री, ला-वारिस समझ, सरकार ही न ले ले,

वहीं ठहर गये। उसका पूरा पता ऋषिकेश में लिख लिया था, उसी पते से उसका रुपया, कपड़े आदि उसके घर भिजवा दिये। महाराज तो दया के स्रोत थे। जब हिंसक जन्तु पर भी कृपा रक्खा करते थे तो मनुष्य पर अधिक दया क्यों न रखते? उनके लिये तो सब मनुष्य एक समान थे। उसी व्यापक-भाव से प्रेरित होकर उस कुली की रक्षा में इतनी चिन्ता करते रहे। जब प्राणी-मात्र के दुःख का विचार उनको विह्वल कर देता तो फिर भला एक मनुष्य के लिये इतना यत्न क्यों न करते?

यहाँ से चलने लगे तो पं० तारादत्तजी ने बहुत निवेदन किया कि आप मेरी कोठी पर रहकर मुझे सत्संग का अवसर दें। पर आपने यही कहा, "बद्रीनारायण के दर्शन करके ही कहीं ठहरने का विचार करेंगे।" पण्डितजी ने कुछ पत्र भी दिये जिनकी सहायता से रास्ते में अथवा बद्रीनारायण में भी आप को ठहरने आदि में आराम मिलता रहे।

फिर धीरे-धीरे आगे चल दिये। प्रातःकाल को ५ बजे, नित्य-नियम से मुक्त होकर चल दिया करते। ५, ७ मील पर ठहर जाते, वहीं भोजन कर, रात्रि व्यतीत करते। फिर दूसरे दिन वहाँ से आगे रवाना हो जाते। रास्ते में जहाँ कहीं कोई बीमार होता, वहाँ उसको अमृत-धारा देते कि जिससे उसके कष्ट में कुछ कमी पड़ जाती।

धर्मचन्दजी भी छः सप्ताह की छुट्टी लेकर पीछे से चल पड़े थे। पर वह इतनी शीघ्रता से चले कि रास्ते में महाराजजी को न मिल सके। रुद्र प्रयाग के रास्ते, केदारनाथ होकर बद्री-नारायण पहुँचे। वहाँ श्री दर्शनों के बिना चित्त बड़ा अप्रसन्न रहा। २२ दिन बाद घर को वापस जा रहे थे। नन्दप्रयाग के पास पहले नारायणदासजी को देखकर हक्के-बक्के रह गये। श्री

स्वामीजी भी मिल गये। सारी उदासी का वेग उमड़ पड़ा। दर्शन करते ही रोने लगे। आपने आश्वासन दे उन्हें, साथ चलने को कहा। इधर इनको घर का मोह सता रहा था। २० दिन छुट्टी रही थी। धीरज देकर, सुख-पूर्वक यात्रा करने अथवा सत्संग से लाभ उठाने के लिये साथ जाने पर राज़ी कर लिया। फिर साथ हो वे नन्दप्रयाग पहुँचे। उस दिन धर्मचन्दजी ने एकादशी का व्रत किया था। गुरुदेव ने उन्हें समझाया था कि, "तुमको अकेले जाने का फल मिल गया, क्योंकि तुम केदारनाथ आदि तीर्थों के दर्शनों से कृतार्थ हो आए, यदि हमारे साथ जाते, तो यह तीर्थ तुम्हारे रह जाते। हम तो रुद्र प्रयाग से सीधे बद्रीनारायण जा रहे हैं। जैसा हुआ, अच्छा ही हुआ।" फिर चमोली पहुँचे। यहाँ से कई रास्ते फूटते हैं, यहाँ पर कई तीर्थों से यात्री लोग आकर ठहरते हैं, भीड़ खूब रहती है। इसलिये यही निश्चय हुआ कि २ मील आगे चलकर ठहरें। वहाँ पर धर्मचन्दजी का मन बहुत मचल पड़ा। पहले तो महाराजजी समझाते रहे, पर जब गहरा मोह देखा तो कह दिया, 'अच्छा, दोपहर पीछे, ठंढाई पीकर घर चले जाना।' रोटी खाने के बाद धर्मचन्दजी को आपने बुलाया और आज्ञा दी कि, 'ज़रा मेरी पीठ दबा दो।' वे धीरे-धीरे कमर दबाते रहे, महाराजजी भी धीरे से मोह पर चोट लगाने लगे। आपने कहा, "लोगों को लौटते देख, घर जाने का वेग स्वाभाविक ही है, उधर स्त्री, माता-पिता आदि सम्बन्धी भी याद करते होंगे। उनके संस्कारों का असर भी पड़ता है। मोह इसीलिए बढ़ गया है। इस सब वेग को सहारना बड़ा कठिन है। वह शूर-वीर है, जो इस प्रकार के वेगों को सहारता है।" इस प्रकार आधा घण्टा तक उपदेश देते रहे। फिर आज्ञा दी, कि 'ठंढाई बनाकर पी लो, और घर लौट

जाओ।' पर अवतो वेग शांत हो गया था। मोह के संस्कार सदुपदेश से छिन्न-भिन्न हो गये थे। सत्संग में रहकर ही अमृत-पान करने को चित्त चाहता था। वे, यहां से, साथ ही आगे को चल पड़े।

इस प्रकार चलते-चलते जोशीमठ पहुँचे। वहाँ पं० तारा-दत्त जी का पत्र कुवँर रामचन्द्र को दिया गया। उन्होंने तपोवन तो नहीं दिखाया, पर पास ही ज्योतिर्मठ स्थान दिखाया। यहाँ ही स्वामी शंकराचार्य्यजी ने कुछ तप किया था। जंगल भी है, एकांत स्थान है। कुछ कुटियाँ भी थीं। जरा टूटी पड़ी थीं। दो-तीन फलों के पेड़ वहां थे। देहात भी १॥ मील की दूरी पर है, जहाँ से खाने-पीने का प्रबन्ध हो सकता था। क़रीब ही भविष्य केदार है, जहाँ पहाड़ का लिंग अपने आप बन रहा था। जब बद्रीनारायण का रास्ता बन्द हो जायगा, तब भक्त लोग भविष्य बद्री की यात्रा को जायँगे और केदारनाथ का रास्ता भी बन्द हो जायगा, तो इस भविष्य केदार की पूजा होगी। इन दोनों स्थानों को देखकर फिर आगे को चल दिये। इस पड़ाव से चलने से पहले २२ मई को बा० अयोध्याप्रसाद फाटकवाला भी आगये थे। वह भी साथ ही बद्रिकाश्रम को चले। महाराजजी की श्रद्धा थी, इसलिये आपने यहाँ से नंगे पाँव यात्रा की। २, ३ दिन में बद्रीनारायण पहुँचे। यहाँ पहुँचते ही धर्मचन्दजी को वह पण्डा मिला जिसके पास वह रह गये थे, तथा जिसके लोभ-व्यवहार से बिगड़कर, उसके पूछने पर, अपने पिता आदि का नाम व पता झूठ-मूठ कुछ का कुछ लिखा दिया था। यह सब, इस मोह से किया था कि पीछे कभी वह उनके सम्बन्धियों को वैसे ही दिक न करे। यह कथा तो महाराजजी को पहले ही सुना चुके थे। इसके

प्रायश्चित्त के लिए भी वे इनको वापस लौटा लाये थे। पहले तो धर्मचन्द्जी ने उससे क्षमा मांगी, फिर दूसरे दिन उपवास तथा मौन रहे। तीर्थ-स्थान में झूठ बोलने का उन्होंने इस प्रकार से अपने-आपको दण्ड दिया। यहाँ पहुँचकर, स्वामीजी ने पं० तारादत्तजी का पत्र, पं० योगेश्वरप्रसाद को दिया। वे वहाँ रावलजी के हिसाब आदि का कार्य्य करते थे। आपको वहां आपके साथियों सहित आराम से ठहराया गया। बद्रिकाश्रम के महन्त ने आप सबका आतिथ्य किया। यहाँ पर ३ दिन तक रहे। प्रातःकाल खिचड़ी का बाल भोग लगता है जो बच्चों तथा साधुओं को बांटा जाता है। फिर दोपहर को भोज्य होता है। दाल-चावल का प्रसाद उन यात्रियों को मिलता है, जो भोग में खर्च देते हैं। शेष, कर्मचारी लेते हैं। पर अन्न कच्चा होने के कारण वह भी यात्रियों के पास बेच देते हैं। जो बचता है वह पण्डा लोग लेकर अपने यजमानों को प्रसाद रूप में देकर उनसे भेंट लेते हैं। पर कच्चा होने से खाया नहीं जाता। लोग दाल का पानी और चावल तो खा जाते हैं, पर दाल छोड़ देते हैं। बहुत सा अन्न खराब होता है। ३ दिन तक स्वामीजी तथा उनके साथी इसी प्रकार ही निर्वाह करते रहे। यह भी आपके चित्त में आया कि रावल जी को कहा जाय कि ऐसा न किया करें कि जिससे यात्रियों को अश्रद्धा हो। रावल की प्रथा स्वामी शंकराचार्य्यजी ने शुरू की थी। यह नियम है कि दक्षिणी ब्राह्मण ही इस पदवी पर नियुक्त किया जाता है। बड़े रावल के होते ही, एक छोटा भी नियुक्त कर दिया जाता है। राजा गढ़वाल इसके लिये जिम्मेदार हैं, पर वह भी त्रावनकोर के राजा की सहायता से ही योग्य पुरुष तलाश करते हैं। यहाँ जो छोटा रावल था, उसको महाराजा त्रावनकोर

ने यही राय दी थी कि कुछ काल अच्छे योगी-महात्माओं के दर्शन करने चाहिये और उनके सत्संग में रहना चाहिये। इसलिये छोटे रावलजी अवसर प्राप्त कर खूब सत्संग करते रहे।

इन दिनों में श्री स्वामीजी बड़े प्रातः मूर्ति के दर्शनों को जाते जबकि पुजारी लोग उसके वस्त्र उतारकर उसको स्नान कराते थे। ऐसी अवस्था में बद्रीनारायण के दर्शन करने से आपका चित्त प्रसन्न होता था। इस मन्दिर में तो आपका चित्त अधिक शान्त रहता, पर बद्रीनाथपुरी में वैसा नहीं रहा। स्थान-स्थान के वायु-मण्डल को आप बड़ी सूक्ष्मता से अपने चित्त पर उसके अच्छे-बुरे प्रभाव के कारण झट जान जाते थे।

पुनः आप गंगा-पार काली कमली वाले के आश्रम में साधुओं के दर्शनों को गये। वहां एक ब्रह्मचारी श्रीमद्भागवत की कथा करते थे। प्रेमवश कथा कहते-कहते रो दिया करते थे। उनके प्रेम की स्वामीजी बड़ी प्रशंसा करते थे।

पं० योगेश्वरप्रसाद की राय से कल्पेश्वर में रहने का निश्चय हुआ। उसका वर्णन सुनने से ही चित्त प्रसन्न होता था। रावलजी ने भी कहा कि यदि बद्रीनारायण ही रहने का विचार हो, तो वहीं कुटी बनवा दी जायें। पर कल्पेश्वर के लिये चित्त अधिक था, इसलिये वहीं ठहरने का निश्चय करके वापस चल दिये।

वापसी पर रावल के आदमी जोशी-मठ तक पहुँचा गए। यहाँ किसी ने संस्कार डाले कि कल्पेश्वर के मकान वर्षा के कारण बह गये हैं। इसका पता करने के लिये आप जोशी-मठ में रुक गये। हिलांग के एक दूकानदार से पत्र द्वारा पूछा। तारकानन्दजी भी वहाँ से पता लेने के लिये भेजे गये। यहाँ ही बद्री के पुजारी मिल गये जिनके नाम योगेश्वरप्रसाद जी ने

चिट्ठी दी थी। उनसे पता चला कि मकान वहां अभी तक ठीक है। तब आप जोशी मठ से नीचे उतरे। हिलांग से धर्मचन्दजी तो वापस मुलतान लौट गये। नारायणदासजी को भी वापस जाने का कहा; पर वह हठ से साथ-साथ कल्पेश्वर जाने लगे। रास्ता में जब उन्हें लहू के दस्त होने लगे, तो फिर अपनी अवस्था बिगड़ती देख वापस घर को चले गये। महाराजजी, स्वामी नारायणहरिजी, स्वामी तारकानन्दजी और एक अन्य ब्रह्मचारी के साथ कल्पेश्वर पहुँचे।

इस स्थान का वर्णन आप इस प्रकार लिखते हैं:—' यह स्थान घने जंगल में है, संगम पर है, इसलिये सर्दी बहुत पड़ती है। निर्जन है, बस्ती से एक मील की दूरी पर है।' केदारखण्ड ग्रन्थ में यह पंचकेदारी में गिना जाता है। यहाँ उर्व ऋषि ने तप किया था। इसी नाम से एक मील पर उरगम ग्राम भी है। यहाँ गुरुदेव अपने तीन शिष्यों सहित जून के मध्य में पहुँचे। वर्षा शुरू हो चुकी थी। पहले पहल तो स्थान को कूट-पीट कर ठीक कर दिया। धर्मशाला के ऊपरले-हिस्से में ठहरे, शीघ्र ही आस-पास से ५-६ मास के लिये लकड़ी इकट्ठी कर ली गई। ग्राम से दुकानदार, खान-पान का सामान भेज देता था। कभी-कभी भिक्षा भी कर लेते। कल्पेश्वर में शिवजी का मन्दिर था। आदि बद्री में जानेवाले कभी–कभी कोई यात्री यहाँ आकर भण्डारा करते, तो उसमें भी अनुकूलता के अनुसार शामिल हो जाते। थोड़े दिन पीछे प्रह्लादपुरी (मुलतान) के महन्तबाबा बजरंगदासजी भी आ गये। जम्मू से एक सज्जन जिनका एक हाथ टूटा हुआ था, यहाँ पर सत्संग करने आये, थोड़े दिन रहकर चले गये। यहाँ पिस्सू बहुत थे, जिससे शारीरिक कष्ट काफ़ी रहता था। दो, तीन रात तो नींद न आती,

फिर एक रात आ जाती । इतना होते हुए भी चित्त बड़ा प्रसन्न रहता । ध्यान-भजन में मन खूब लगा करता था । विना परि-श्रम ही वृत्ति शीघ्र आत्माकार हो जाती थी । यह तो दूसरों का हाल था, पर महाराजजी को जो आनन्द होता हो, वह विना उन जैसा निर्मल चित्त प्राप्त किये के समझ में ही नहीं आ सकता । वहाँ रहते हुए, दोपहर को प्रति दिन शिव पुराण की कथा होती थी । योग सम्बन्धी अनेक बातों का निरूपण देख आप बड़े प्रसन्न हुआ करते । पर यह सब बातें प्रायः अलंकृत भाषा में हुआ करती थीं, जिसका समझना साधारण पुरुष के लिये दुष्कर है । गुरुदेव तो अपने अनुभव के आधार पर ही उन सबका अर्थ समझाया करते थे । इस पुराण को देखने से यह सब पर प्रकट हो गया, कि पुराणों में भी ऐसा बहुत ज्ञान है, जो अलंकारों के कारण समझ में कम आता है ।

देहात के लोग कहते थे कि कल्पेश्वर में ऊपर, शिव मंदिर में, रात्रि को शिव के गण आकर ऊधम मचाते हैं । पुजारी तो रोज़ ग्राम को लौट जाया करते थे । एक दिन श्री स्वामीजी वहाँ देखने के लिये गये । दियासलाई, मोम-बत्ती साथ ले गये कि कहीं भ्रम न हो जाये । यहाँ आप श्रद्धा और अन्वेषण बुद्धि को एक साथ प्रयोग में ला रहे थे । रात को वहीं रहे । वर्षा के कारण मंदिर चूता था, इसलिये वहाँ नींद तो नहीं आई, पर शेष कुछ बात का बोध नहीं हुआ । यह गाथा भी ऐसे ही चली हुई है ।

दाल तो यहाँ गला नहीं करती थी । जंगल से वनस्पति तथा साग ढूँढ़ लेते । बथुवा, चौलाई, लिंगड़ा इत्यादि साग मिल जाते थे । पीछे कद्दू भी मिल जाया करता । फलों का मौसम आ गया था । अखरोट, खुरमाणी, सेब, अंजीर, नासपाती,

आलूचे आदि अनेक फल जंगल से प्राप्त हो जाते। फलों के कुछ पेड़ ग्रामवालों ने सेवा-भाव से उधर ही लगा रक्खे थे। भिक्षा के अन्न आदि से आपका चित्त बहुत प्रसन्न रहता था। तीन मास तक आप बड़े आनन्द पूर्वक रहे। सर्दी तो बरसात में भी विशेष रहा करती थी। लकड़ी रात को भी जलती रहती। १६) रु० का एक बहुत भारी कम्बल लिया गया, जो सबके ऊपर डाल दिया जाता था और नीचे दूसरे कपड़े रहा करते। २८ सितम्बर १६२५ को आप सब वहाँ से चल दिये। हिलांग से होते हुए जोशी मठ पहुँचे। यहाँ से ही नीती स्टेट (तिब्बत) को रास्ता जाता है, और भविष्य बद्री का रास्ता भी यहीं से फूटता है। आप अब भविष्य बद्री को जा रहे थे। जोशी मठ के रामलाल (शिलाजीत के व्यापारी) ने उधर के एक ग्राम के चौधरी के नाम चिट्ठी दी। वहाँ दुकान तो नहीं थी, इसीलिये इन्हीं से सहायता लेने का विचार था। रास्ते में आप तपोवन होते हुए उसी ग्राम में पहुँचे। यहाँ, चौधरीजी ने रात भर के रहन-सहन, अथवा खान-पान का प्रबन्ध कर दिया। प्रातः उन्होंने एक आदमी साथ दिया और उसे कह दिया—"आपको भविष्य बद्री के दर्शन कराके, शाम को वापस लौटा लाना।" रास्ते में भिक्षा करते हुए वहाँ दोपहर को पहुँचे। स्नान करके, भोजन बनाया गया। स्थान बड़ा रमणीक था। शीत भी बहुत थी। यहाँ पर कई एक शीतल अथवा गर्म जल के चश्मे थे, पर नदी कोई नहीं थी। समीप ही बर्फ़ानी पहाड़ थे। जो मूर्ति वहाँ बन रही थी, उसको आपने बड़े ग़ौर से देखा, कुछ-कुछ चिन्ह दिखाई देते थे। वहाँ धर्मशाला कोई नहीं थी। यात्री भी यहाँ बहुत कम आते हैं। जो आते हैं, वह उसी दिन लौट जाते हैं। लौटते समय रास्ते में अँधेरा हो गया। जंगल भी घना था।

रास्ता बड़ा विकट था। चढ़ाई-उतराई में बड़ा कष्ट हुआ। खैर, शाम को अँधेरा पड़ने के थोड़ी देर बाद आप वापस पहुँच गये। ग्रामवालों ने दूध-चाय का प्रबन्ध कर दिया। यहाँ भी रात्रि को शीत बड़ी थी। जैसे-तैसे करके रात काटी। प्रात:काल वहाँ से चलकर उसी दिन ही जोशी मठ लौट आये। यहाँ एक दिन आराम करके फिर दूसरी बार बद्रीनारायण गये। अब यात्रियों की भीड़ भी कम थी। वहाँ ३ दिन रावलजी के मेहमान रहे उसके बाद खाने-पीने और रहने का स्वतन्त्र प्रबन्ध कर लिया। यहाँ से वसुधारा गये। वहाँ जल की एक बड़ी धारा पड़ती थी। वर्फ़ के ऊपर से गुज़रकर जाना पड़ता था। यहाँ ही स्नान कर भोजन पाया। फिर सायंकाल को वापस लौट आये।

स्वामीजी बड़ी प्रसन्नता से श्री बद्रीनारायणजी के दर्शन किया करते थे। चरणामृत पीते और आरती के समय भी वहीं रहते। वैसे तो घंटों ही मन्दिर में बैठे रहते। सन्त तो सब प्रतिमाओं में साक्षात प्रभु को देखते हैं। स्थान पवित्र होने के कारण आपका चित्त प्रसन्न रहता था। अबकी बार बड़े रावल का देहान्त हो चुका था, छोटे रावल गद्दी पर बैठ चुके थे। उन्होंने बड़ी भक्ति से महाराजजी को वहीं रहने के लिये आग्रह किया। आगामी वर्ष आकर रहने के लिये भी कहा। पर स्वामीजी ने तो जैसा कि उनका स्वभाव ही था, न कोई वचन दिया, और न वहाँ रहे ही। शीघ्र ही लौट पड़े। जोशी-मठ होते हुए हिलांग पहुँचे। यहाँ बजरंगदासजी को आज्ञा मिली कि कल्पेश्वर में सर्दी भर रहें, वहीं रहकर चान्द्रायण व्रत भी करने को कहा। आज्ञानुसार वह वहाँ रहकर तप करने लगे। एक कम्बल भी महाराजजी ने उसे दे दिया, और

उचित उपदेश दे नीचे उतरे। धीरे-धीरे पड़ाव पूरे करते-करते श्रीनगर आये । पं० तारादत्तजी पौड़ी से वहाँ आये हुए थे। वह हर आदित्यवार को पौड़ी से श्रीनगर आया करते थे। यहाँ आप २-३ रोज़ रहे, फिर कुली ले कर देवप्रयाग को चले गये । पं० तारादत्तजी सत्संग के बड़े इच्छुक थे । उन्होंने आगामी वर्ष आने के लिये बहुत आग्रह किया। यहाँ से चल-कर स्वामीजी देव प्रयाग पहुँचे। वहाँ पर एक दुकानदार द्वारा ऋषिकेश तक के कुली का प्रबन्ध कर नीचे उतरे। रास्ते में एक बन्दर चट्टी आती है, वहाँ बड़ी वर्षा हुई। इससे वहाँ एक रोज़ रुक जाना पड़ा । दो रोज़ स्वर्गाश्रम में ठहरे । फिर श्री महाराजजी सीधे कनखल पहुँचे और कुछ रोज़ वहीं ठहर गये।

इन्हीं दिनों में कृष्णकुमारजी भी यहाँ आपके दर्शनों को आये। उनकी स्त्री का देहान्त हो चुका था। पहले तो बन्धन से छुटकारा पाने पर प्रभु का धन्यवाद दिया । पर फिर एक मित्र ने संस्कार डाल दिया कि यदि कोई बड़ी सुशीला अथवा साध्वी स्त्री मिले तो वह मोक्ष-साधन में सहायक होगी। इसी मोह में भटक रहे थे। यहाँ दर्शन करने आये, तब दो दिन के सत्संग से फिर कुछ विचार स्थिर हो गये । गुरुकुल काँगड़ी के भक्त भी वहाँ कुछ दिन तक सत्संग से लाभ उठाते रहे।

यहाँ से स्वामीजी नवम्बर के पहले सप्ताह में जालन्धर पहुँचे। जालन्धर में स्वामीजी महाराज साधुसिंहजी के पास ठहरे। एक अलग मकान में स्वामी नारायणहरिजी रहे। पीछे से स्वामी विशुद्धानन्दजी अपने शिष्य स्वामी ईशानन्दजी के साथ दर्शनों को आए। नन्दलालजी भी लाहौर से सत्संग करने के लिये पहुँचे । १५ दिन तक रहकर, जालन्धर अथवा कपूर-थला के सत्संगियों को कृतार्थ करते रहे । फिर मुलतान से

सरदार जेसासिंहजी आपको लेने के लिये आ गये थे, अतः स्वामीजी शीघ्र ही उनके साथ नवम्बर के अन्त में मुलतान पहुँच गये।

इक्कीसवां प्रकरण

भूत-बाधा

मुलतान में पहले तो आप श्मशानभूमि वाली सड़क पर एक मकान में रहे। आस-पास मिट्टी बहुत थी, इससे घूमने में दिक्कत पड़ती थी। श्मशान से कभी-कभी शव के जलने की दुर्गन्ध भी आती थी। वैसे यह मकान था भी छोटा। इससे यही विचार हुआ कि भाई तोलाराम कोड़ारामवाली सराय में चले जायें। बड़े दिन की छुट्टियों में पं० ज्योतिप्रकाश वकील और लाला जयगोपाल बजाज़, जम्मू से सत्संग करने आये। तब आप यहाँ से शीघ्र ही उसी सराय में चले गये। वह लोग १० दिन रह कर उपदेश लेते रहे। एक दिन ज्योतिप्रकाशजी ने रात को वेदान्त के सम्बन्ध में कुछ बात-चीत चलाई। प्रश्न-उत्तर होते-होते प्रातःकाल चार बज गये। इस प्रकार स्वामीजी शिष्य की हित-कामना को लक्ष्य में रख अपने स्वास्थ्य का भी कुछ ख़याल नहीं करते थे। उधर जयगोपालजी पूजा-तर्पण में बहुत श्रद्धा रखते थे। उनके साथी वेदान्त के प्रभाव में इस कर्मकाण्ड की हँसी उड़ाते थे। इन्होंने स्वामीजी से पूछा कि 'मैं क्या करूं ?' महाराजजी ने समझाया, "अब जब तुम आन्तरिक साधन करते हो तो पूजा आदि की ज़रूरत नहीं। ध्यान-जाप

पूजा से श्रेष्ठ है। यदि उनको छोड़ दो, तो कोई हानि नहीं। बहुत चित्त करे, तो थोड़ा सा कर लिया करो।"

स्वामी सोमतीर्थजी और स्वामी विशुद्धानन्दजी भी यहाँ आकर सत्संग करते रहे। ब्रह्मचारी त्रिलोकनाथ चेतन भी गुरु-सेवा में रहकर साधन में लगे रहे। इस वर्ष भी सबके भोजन आदि का प्रबन्ध पं० शिवरामदासजी की ओर से हुआ करता था। सब सामग्री वहीं पहुँचाते। महाराजजी और स्वामी नारायणहरिजी का भोजन प्रो० सदानन्दजी के घर से आया करता था।

स्वामी विशुद्धानन्दजी के भजन में कुछ समय से विघ्न पड़ता था। उनको ऐसा निश्चय हुआ कि कोई दूसरा व्यक्ति उनके भजन में बाधा डालता है। फिर किसी प्रकार उनको ऐसा विचार हुआ कि पिछले जन्म का कोई साथी भूत बनकर कष्ट देता है जिसके साथ उन्होंने पिछले जन्म में कुछ बुराई की थी। उसके निवारणार्थ कुछ दिन प्रायश्चित्त भी किया। महाराजजी ने सब सत्संगियों को भूत के सम्बन्ध में कह दिया कि, 'ऐसी भी बाधायें आती हैं।' इस पर कुछ आर्य्य समाजी बिगड़े। दो साधु और एक गृहस्थ स्वामीजी से आकर वाद-विवाद करने लगे। कुछ बुरा-भला भी कहा। महाराजजी शांति पूर्वक सब सुनते रहे। फिर यही कहा:—"विशुद्धानन्दजी आर्य-समाजी हैं, विद्वान भी हैं, उनका अनुभव है, सो उन्हीं से जाकर पूछ लीजिये।"

इस बार भी स्त्रियाँ बहुत आती रहीं। महाराजजी का चित्त उनसे हटता था। पर फिर भी ऐसा प्रतीत होता, कि मानों कोई जबरदस्ती उनकी सेवा में उन्हें लगा रहा है। ऐसी ईश्वरीय प्रेरणा के अधीन होकर ही वह सब कार्य करते रहे। इस बार धर्मचन्दजी फिर पास रहकर सत्संग से लाभ उठाने लगे। उनकी

दृढ़ता से प्रभावित हो उनकी धर्मपत्नी भी इधर प्रेरित हुईं। महाराजजी ने पति-आज्ञा पर ज़ोर दिया। 'जब तक सासु-सुसर की सेवा अथवा पति की प्रसन्नता नहीं प्राप्त की, तब तक शेष साधन का अधिकार नहीं।' वह देवी भी शीघ्र बदलने लगी और धीरे-धीरे सहायक बन गई।

जब तक काम के आवेश में संसारी जीव बुरी तरह फँसकर कष्ट सहते रहते हैं, तब तक स्त्रियों का उपदेशार्थ महात्माओं के पास आना-जाना साधारण लोगों की बुद्धि में खटकता है। कई एक तो स्वार्थवश भी वृथा दोषारोपण करने लगते हैं। पर जहाँ दामन पाक है, वहाँ घबराहट नहीं हो सकती। महाराजजी तो ईश्वर-आज्ञा मान सब निन्दा-अपमान सहर्ष सहते रहते थे। जब बहुत स्त्रियां आने लगीं, तो कुछ कड़ाई भी करने लगे। ऐसा भी आदेश किया कि 'जो देवियाँ साधन तथा उपदेश में आयें, वह चक्की चलाया करें। खाली समय में चरख़ा चलायें। आहार-व्यवहार को शुद्ध करें।' यह भी विचार था कि परिश्रम छोड़ने से देवियाँ प्रायः रुग्ण रहती हैं और अनेक व्यसनों में फँस जाती हैं। इस प्रकार से जहां उनको सत्संग का अवसर देते, वहाँ उनके जीवन को ढालने में भी भरसक यत्न करते।

पं० ज्येष्ठानन्द और पं० सदानन्दजी भी दो वर्ष से सत्संग कर रहे थे। इस वर्ष कुछ साधन में लगे। मा० कल्याणदेव, डाक्टर राजाराम, प्रो० दौलतराम आदि अनेक सज्जन दर्शन करने आये। प्रो० दौलतरामजी तो साधन में भी प्रवृत्त हुए। हरीरामजी भी रियासी से श्रीचरणों में बैठने को आए। चार-पांच वर्ष तो मूर्खता अथवा अज्ञान में लोगों की सुनी-सुनाई बातों में विश्वास करके महाराजजी के सामने अथवा पीछे पेट भरकर निन्दा करते रहे। पर महाराजजी तो सर्वदा उदार-भाव से उनको समझाते ही रहते

थे। धीरे-धीरे सब भेद खुल गया। पश्चात्ताप किया, क्षमा माँगी और जीवन सुधारने के लिये आश्रय की याचना की। यहाँ तो कोई द्वेष था नहीं ; सेवा में रखकर भजन-साधन में लगा दिया। उस असीम अनुग्रह के लिये वे बड़े कृतज्ञ हैं, और तब से बड़े त्याग-भाव से जीवन-सुधार में लग गये।

कालेज और स्कूल के कई विद्यार्थी भी सत्संग में आते थे। उनको आप यही उपदेश देते कि "खर्च कम किया करो, माता-पिता से लड़ाई-झगड़ा करना अनुचित है। उनकी सेवा में लगे रहना ही श्रेयस्कर है। तुम्हारे अधिक खर्च के कारण तुम्हारे पिता छल-कपट करके अधिक रुपया कमाते हैं। इस पाप के तुम भी भागी होगे। बहुत मीठा, चटपटा न खाया करो। सादगी से जीवन व्यतीत करने में बहुत लाभ है।" स्वामी नित्यानन्दजी पिछले साल कल्पेश्वर आए थे, उस समय स्वामीजी ने उनको अनुकूल ऋतु न होने के कारण लौटा दिया था। वे अब फिर सेवा में आए, यहाँ रहकर उन्होंने क्रियाओं आदि का अभ्यास किया। साधन में भी लगाये गये। आपने उन्हें बड़े कड़े नियम में रक्खा, जिससे शीघ्र कुछ अनुभव होने लगे। एक वृद्ध महात्मा भी आए थे। वे पहले भी मिल चुके थे। श्रीनगर में सर्व प्रथम उन्होंने स्वामीजी के दर्शन किये थे। यहाँ महाराजजी उन्हें अपनी निगरानी में रखकर साधन कराते रहे।

इस वर्ष शिवरामदासजी ने जाते समय सब साधुओं को रेल का किराया दिया ; और भी जो कुछ सेवा हुई, वे बड़ी श्रद्धा से पूरी करते रहे।

इस बार आप यथार्थ बोध पर अधिक जोर देते थे, और कहते थे कि "यम-नियम पालन करने से ही चित्त शुद्ध होता है, और फिर ठीक-ठीक ज्ञान होने लगता है। उसी से ही राग-

मोह की जड़ कटती है। सत्य और ब्रह्मचर्य्य मुख्य हैं। इनके अनुष्ठान से ही कल्याण का मार्ग सूझता है, और उसमें दृढ़ता होती है। इसी प्रकार से नाम की इच्छा भी महा दुःख का कारण है। जब कोई प्रशंसा करे, तो उसमें मस्त न हो जाओ, पर सचेत होकर यही सोचो कि यह अपना मतलब निकालने के लिये ही ऐसा कर रहा है। मोह में पड़ कष्ट बढ़ाना कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। निन्दा से भी घबराना नहीं चाहिये। "यदि हम में दोष है, तो उसने हमको सूचना देकर कृतार्थ किया है, नहीं है, तो आगे के लिये चेतावनी कर दी है।" एक दिन वीर-भानजी दर्शनों को आये। उनके पुत्र नहीं था। वह इसी विचार से आये थे कि स्वामीजी महाराज से याचना करके ऐसा आशीर्वाद प्राप्त करें कि पुत्र कामना पूरी हो जाय। जब सब सत्संग में बैठे, तो स्वामीजी ने यही प्रसंग चलाया "लोग साधुओं के पास पुत्र माँगने के लिये आते हैं। भला, हमारे पास पुत्र कहाँ से आये, रोटी के लिये तो दूसरों के पराधीन हैं; यदि ऐसा सामर्थ्य हो तो फिर मारे-मारे क्यों फिरते रहें? पुत्र प्राप्त करने के लिये तो शास्त्र-अनुसार पुत्रेष्टी यज्ञ आदि उपाय करने चाहिये।" वह बेचारा हैरान था। उसको पहले से ही चेतावनी मिल गई, वह अपनी इच्छा को अन्दर ही रखकर चला गया। फिर अपने साथियों से कहने लगा, "महाराजजी तो पहले से ही हमारे हृदयों को भाँप जाते हैं।"

एक दिन जब भोजन करने लगे तो चित्त प्रसन्न न हुआ। भक्त से पता चला कि घर में कुछ कलह था, उसी अवस्था में रहकर भोजन तय्यार किया गया है। तब स्वामीजी ने समझाया कि, ऐसा नहीं करना चाहिये। हृदय शान्त कर के ही काम करना चाहिये, नहीं तो दूसरों को हानि होती है; इससे

पुण्य की अपेक्षा पाप के ही भागी बनोगे।" महाराजजी का चित्त बड़ा सूक्ष्म था, इसीसे सब बातें अनुभव के आधार पर जान जाते थे।

कृष्णकुमारजी के पिता का देहांत हो गया था। वह घर से लौटे और स्वामीजी के चरणों में ३ दिन रहकर, मोह-शांति का उपदेश ग्रहण करते रहे। इस आपत्ति से कुछ नई उलझनें तो पड़ गईं; पर अभी तक तो यही विचार था कि स्वतन्त्रता से ही जीवन निर्वाह कर कल्याण के पुरुषार्थ में लगे रहें।

एक दिन सेठ प्रभुदयालजी दर्शनों को आये। वे पूछने लगे कि "मैं तो अच्छा काम करता हूँ, क्योंकि इससे बहुत लोगों को लाभ होता है, अनेकों की पालना होती है, बड़ा परोपकार होता है।" स्वामीजी ने कहा "यह झूठ है। यदि दो-चार दिन कारखाना बन्द कर दो, तो पता चलेगा कि किसके लाभ के लिये काम होता है। परोपकार तो निष्कामता से होता है। यह धारणा बड़ी ऊँची है, अभी उसको समझना भी बड़ा कठिन है; उस पर चलना तो बड़ा ही दुष्कर है। जब तक संसार में राग है, तब तक ऐसा कार्य होना सम्भव नहीं।"

इस प्रकार कई दिन तक पुराने अथवा नये सत्संगियों को अपने अमृत रूपी पावन उपदेशों से तृप्त करते रहे। शरीर की परवाह न करते हुए, जितना समय होता साधकों अथवा सत्संगियों को देते रहे। इस वर्ष अनेक साधकों को भजनोपदेश दिया। एक बड़ा कमरा इसी काम के लिये रख छोड़ा। वहीं साधन बताया करते। कभी पास बैठकर सहायता देते रहते, कभी युक्ति बताछोड़ देते, वे अपने आपही साधन करते रहते। उस स्थान का वायु-मण्डल ऐसा हो गया था कि वहाँ बैठ जाने से साधक का चित्त ऐसा शांत होता कि वैसा घर में नहीं हुआ करता था।

यह महाराजजी के पवित्र हृदय का प्रभाव था।

आपने १६ फ़रवरी को प्रातः काल सूचना दी कि आज हम चले जायेंगे। दो रोज़ पहले नारायणहरिजी को भी तय्यार रहने के लिये आगाह कर दिया था। दोपहर को बहुत देवियां और पुरुष स्टेशन पर छोड़ने गये। यहां से चल आप जालन्धर उतरे। साधुसिंहजी के यहां एक सप्ताह रहे। पीछे से स्वामी सोमतीर्थजी, स्वामी विशुद्धानन्दजी और ब्रह्मचारी त्रिलोकनाथ चैतन्यजी भी पहुँच गये। यह सब लोग अलग मकान में ठहराये गये, और इनका भोजन ला० कर्मचन्दजी के यहां बनता था। प्रो० लालचन्दजी भी यहाँ दर्शनों को आये। सत्संग प्राप्त कर लौट गये। यही विचार कर गये कि गरमी की छु[ट्टि]यों में, स्वामीजी के पास पहुँच कर बद्रीनारायण की यात्रा भी करेंगे और सत्संग भी।

स्वामीजी तो सब संसार को दुःख का कारण समझते थे। आपका मन कभी किसी वस्तु में अटका ही नहीं। सारा व्यवहार नाटक वृत्ति से करते रहते थे। एक दिन एक संन्यासी आपसे कुछ ईश्वर सम्बन्धी चर्चा कर रहे थे। उसी समय एक गृहस्थी वहां आये, और अपना कुछ दुखड़ा रोते रहे। फिर स्वामीजी उससे भी वैसी बातें करते रहे। यहां तो किसी में राग था नहीं, जब सब कुछ गड़बड़ है, तो फिर कोई बात बुरी कैसे लगती। गृहस्थी के साथ भी वैसी ही गम्भीरता से बातें करते रहे जैसा कि पहले कर रहे थे। महाराजजी तो ईश्वर-विवाद को भी निरर्थक ही कहा करते थे। आपका यही विचार था कि विषय-वासना तमाम करना ही परम आवश्यक है, शेष सब झगड़े आप ही मिट जाते हैं। जब वह सज्जन चले गये, तो वह साधू कहने लगे कि "लोग महात्माओं के

पास आकर भी वृथा बातें करते रहते हैं और अपना अथवा दूसरों का समय योंही नष्ट करते हैं।" स्वामीजी महाराज हँस पड़े और कहा, "अपनी बात को कोई वृथा नहीं समझता, दूसरे की बातें ही फ़ज़ूल जँचती हैं; वास्तव में है सब ही गड़बड़।"

बाईसवां प्रकरण

निष्काम उपदेश

२६ फ़रवरी को आप कलकत्ता मेल से जालन्धर छोड़कर रात को एक बजे नजीबाबाद पहुँचे। रात भर वहीं ठहरे। प्रातः ६ बजे वहाँ से चल ७ बजे कोटद्वार पहुँच गये। यहाँ से चाय आदि पी शीघ्रही लारी द्वारा दोगड्डा को चले गये। यह स्थान कोटद्वार से १० मील ही है। यहाँ पर अन्य स्थान न मिलने के कारण एक हिन्दू होटल में ठहरे। मिर्चों का भोजन मिला। रुका हुआ जुकाम जारी हो गया। यहाँ दो-एक दिन रहे, होली भी यहीं की। फिर यहाँ से दूसरी मार्च १६२६ को चल दिये। १२ मील तक खूब चढ़ाई थी। सामान के लिये खच्चर था। शरीर कमज़ोर होने के कारण उसी पर चढ़ भी लेते। रास्ते में वर्षा हुई; शीत अधिक लग गई। फिर एक धुवाँ से भरे मकान में रात को ठहरना पड़ा। जुकाम ने सब ओर से सहायता प्राप्त कर ख़ूब आनन्द दिखाया। यह सब होते हुए आपने धीरे-धीरे सफ़र जारी रक्खा। ६ मार्च को पौड़ी पहुँच गये। यहाँ पं० तारादत्तजी, आपको उसी दिन सायंकाल के समय, ४ मील के

फ़ासले पर, अपने ग्राम कफ़लसैन को ले गये। पहले तो आप तीसरी मन्ज़ल पर ठहराये गये, पर वहाँ शीत अधिक होने के कारण जुकाम और भी बढ़ गया। फिर नीचे की मंज़ल में उतर आये। वर्षा होने से मकान कुछ चूता था। कपड़े तो मुलतान से प्रो० सदानन्द जी ने पहले ही काफ़ी बनवा दिये थे, यहाँ से भी बहुत मिल गये; पर जुकाम बिगड़ता ही गया। फिर बिलकुल नीचे आकर रहने लगे। आस-पास पहाड़ों पर बर्फ़ पड़ी थी। इधर जब सब कुछ करते हुए भी जुकाम बढ़ता गया, तो तारादत्त जी ने डाक्टर बुला लाने को कहा। अब स्वामीजी ने स्वतन्त्र होकर इस जुकाम को ठीक करने का निश्चय कर लिया। धोती कर, मूंग की दाल का पीना शुरू किया। जुकाम तो बन्द हो गया, पर दोपहर पीछे जाड़ा देकर बुख़ार आने लगा। यह सोच कि वात के विकार से कहीं गठिया न हो जाय, मूंग का पानी छोड़ दिया। त्रिकुटे की चाय पीने लगे। शीघ्र ही बुख़ार भी दूर हो गया और जुकाम भी कष्ट देने से रुक गया। यहाँ पर आप २६ मार्च तक रहे।

रायबहादुर पं० तारादत्तजी, बड़े साधु स्वभाव के पुरुष हैं। आप वकील होते हुए भी बड़े संतोष से रहते हैं। जितनी फ़ीस कोइ दे देते हैं, उतने में उसका काम कर देते हैं, पर यत्न पूरा करते ह। पहले तो पूरी खोज करते हैं, यदि पता लगे कि झूठा मामला है, तो उसको नहीं लेते; पर पीछे से जैसा कुछ हो निपटाना पड़ता है। खान-पान, पहरान भी आपका बड़ा सादा है। प्रातः खाना खाकर पौड़ी चले जाते हैं। सारा दिन वहीं रह अपना कार्य्य करते रहते हैं, सायंकाल को लौटकर घर आ जाते हैं। खेती; ज़िमींदारी अथवा शेष सब सेवा का काम उन की धर्मपत्नी बड़ी चतुरता अथवा दक्षता से निबाहती हैं। घर में

भी देवरानियों आदि से बड़े प्रेम से रहती हुई, पं० जी की सेवा चाव से करती रहती हैं ।

वर्फ़ानी पहाड़ सामने थे । इससे शीत बड़ी थी । मुलतान से आप रुद्रनाथ की तय्यारी कर आये थे । गरम मोजे भी साथ लाये थे। स्वामी नारायणहरिजी ने मोजे पहन लिये । महा-राजजी ने देखकर कहा, " यह सामान तो वरफ़ानी स्थान के लिये था । यदि तुम यहाँ ही सर्दी नहीं सह सकते तो वहाँ क्या करोगे । अच्छा तुम नीचे रह जाना, मैं ही अकेला वहाँ जाऊँगा । ऐसा उपदेश सुन वे भी सर्दी सहन करने लगे, मोजे उतार दिये, इससे उनकी सहन-शक्ति बढ़ गई । स्वामीजी बड़ी शैली से दूसरे का हित करते थे । इस बार जुकाम में बहुत कष्ट हुआ, इसका कारण कुछ और भी था । महाराजजी एक पत्र में, स्वयम्, पौड़ी से लिखते हैं, " इस दफ़ा का नज़ला कुछ भयानक रूप में था । मुलतान में मुझे पहाड़ आने का भय तो होता था, जिससे मैंने साधकों को नहीं रोका था, कि शायद शरीर का पहाड़ में क्या हो जाये, तब इनकी वजह से, यदि कोई कष्ट हो तो सह लेना ठीक है । जालन्धर में भी, दूर-दूर से लोग आते रहते थे, इसलिये आराम नहीं मिलता था, जब तक कि रेल गाड़ी में कोटद्वार के लिये नहीं बैठ गया था । परन्तु इस overwork (कार्य्याधिक्य) का असर शरीर पर काफ़ी पड़ गया था, यही कारण है कि नज़ले की शकल में भोगना पड़ा । शरीर काफ़ी कमज़ोर हो गया है, परन्तु अब आराम ही आराम है, इसलिये ठीक हो जायगा । कल और था, आज और है ।" मार्च २२ को ऐसी अवस्था थी । शीघ्र ही यहाँ से जाने का विचार था । अपने सेवक के जीवन में कुछ कमज़ोरी आ रही थी, उसको चेतावनी देते हुए, अपने भीतरी

भावों को किस नम्रता और शील से प्रकट करते हैं । जब मैं एकान्त में होता हूँ, तब इस जीवन को निरर्थक समझते हुए यही चित्त में आता रहता है कि प्रभु की गोद में बैठकर शरीर छोड़ दूँ । परन्तु तीव्र वेग नहीं होता । पीछे यह ख़याल आ जाता है, जब तक शरीर ने रहना है, तब तक तो रहे ही गा, इसलिये लोगों की पहुँच में रहूँ, जो अधिकारी होंगे फ़ायदा उठा लेंगे । यह कश-मकश कई साल से चल रही है और इसी पर चलता हुआ कष्ट भी सहारता रहता हूँ । मालूम होता है यह तेरे अन्न का असर है, क्योंकि तू कष्ट सहार कर कमाता है, और मेरे को खिलाता है, इसलिये मुझे भी ऐसे ही सूझती है । इसमें शक नहीं कि तेरी ही शक्ति से मेरे ज़रिये से लोगों का जो कुछ होता है, सो होता है, वरना मुझ जैसे तुच्छ जीव में इतनी हिम्मत कहाँ है ? जब कभी तू सत्य के ग्रहण तथा धर्म से खिसकेगा, तभी मैं भी ढीला पड़ जाऊँगा । इसलिये तुझे चितावनी देता रहता हूँ कि यदि तुझे यह मँज़ूर है कि मुझसे काम कराये, तब विचार-विवेक पर कमर-बसता खड़ा रहे, इसमें तेरा भी कल्याण है, और लोगों का भी । तू आप ही बुद्धिमान है ।" जहाँ सेवक को सुपथ पर दृढ़ रहने का उत्साह दिलाते हैं, वहाँ अपना भला कार्य्य भी उसके कन्धों पर डाल उसकी ज़िम्मेदारी को और भी बढ़ा देते हैं, मानो दास के बल से प्रभु कार्य्य करते हैं । महाराज तो अनेक युक्तियों से भक्तों की भलाई में तत्पर रहा करते थे । २६ मार्च को पौड़ी से चल-कर श्रीनगर पहुँचे । शरीर कमज़ोर होने के कारण, पं० तारा-दत्तजी के घोड़े पर चढ़कर यह ८ मील का सफ़र तै किया था । उन्होंने अपना नौकर भी साथ दिया । यहाँ पर भी पण्डितजी की कोठी में ठहरे । यह स्थान शहर के बाहर, गंगा के किनारे

है। यह कोठी आपने बनवाई भी इसी लक्ष्य से थी, कि वहाँ वे रहकर, साधु-संगति अथवा प्रभु-भजन किया करेंगे। यहाँ पर हर शनिवार सायंकाल को पण्डितजी भी पौड़ी से आ जाया करते थे। आदित्यवार को वहीं रहकर सत्संग करते। समय तो बहुत नहीं मिला, इसलिये आप कुछ विशेष लाभ न उठा सके, फिर भी यथासम्भव प्रति सप्ताह सेवा में रहकर बहुत कुछ आनन्द अथवा स्फूर्ति प्राप्त करते रहे। जब वहीं रहते, तो भोजन आदि का प्रबन्ध वह स्वयं करते थे। अपने साथ नौकर को भी लाया करते। जाते समय प्रति बार २) रु० खर्च के लिये दे जाते। सब्जी तो उनके बगीचा से मिल जाया करती थी, वहाँ कुछ फल भी थे और जब आप पौड़ी से आते, तो भी काफ़ी साग और फल ले आते थे। बड़े भक्ति-भाव से सेवा में तत्पर रहे। काम आदि दोषों की निवृत्ति के उपाय पूछते रहते थे। बहुत दिन सत्संग किया। पौड़ी में तो, महाराजजी के अस्वस्थ होने अथवा अपने कारोबार में जुटे रहने के कारण से बहुत अवकाश न मिलता था, पर यहाँ श्रीनगर में साप्ताहिक दर्शनों को आते और श्रीचरणों में बैठ ज्ञान-ध्यान का प्रसाद पाते रहते थे।

श्रीनगर में भी कई ब्राह्मण, वहाँ के डाक्टर और एक जैनी सेठजी दर्शन करने आते और सत्संग में बैठकर तृप्त होते रहे। पहाड़ के लोगों में सन्तों से कुछ विशेष उपदेश लेने की इच्छा नहीं होती। वे तो यही इच्छा रखते हैं, कि साधुओं के दर्शन करें अथवा उनकी सेवा करें। सरल सीधे-सादे लोगों की भिक्षा भी निष्कामभाव से पूर्ण हुआ करती थी। इसीलिये शुद्ध अन्न का मिलना अधिक सुप्राप्य रहता था।

पं० तारादत्तजी की इच्छा थी कि महाराजजी आस-पास

के कुछ महात्माओं के दर्शन करके यह बतलायें कि कौन अच्छे हैं, ताकि पीछे भी वे उनके सत्संग से लाभ उठा सकें। ऐसे एक महात्मा गंगापार टीढ़ी रियासत में रहते थे। यह वैरागी थे। स्थान तो अच्छा था, कुटी के पास पानी बहता था, फलों के कुछ पेड़ भी थे, ग्राम भी कुछ दूरी पर था। पर उस कुटी को देख, वा उसमें ठहर कर महाराजजी का चित्त प्रसन्न नहीं हुआ। वहाँ से फिर लौट आये। उस वैरागी को भी पता चला तो एक दिन श्रीनगर में मिलने आये। बातों से पता लगा कि वह स्थान के लिये राजा की सहायता ले रहे थे। ग्राम वाले उनसे सन्तुष्ट नहीं थे। वह फलों को भी शहर में बेच देते थे। इससे वह ग्रामीण उनको निकालना चाहते थे। पर उन्होंने राजा को शिकायत कर वह भूमि और कुटिया अपने नाम कराली। स्वामीजी के पहले ही ऐसे भाव थे, पर अब निश्चय हो गया "कि वे साधू नहीं, गृहस्थी हैं जो स्थान आदि के लिये ऐसा झगड़ा कर रहे हैं।" ऐसा ही आपने पं० तारादत्तजी से भी कह दिया।

जब आप देश में थे तो बा० अयोध्याप्रसाद की इच्छा थी कि वृन्दावन होते जायें। पर एक तो इधर आने की जल्दी थी, दूसरे सामान लिये हुए फिरने से तकलीफ का भी विचार था। जब स्वामीजी ने अपनी सूचना भेजी, तो स्वामी तारकानन्दजी को भी पता चला। यह भला इस सुअवसर को कैसे हाथ से जाने देते ? शीघ्र ही चल पड़े। वे ३० अप्रैल को यहां पहुँच गये। आपको जैनी मन्दिर में ठहराया गया।

मुलतान निवासी टेकचन्दजी देहली से जालन्धर दर्शन करने गये थे। उनका चित्त बड़ा उदास था। यही चाहते थे कि श्रीसेवा में रहकर जीवन को उच्च करें। छुट्टी नहीं लाये थे। तार

द्वारा छुट्टी तो मिल गई, पर रुपया न पा सके। वहाँ से ऋण लेने का विचार था, पर गुरुजी ने यही आज्ञा दी कि ऐसा अधीर होना उचित नहीं। जालन्धर से तो देहली लौट गये। पीछे प्रवन्ध करके, महाराजजी के श्रीनगर पहुँचते ही वे वहाँ आ गये। एक मास से सत्संग कर रहे थे। शरीर शुद्धि करके भजन करते रहे। अब उनका विचार था कि साथ-साथ चलकर वद्रीनारायण के दर्शन करें।

नजला के जोर से, दांतों पर असर पड़ता ही है। नजला तो वार-वार दिखाई देता रहता था। दाँत भी कुछ समय से कष्ट दे रहे थे। दो दाँत तो कटरा में एक नाई से उखड़वा डाले थे। १६२५ में जालन्धर रहते हुए एक दाढ़ निकलवा डाली थी। यहाँ पौड़ी में जब नजले का आक्रमण हुआ, तो साथ ही दाढ़ में भी दर्द होता रहा। नजला कम होने पर दर्द कुछ वना ही रहा। अपनी शारीरिक अथवा मानसिक अवस्था की सूचना देते हुए आप प्रो० सदानन्दजी को लिखते हैं—"जब हम श्रीनगर आये और नजला शांत भी था, तब भी दाढ़ ने अपना रंग नहीं वदला था, इस लिये शफ़ाखाना जाकर उखड़वा दी। कुछ हिलती तो थी, परन्तु फिर भी मुश्किल से उभड़ी, और खून वहुत आया। इसके जख़म की वजह से रोटी खा न सकने से तीन दिन तक खिचड़ी ही खाना पड़ी, तब फिर से नजला और खाँसी शुरू हो गये। पुनः धोती करके तीन दिन तक जुलाव लिया, जिससे शरीर काफ़ी कमजोर हो गया। वाद को वादाम की दूधी विना दूध के साथ खाना शुरू किया और रोटी भी, तव फिर कुछ ताक़त आने लगी। शरीर तो variable quantity (परिवर्तन-शील) है जिसकी degree of variation uncertain, (परिवर्तन की मात्रा अनिश्चित) है। जो कुछ हो।

यात्रा तो होगी ही इसने काम अच्छा कर दिया है, आगे को इसका विशेष ख़याल रखने की कोशिश करूंगा। फिर भी इसका भोग ही प्रधान रहेगा। यह जो दूसरों के दुःख को देख कर दुखी होना और उसको दूर करने के लिये प्रयत्नवान होना है, यह सिद्ध करता है कि इस जन्म में परम मुक्ति न होगी। फिर भी जो कुछ होगी दुःख से रहित ही होगी। आगे प्रभुजी आपही सम्भाल लेंगे। आप लोगों का आशीर्वाद चाहिये।" निरभिमानता की भी हद हो गई। जो चित्त की निर्मलता सन्तों का स्वाभाविक गुण होता है, उसको भी त्रुटि मानकर परम मुक्ति में ही शङ्का उठा रहे ह। फिर भी अपने चित्त को भली प्रकार जानते हुए, आनन्दपूर्ण अथवा दुख-रहित अवस्था को तो प्राप्त करने का निश्चय दिलाते हैं। जो पूर्ण निष्कामता से ईश्वरी आज्ञा अनुसार सब प्रकार के कष्ट सह कर प्राणियों के हित में लगे, भला वह क्यों फिर संसार-चक्कर में पड़ेंगे? और यदि प्रभू अपने भक्तों के हृदय में ऐसी करुणा का सागर न उभारते, तो दूसरों को मार्ग सुझाने वाला कौन हो सकता है? पर इतने की भी चाह नहीं। परम शांति के लिये अधीर हो रहे हैं। शरीर कमज़ोर होते हुए भी यात्रा का विचार तो दृढ़ था। मुलतान से ही ऐसी धारणा को लेकर चले थे। अपने सेवक को अपने भावों से सूचित करते हैं:—"इस साल चलने से पेश्तर मैं नये अभ्यासियों को पुराने के सुपुर्द कर आया था, जिससे पीछे का ख़याल न रहे। इस लिये कठिन यात्रा में जाने से चित्त निश्चिन्त है। यह सब ईश्वर की अनुग्रह तथा तुम सबके आशीर्वाद का नतीजा है, वरना इस तुच्छ जीव में इतनी हिम्मत कहाँ है?" ईश्वर परायणता अथवा स्वाभाविक विनीत भाव को सन्त कभी नहीं छोड़ते।

यहाँ रहते हुए १३ एप्रिल को, दूसरे स्थान पर भी एक

महात्माजी को देखने गये, कि जिसका वर्णन आप एक सत्संगी को ऐसा करते हैं :— "कल चार मील पर एक महात्माजी के दर्शन करने गये थे। पं० तारादत्तजी उनकी बहुत स्तुति करते थे। नग्न रहते हैं, एक गुफ़ा में रहते हैं, जोकि बद्रीनाथ के रास्ते में, श्रीनगर से ४ मील पर सुकृता नाम की चट्टी के पास है। विचारवान भी हैं, आयु भी ज्यादह है, परन्तु शरीर से (आयु का) पता नहीं लगता। पहाड़ तथा मैदान में सफ़र भी बहुत किया हुआ है, परन्तु इतना गहरा विचार फिर भी नहीं है, जितना कि तुमको है। ख़ैर फिर भी आज-कल के दिनों में साधुओं में ऐसे कम मिलते हैं। एक मौनी बाबा हैं, वे विद्वान् भी हैं और त्याग में भी अच्छे हैं। वे मेरी बात को भी समझते थे और मेरे से सहमत थे। वह हर साल बद्रीनाथ की यात्रा को जाया करते हैं। उस वक्त वे भी वहाँ पर मौजूद थे। अब वे श्रीनगर से धीरे-धीरे ऊपर को जा रहे हैं। यात्रा क्या है, कालक्षेप करते रहते हैं। वे भी वृद्ध हैं।" यहाँ ज़ुकाम का कुछ आराम रहा, पर फिर दाँत में कुछ कष्ट रहने लगा। अपनी शारीरिक अवस्था की सूचना, २८ एप्रिल को अपने एक परम सेवक को इस प्रकार देते हैं :—"५, ७ दिन हुए, एक और दाँत श्रीनगर के अर्पण करना पड़ा। परन्तु उस से ख़ून बहुत नहीं निकला। अब तुम्हारे आशीर्वाद से दो body-gaurd, (शरीर-रक्षक) तो हैं ही, वे बेचारे हर वक्त पंगु का ख़्याल रखते हैं, परन्तु भोग फिर भी भोगना ही पड़ता है। शरीर को देखकर उदासी होती है, इसका रखना बेगार प्रतीत होती है। परन्तु प्रभु कैसे इसकी रक्षा का प्रबन्ध रखते हैं, इससे हैरानी आती है। यह तुम्हारे संकल्प का प्रभाव है। अब चित्त अधिक उत्साहित है। शरीर में

बल भी बढ़ रहा है, और चलता-फिरता भी हूँ, चार या पाँच दिन में कूच करना चाहते हैं। जाने के ख़याल से ख़ुशी होती है, आगे जैसा भोग होगा, भोगते रहेंगे। यह एक विचित्र बात है कि विशेष लाभ की प्रतीति न होते हुए भी कठिनाइयाँ झेलने से चित्त नहीं घबराता। यह भोग की प्रबलता नहीं है तो और क्या कह सकते हैं? *अच्छा यार हमारा-तुम्हारा कुछ* संयोग था, इसलिये हमारे पीछे तुमको भी कष्ट उठाना ही पड़ता है। बदनामी भी सहारनी पड़ती है। तुम उपकारी जीव हो, इसलिये लोक संग्रह के लिये सब कुछ सहारते हो, तुम्हारे पीछे, तुम्हारे बल से मैं भी तुम्हारी दुम पकड़कर घसीटता चला जाता हूँ। अभी तो मन ठीक है, आगे की ईश्वर जाने। ···
··· इस लिये अब अन्त में चरण-वंदना कर समाप्त करता हूँ। जो कुछ करना हो मृत्यु से पहले ही कर लेना चाहिये। इसलिये यह पत्र लिखकर निश्चिन्त होकर आगे जाऊँगा।" फिर आप एक सत्संगी को भारत देश के निष्काम महात्माओं का महत्व जतलाते हुए लिखते हैं, "पं० तारादत्तजी को उनके किसी मित्र ने एक Type (टाइप) की हुई किताब दी है, जिसमें २४ उपदेश हैं, और प्रत्येक उपदेश के लिये छः सफ़े लिखे गये हैं, उसकी क़ीमत एक सौ रुपया है। Copy-right reserved (सर्व अधिकार स्वाधीन) हैं। एक हफ़्ते बाद एक उपदेश क़ीमत से भेजा जाता है। तारादत्तजी की समझ में बहुत जगह नहीं आई। जब मुझसे कई बार कहा, तब मैंने भी दो दिन में उसका पाठ किया, परन्तु नतीजा यह निकला कि author (लेखक) ने यहाँ के अभ्यास के ग्रन्थों से तथा उपनिषदों से चुराकर अपने ढँग से लिखा है, और बाईबल (Bible) से पुष्ट करना चाहा है। जो बात उसने पहले उपदेश में

लिखी है, वही वार-बार नये ढंग से प्रत्येक में (repeat) दुहराई है। सौ रुपया क़ीमत सुन सिवाय ठगी के कुछ सार नहीं निकलता।" आज-कल अँगरेज़ी पढ़े लोगों में साधु-संगति का महत्व कम होता जाता है। पुस्तकें पढ़ने से तथा ऐसे ही अनेक विदेशी अथवा देशी ठगी के स्थानों से आत्म-कल्याण की कामना रखते हैं। अच्छे महात्मा हैं भी कम, पर यह भी दुर्गुण अवश्य है कि जब किसी अच्छे संत के दर्शन हो भी जाते हैं, तो मुफ़्त उपदेश प्राप्त कर उसकी परवाह भी कम करते हैं। जैसा रंग साधु के समीप रहने से चढ़ता है, जैसा वह मन की चालों को पकड़ कर उसको ठीक करने का उत्साह दिलाते हैं, वैसा किताबें पढ़ने से कम होता है। पुस्तकों के ज्ञान से भी लाभ उठाना ऐसे ही महापुरुप बताते हैं। गीता को अनेक नर-नारी पढ़ते हैं, पर जितना मोह व भीरुता हमारे देश में है, उतना और कहीं नहीं। शरीर अथवा संसार को मिथ्या मान लेने से कल्याण नहीं हो सकता। आत्मा को अमर कह देने से क्या लाभ? उसके उपदेश से तभी लाभ होता है जब जीवन में कुछ परिवर्तन हो। ऐसा परिवर्तन करने का उत्साह महात्मा बुद्ध, संत कबीर अथवा स्वामी सियाराम जैसे व्यक्तियों के सत्संग अथवा उपदेशों से हो सकता है। सत्संग की महिमा अपार है। पुस्तकों अथवा ऐसे written directions (लिखित आदेशों) से भी लाभ होता है, पर जीवन तो किसी सिद्ध मास्टर गुरु के चरणों में बैठकर ही सुधर सकता है। इसलिये ऐसे अवसरों की उपेक्षा करना प्राणी की मूढ़ता नहीं तो क्या है। यह उसका दुर्भाग्य है कि अवसर पाकर भी खो देता है, पीछे हाथ मींजता रहता है।

तेईसवां प्रकरण

सीतलता

यहाँ से ६ मई को चलकर धीरे-धीरे चमोली पहुँचे। रास्ते में एक चट्टी पर कुली के प्रबन्ध करने में कुछ कष्ट हुआ। पटवारी द्वारा ही ऐसा इन्तिज़ाम होता है। पटवारी की सुस्ती को देखकर स्वामी नारायणहरिजी ज़रा जोश में आ गये। जोश में आकर कहने लगे, "तुम लोग पब्लिक को वृथा कष्ट देते हो, बड़ी बुरी तरह पेश आते हो, यदि कोई अफ़सर हो, तो बड़ी दीनता से उनकी सब प्रकार से नौकरी बजाते पर साधारण लोगों के वास्ते कुली रहते हुए भी तुम इनकार कर देते हो।" इस पर पटवारी भी कुछ शोख हो गया। फिर पं० तारादत्तजी की चिट्ठी की सहायता से कुली मिल गये। रहने का स्थान भी मिल गया। स्वामीजी ने भी यह सब सुना। बाद में नारायणहरिजी को समझाया, "साधु को किसी से ऐसा बरताव नहीं करना चाहिये। जब भिक्षुक बने, तो नम्रता से काम करना चाहिये। कोई तुम्हारे नौकर तो नहीं। मृदु वाणी से कहा, जो हुआ, तो अच्छा, नहीं तो संतोष से सब सहारना चाहिये। टुकड़ा माँगकर तो पेट पालते हो, पर हुकूमत करना चाहते हो। सूधेपन में ही साधुता है।" इस प्रकार मुमुक्षु के हित के लिये, उसकी त्रुटि को देख उचित ताड़ना भी करते थे। यह विचार तो था ही नहीं कि सेवक रुष्ट होकर चला जायेगा। जो उनकी सेवा में रहा, वह अपने लाभ के लिये रहा, इससे आप निःसंकोच उसको शासित कर सुधार का रास्ता सुझाते। शिष्य तो गुरु-कष्ट को विचार कर के ऐसा करता था, पर गुरु देव ने फिर भी शिष्य के भले पर दृष्टि

रक्खी, उसकी मंगल-कामना की ही। यहाँ से आप दूसरे दिन चल पड़े।

एक और चट्टी में पहुँचे, तो महाराजजी सीधे एक एजेंसी के मकान में चले गये। आप कोई आडम्बर तो रखते नहीं थे। पटवारी ने समझा कि कोई गँवार है। वह कहने लगा कि "यहाँ क्यों आए हो, नीचे चलो।" महाराजजी ने कहा, 'भाई, यात्री हैं, थके हैं, ज़रा बैठने दो।' फिर उसने कहा, "यह स्थान तुम्हारे जैसे आदमियों के लिये नहीं है। नीचे किसी दुकान में जा ठहरो, चलो उठो।" महाराजजी चुपचाप सुनते रहे।

खुंदन तो धरती सहे, बाढ़ सहे बनराय।
कुशब्द तो हरिजन सहे, दूजे सहा न जाय॥

जब बहुत गड़बड़ करने लगा तो नारायणहरिजी ने कहा, "भाई हमारे कुली भी एजेंसी के हैं, हमको भी यहीं ठहरना होगा। हमारे पास चिट्ठी भी है।" चिट्ठी तो महाराजजी के पास ही थी। फिर भी दिखाई नहीं। मनुष्य के नाते ही उससे कहते रहे। फिर नारायणहरिजी के कहने पर, आपने हँस-हँस कर चिट्ठी दिखाई, तब पटवारी साहब बड़ी सभ्यता से बोलने लगे। चारपाई दी, कमरा दिया, क्षमा माँगी। 'भूल हो गई।' महाराजजी ने फिर धीरे से कहा, "चारपाई की ज़रूरत नहीं, ऐसे ही बैठने में आराम है। इसीसे ही हम संतुष्ट हैं।" आज जो सिर मुंडवा लेता है, अपने आप को क्या नहीं समझता? कुम्भ पर साधुओं के झगड़े तो आम बात हैं। गृहस्थियों को घूरना अथवा श्राप की धमकी देनेवाले कम नहीं, पर यहाँ तो 'मैं' मर चुकी थी। 'आपा' ही नहीं रहा, तो किसी को क्या कहें।

एक दूसरी चट्टी पर तारकानन्दजी से कुछ भूल हो गई। दूकानदार बिगड़ पड़ा। बढ़कर गाली देने लगा। क्षमा भी माँगी,

पैसा भी देने को कहा, पर फिर भी बुरा ही कहता गया। महाराजजी सब सुनते रहे, मानो कोई सम्बन्ध ही नहीं।

सीतलता तब जानिये, समता रहे समाय।
पत्त छांड़ै, निपेत्त रहे, शब्द न दुष्या जाय॥

समता भाव से देखकर तटस्थ बने रहे। रास्ते में एक अन्य साधु के दर्शन को भी गये। इनका नाम वा पता पं० तारादत्तजी ने बताया था। कुली को तीन मील आगे, एजेंसी में, सामान ले जाकर रहने को कह दिया। एक रात्रि का सामान साथ रख, आप तीनों साथियों को ले गंगा पर गये। दो-ढाई मील की दूरी पर, ग्राम से पौन मील पर, जंगल में, वे महात्मा रहा करते थे। उनका शरीर उड़ीसा का था। वैकुण्ठी बाबा करके पुकारे जाते थे। अवस्था वृद्ध थी। बालक सम, स्वभाव के सरल थे। एक छोटी कुटिया में परालो डाल रहा करते थे। वैष्णव वैरागी थे, गाँववालों से रसद लेकर भोजन खुद बनाते थे। जाते ही उन्होंने कहा, 'जाओ, यहाँ क्यों आये हो।' 'दर्शनों को आये हैं।' 'अच्छा, अब दर्शन हो गयें, चले जाओ। 'यहीं रहेंगे, सत्संग करेंगे।' 'सत्संग नहीं होता, गाँव में जाकर रहो।' महाराजजी तो डट गये थे और कहा, "हम तो कहीं नहीं जायेंगे, यहाँ ही मैदान में पड़े रहेंगे।" जब उन्होंने देखा कि यह पीछा नहीं छोड़ेंगे, तो पास की कुटी में रहने को कहा। लकड़ी, साग आदि से सहायता की। हर प्रकार से आतिथ्य किया। शेष सब बातें करते, पर जब परमार्थ अथवा ईश्वर सम्बन्धी बातें चलतीं तो टाल देते, या बेतुकी बातें कर देते। प्रातःकाल महाराजजी उसकी कुटी पर गये, तो वह बैठे थे, महाराजजी भी जाकर बैठ गये। कुछ बात तो नहीं की, पर इतना ही कहा, "हम कुछ नहीं जानते, ईश्वर का भजन करना चाहिये।" फिर आपने

चलते समय आलू का साग, १) रु०, कुछ इलाइची उनकी भेंट कीं, जो बड़े निवेदन के पश्चात उन्होंने स्वीकार किया। महाराजजी ने कहा, "वैरागी साधुओं को विचार तो कम होता है, इतना भी बहुत है कि त्याग से रहते हैं। दर्शन से चित्त प्रसन्न होता है। कई महात्माओं में तो कुटी का राग ही बढ़ जाता है, बगीचा लगा लेते हैं, फिर झगड़ा बढ़ने लगता है, यह तो बड़े संतोष से प्रभु-भक्ति में रहते हैं। स्वामी तारकानन्दजी और टेकचन्दजी को उसी रास्ते जाने की आज्ञा दी और कहा, 'एजेंसी से कुली व सामान लेकर अगले पड़ाव पर चलो हम इसी रास्ते, गंगा के इधर ही वहाँ से पहुँच जायँगे। इधर से जाते-जाते, महाराजजी को कई दस्त भी हो गये। पेट ख़ाली होने से शरीर कमज़ोर हो गया, पर फिर भी दृढ़ता से चलते रहे। एक दो वार आपने अपने साथी से कहा भी, 'तुम चलो. मैं पीछे आ जाऊँगा।' पर यह आपको अकेले छोड़ कैसे जा सकते थे? धीरे-धीरे चलते हुए १० मील का सफ़र चार वजे समाप्त हुआ। उधर तारकानन्दजी ने भोजन तो वना रक्खा था, वह भी चकित थे कि इतनी देर क्यों हुई। इतना कष्ट अथवा कमज़ोरी होते हुए भी इच्छा के इतने धनी थे कि सब कष्ट सह कर भी डटे रहते। रात्रि को वहाँ आराम किया, हरड़ आदि के प्रयोग से पेट ठीक हो गया। प्रातःकाल भक्तों ने आपसे कहा भी, कि 'कोई सवारी का वन्दोवस्त कर दिया जाय।' पर आपने न माना और कहा, "अब तो शरीर ठीक है, रात्रि भर आराम भी कर लिया है, कुछ ज़रूरत नहीं प्रतीत होती।"

रास्ते में जहां-जहां संगम आते थे, वहाँ ज़रूर ठहरते। प्रातःकाल वहाँ संगम पर बैठकर भजन करते। फिर कहते, "जो ग्रन्थों में लिखा है, कि संगम पर बैठकर बड़ी स्थिति होती

है, वह ठीक है।" रुद्रप्रयाग, करणप्रयाग, और नन्दप्रयाग सब स्थानों में ऐसा ही करते रहे। इस प्रकार चलते हुए चमोली पहुँचे। वहाँ काली कमली वाले की धर्मशाला में डेरा लगाया। पिछले वर्ष जब इधर आये थे, तो कुछ सामान यहाँ एक चौधरी के पास छोड़े गये थे, वह सब वैसा ही मिल गया।

महाराजजी अब यहाँ कुछ रुक गये। टेकचन्दजी की छुट्टी कम रह गई, अतः वे भी घर जाना चाहते थे। गुरुजी ने समझाया कि 'हमको तो अभी देर है, तुम किसी संग से वद्रीनाथ हो आओ।' ऐसा ही हुआ। वह शीघ्रही अन्य यात्रियों के साथ वद्रीनाथ को चले गये।

इनके जाने के बाद स्वामीजी का शरीर फिर विगड़ गया। भूख वन्द हो गई, नज़ले ने भी ज़ोर किया। जुलाब लेते रहे। अपनी अवस्था का वर्णन (इस प्रकार) २४-५-२६ के पत्र में अपने सेवक को देते हैं। "चमोली पहुँचने पर मेरी क्षुधा वन्द हो गई, जैसे मुलतान में हो गई थी और थोड़ा सा भी खाने से चित्त घबराता था। तब मैंने जुलाब लेना शुरू किया और दस दिन तक जारी रक्खा। इस बीच में नज़ला तेज़ और निराले ढँग का हो गया, परन्तु जुलाब जारी रक्खा। अभी तक थोड़े अंश में जारी रहेगा। जुकाम तो हट गया है, अब कुछ भूख भी लगने लगी है। शरीर काफ़ी कृश हो गया है। कल रुद्रनाथजी की यात्रा आरम्भ होगी, आगे जैसा प्रभु को मंजूर होगा होता रहेगा। जिस जिस काम के लिये इच्छा तीव्र है, वह यदि शरीर अधिक न गड़बड़ाया, तो हो ही जायगा। जो दुख भोगना है, वह भी भोगना ही पड़ेगा, इस लिये ईश्वर भरोसे पर चल रहे हैं। शरीर बच जायेगा तब आराम करता रहेगा।" इस प्रकार से आप शरीर को एक भिन्न वस्तु समझते थे। केवल शुभ कामना को

पूर्ण करने के लिये आप बड़ी तितिक्षा से तप करते हुए रुद्रनाथ जा रहे थे।

यहाँ पर रहते हुए बजरंगदासजी को कल्पेश्वर से बुला लिया था। वे पारसाल से वहीं रहकर आज्ञानुसार तप में लगे हुए थे। जब वे आ गए, तो चमोली से, शीघ्र रुद्रनाथजी की यात्रा को चल दिये। शरीर की तो परवाह थी ही नहीं, तप की भावना तो पूरी होनी चाहिये। टेकचन्दजी भी इस समय तक लौट आये थे। वे तो घर लौट गये, पर महाराजजी एक कुली का प्रबन्ध कर, थोड़े वस्त्र इत्यादि लेकर आगे को चल दिये। चढ़ाई का रास्ता था, उसी दिन गोपेश्वर पहुँच गये।

गोपेश्वर से रुद्रनाथ का प्रबन्ध करना था। यहाँ से पहले तुंगनाथ जाने का विचार हुआ। स्वामी तारकानन्दजी तो पहले वहां हो आ चुके थे। इसलिये उनको तो यहीं ठहरने की आज्ञा हुई। आप, दोनों सेवकों को साथ ले, तुंगनाथ को चले। तीन-चार रोज की यात्रा थी। आखिरी चट्टी से बड़ी चढ़ाई का रास्ता था। पहले भी जब काँगड़ी से माताजी के साथ आये थे, तो लोगों के कहने पर ऊपर नहीं गये थे। गृहस्थी जाते भी कम हैं। बड़ी कठिन चढ़ाई चढ़कर बरफ़ानी पहाड़ी पर पहुँचे। यहाँ शिवजी का मन्दिर भी था। सारा दिन वहीं रहकर सायं-काल को लौट आये। वहाँ के पुजारी भी रात को शीत के कारण वहाँ नहीं ठहरते, नीचे ही चले आते हैं। यहाँ से वापस हुए। गोपेश्वर से उधर ही एक चट्टी है, जहाँ से रास्ता रुद्रनाथ को जाता है। लोगों ने यहीं से जाने को कहा। स्वामी तारकानन्दजी को सूचना दे दी। पर वह बीमार हो गये थे। सामान भेज दिया, और कहला भेजा कि 'मैं रुद्रनाथ नहीं जाऊंगा, आप जब वापस आ जायेंगे तो आपके साथ चलूंगा।'

यहाँ आपने भिक्षा से कुछ गेहूँ एकत्र कर उसका आटा बनवा लिया था। फिर दूसरे दिन तारकानन्दजी भी आ गये। उनको दिलासा दे, ३ दिन उन्हीं के लिये ठहर गये। यहाँ पर फ़ौजी सूबेदार बहादुरसिंह से बहुत सहायता मिली। वे बर्मा से छुट्टी पर आये हुए थे। भक्त आदमी थे। वहाँ से कुली वैसे तो नहीं जाते, पर ऐसा किसी ने कहा था कि बहादुरसिंहजी की सहायता से शायद मिल जायें। पास ही उनका गाँव था। स्वामी नारायणहरिजी उनके घर गये। उन्होंने सब प्रबन्ध कर दिया, और कुछ फल लेकर दर्शन करने भी आए। वे कहने लगे, "वहाँ इस वर्ष बरफ़ बहुत पड़ी है, आपका शरीर भी कमजोर है, वहां रहना कठिन है, दर्शन करके लौट आना ठीक रहेगा, इतने भोजन का भार आप क्यों ले जा रहे हैं।" महाराजजी ने कहा, "यदि न रह सके तो वापस लौट आयेंगे, पर अभी चित्त में उत्साह बहुत है, देखें कैसा होता है।"

यहाँ से कुली साथ ले, महाराजजी साथियों समेत चल पड़े। चढ़ाई का रास्ता था। जंगल में से जाना पड़ा। केवल पगडंडी थी, सीध रखकर यात्रा करनी पड़ती थी। १४ मील का रास्ता था। दो दिन रास्ते में व्यतीत हुए। पहले दिन तो रास्ता में वर्षा भी होती रही, पर छाते के सहारे चलते ही रहे। रात्रि को एक पहाड़ की आड़ में ठहरे। वहीं रोटी बनाई। नमक और घी के साथ सबने खाई। कुलियों ने एक पेड़ को आग लगा दी जिससे सर्दी से भी रक्षा हुई और जंगली हिंसक पशुओं से भी बचाव हुआ। प्रातःकाल कुली कहने लगे कि "रास्ता बड़ा विकट है, रोटी खाकर चलना चाहिये।" फिर रोटी बनी, इन्होंने तो अभ्यास न होने से थोड़ी ही खाई, शेष सब कुली उड़ा गये। तब वहाँ से चले। ३-४ मील रुद्रनाथ से

इधर ही एक वरफ़ानी पहाड़ को पार करना था । महाराजजी तो सबसे वृद्ध अथवा कमज़ोर होते हुए भी आगे ही रहा करते। उतराई में नारायणहरिजी का पैर फिसल पड़ा, वे वरफ़ पर लुढ़कने लगे । तारकानन्दजी ने अपना डंडा गाड़कर उनको अधिक लुढ़कने से रोक दिया । तव वे भी सहारा पा, उठ खड़े हुए । इधर वजरंगदास अभी पीछे थे । यह उनकी प्रतीक्षा करने लगे । इतने में पहाड़ी अपनी भेड़ों को ले आये । यदि वे जान-वरों को सर्द स्थान में न ले जायें, तो वह सब मरजायें । उनके निकलने से वरफ़ पर रास्ता वन गया था, उस पर आराम से चलते गये । कहीं वरफ़, कहीं सूखा ऐसे ही रास्ते से चलते रहे। कुछ आगे जाकर महाराजजी गिर पड़े पर सम्हल कर फिर चलने लगे । शायद भूखे होने से, आपके पेट में ज़ोर का दर्द हुआ, अमृतधारा के प्रयोग से कुछ आराम हो गया । तव कुछ देर वाद, नारायणहरिजी और वजरंगदासजी भी आ गये । पहाड़ियों के कहने पर जूते उतार कर रुद्रनाथजी को चले । कोई यात्री जूता पहनकर आगे नहीं जाते । शाम को वहाँ पहुँचे । वहाँ शिवजी का मन्दिर था और पुजारी की कुटी भी थी और एक दूसरी कुटी भी फूस की वनी थी । उसके अन्दर एक तीसरी कुटी थी, पर थी वह टूटी हुई । आगे वाली कुटी में ही सब लोग रहने लगे ।

चौवीसवां प्रकरण

कठिन तप

रुद्रनाथ आते ही पुजारी ने डराया कि "यहाँ एक वार एक अँगरेज़ हठ से जूता पहन कर आया था, पीछे उसको भयानक कष्ट हो गया था।" महाराजजी ने कहा, "जूते हम पहन तो नहीं आये, पर साथ वाँध लाये हैं, सो ऐसे ही पड़े रहेंगे।"

सायंकाल को रोटी वनाई और सो गये। प्रात:काल को वर्फ़ पर वैठकर शौच नहीं उतरता था। पैर इतने सुन्न हो जाते कि उधर ही ध्यान लगा रहता। महाराजजी ने मन्दिर के अन्दर जाकर शिवजी से प्रार्थना की। वापस आकर कहने लगे कि, "मैं आज्ञा ले आया हूँ। हम उनके वच्चे हैं, अव जूते के विना यहाँ रहना ही कठिन है, तो क्षमा करेंगे।" फिर आप सव जूते पहन कर ही रहते रहे। पुजारी को कुछ वुरा लगता था, पर उसने साधु जान अथवा इन सव की लाचारी और श्रद्धा को देख कुछ नहीं कहा।

वहाँ पर ऐसा नियम रहता था, कि प्रात: उठकर शौच आदि से निवृत्त हो ६ वजे तक सव ध्यान में लगे रहते। फिर रोटी और किसी वनस्पति का पहाड़ी साग वनाते। कभी-कभी दाल भी वनाते। दाल गलती नहीं थी। उसको रात भर भिगो देते, दिन को पकाते, कढ़ी सी वन जाती। दोपहर को आराम करके, तीन सत्संगी तो जंगल से लकड़ी लेने जाते। जाते-जाते वहाँ वेहोश से होने लगते। कुछ ऐसी मूर्छा करने वाली घास आस पास रहती थी कि मुश्किल से वापस लौटते। लकड़ी गीली होती, पर पड़ी-पड़ी सूख जाती थी। वर्षा तो

शुरू नहीं हुई थी; पर फिर भी कभी बरफ़ वा ओले पड़ ही जाते थे। फिर संध्या समय भजन करके रोटी बनती, नमक या मीठे से खा लेते। खान-पान की सब सामग्री बड़े संकोच से बर्तते कि बहुत दिन तक चलती रहे। भूख भी सहते। भजन में चित्त बहुत लगता। यही इच्छा होती कि बैठे ही रहें। बिना परिश्रम चित्त समाहित हो जाता था। महाराजजी प्रति दिन प्रातः समय मन्दिर में जाकर बैठे रहते। मूर्त्ति को स्नान कराते समय ही उसके दर्शन करने से आपका चित्त प्रसन्न होता था। तारकानन्दजी भी प्रायः रोज़ जाते थे। बजरंगदासजी भी कभी-कभी चले जाते। वहाँ कभी दूध चढ़ता, तो चाय में डालने के लिये दूध मिल जाता था। वैसे केवल पानी में ही चाय बना कर पुजारीजी रोज़ सबको पिलाते थे। पूर्णिमा को भेड़ोंवाले वहाँ दूध चढ़ाने आते थे। बड़ा गाढ़ा दूध होता था। खीर बनती और सब लोग प्रसाद लेते। पुजारीजी, कुछ दूध रख छोड़ते थे, जिससे कई दिन तक चाय में सहायता मिलती रहती। इस प्रकार आप सब बड़ी मस्ती से रहते रहे। यथा-नियम स्वामीजी एक दिन मन्दिर में गये तो प्रार्थना की "हे, रुद्रनाथजी, आपकी बड़ी कृपा हो, यदि हमने कोई कष्ट शेष भोगना हो तो आप अभी भुगता दें, फिर इसके लिये शरीर न लेना पड़े।" जब वहाँ से आये तो नारायणहरिजी लकड़ी जला रहे थे। लकड़ी मोटी होने के कारण जलती न थी। महाराजजी ने सोचा कि चीर दी जाय। पुजारी की कुल्हाड़ी लेकर लकड़ी फाड़ने लगे। पत्थर हिला, नीचे लुढ़क गये। रास्ता में एक पत्थर पर पैर अटक गया तो रुक गये। वहाँ से धीरे-धीरे उठकर अपने आप ही ऊपर आये। जब आप ऊपर पहुँचे तो तारकानन्दजी साग बाँट रहे थे, उन्होंने देखा तो मस्तक में चोटों

के निशान थे, पर आप हँस रहे थे। फिर आपने सुनाया कि किस प्रकार लुढ़के। नीचे तो बहुत गहरा था, यही विचार था कि अब शरीर नहीं बचेगा। द्रष्टा बन देखते गये। फिर यह भी बताया कि कैसे रुद्रनाथजी ने प्रत्यक्ष में ही फल दिया है। आप बड़े प्रसन्न थे कि अच्छा हुआ, यह भी भोग चुक गया। घी गरम कर हल्दी मिला लगाया गया। फिर ६-७ दिन दर्द भी रहा, पर चित्त में तो आनन्द ही था कि प्रभु ने प्रार्थना स्वीकार कर तुरन्त ही फल दिया है।

उस स्थान में रीछ और बड़े-बड़े लंगूर बहुत थे। दिन में बहुत दिखाई देते थे। शेर भी थे, रात को भेड़ें उठा ले जाते, शोर होता, कुत्ते भौंकते तो पता चलता कि शेर शिकार कर गया है।

थोड़े दिन में रसद का सामान चुकने लगा। पहले तो पुजारी का आसरा करते रहे, पर जब उधर से आशा न देखी तो बजरङ्गदासजी को वैराँगणा चट्टी को भेजा। वहाँ एक साधु-सेवी चौधरी बख़्तावरसिंह थे। उनका नाम सुना था, जानते नहीं थे। उनको पत्र लिख दिया कि "रसद भेजने की कृपा करें, दाम भी ले लेवें।"

उधर रोला तो पड़ गया था कि एक साधू रुद्रनाथजी में अनुष्ठान करने गये हैं। पहले भी कभी-कभी कोई बाबा सिद्धि के लिये तप करने की इच्छा से जाते, पर २-३ रोज़ में लौट आते। ४-५ दिन में बजरङ्गदासजी आटा, घी, मीठा आदि लेकर वहाँ वापस पहुँच गये। और साग तो था नहीं, चौधरी ने पियाज़ ही दे दिये थे।

इधर प्रो० सदानन्दजी को भी सारा हाल देते रहते थे। उसी आधार से नन्दलालजी भी वैराँगणा चट्टी पहुँचे। चौधरी बख़्तावरसिंह से सारा हाल मालूम कर लिया। वह भी कुछ

रसद का सामान ले यहाँ पहुँचे। यहाँ आकर उन्होंने सुनाया कि धर्मचन्द्जी और ला० कर्मचन्द के पिता वस्तीरामजी भी आने वाले हैं। प्रो० सदानन्द्जी भी आने का विचार कर रहे थे। तब महाराजजी का विचार हुआ कि नीचे चले जायें कहीं सब लोग आकर कष्ट न पावें। पुजारी ने यह भी संस्कार डाले थे कि वर्षा से पहिले ही चले जाना चाहिये, नहीं तो फिर ३ मास रुकना ही पड़ेगा।

नन्दलालजी के आने पर स्वामीजी ने बजरंगदासजी को तो कल्पेश्वर जाकर तप करने को भेज दिया; पर उनका चित्त ढीला था। चले तो गये, पर कोई दूसरा स्थान अनुकूल पाकर वहीं ठहर गये।

चौधरी बख़्तावरसिंह भी वहीं आये। पास ही अनुसूयाजी पर एक कुटी बनवा आये थे। महाराजजी से वहाँ चलकर रहने के लिये निवेदन करने लगे, इतना भी कहा कि, " महाराज, आप के निमित्त ही कुटी बनाई है, चरण ही छुआ आइये।" पर आप तो अब नीचे चले आने का विचार कर चुके थे।

पंचकेदारों में, केदारनाथ, तुंगनाथ, कल्पनाथ, रुद्रनाथ, और मध्य महेश्वर, पंच स्थान हैं। रुद्रनाथ की मूर्ति का भी विशेष महत्व कहते हैं। ऐसी कथा आती है कि पुरातनकाल में जब सुर और असुरों की लड़ाई हुई थी, तो सुर बड़े कष्ट में थे, उन्होंने शिवजी से प्रार्थना की, तो आपने यहाँ से ऐसी दृष्टि डाली कि सब असुर भस्म हो गये। वहाँ मन्दिर में एक दो हाथ ऊँचा लिंग है। उस लिंग के सामने ऐसे चिह्न बने हैं, मानो शिवजी टेढ़ी दृष्टि से देख रहे हैं। यहाँ ऐसा भी होता है कि जब-जब शिव मस्तक पर पानी की बूंदें दीखती हैं, वा पानी चूने लगता है, तो पहाड़ में नीचे बहुत वर्षा होती ह। जिनमें श्रद्धा है वह

ऐसा कहते हैं कि शिवजी को पसीना आता है।

स्वामी तारकानन्दजी और नन्दलालजी को आपने पहले भेज दिया ताकि दूसरों को रोक दें और कुली भी भेज दें। तब तक रसद भी चुक गई थी, फिर कुली आने पर महाराजजी और स्वामी नारायणहरिजी भी चल दिये। आपका चित्त तो नहीं था, पर जब सेवक नीचे प्रतीक्षा में थे, तो लाचार उतरना ही पड़ा। जब आप वैरांगणा पहुँचे तो वहाँ धर्मचन्दजी, बस्तीरामजी आदि भक्त मिल गये।

वैरांगणा में दो-तीन रोज़ ठहरे। बख़तावरसिंहजी ने एक दिन भंडारा किया। बड़े सत्कार से सबको खिलाया। महाराजजी भी उसमें शामिल हुए। आपकी आज्ञा लेकर ही वह अपनी भावना को पूर्ण कर तृप्त हुआ। इसके प्रथम भी नन्दलालजी द्वारा शहद-घी और आटा की मिठाई बनवाकर उन्होंने श्री सेवा में भेजी थी।

कई वर्षों से यहाँ कोई साधु इस प्रकार रह नहीं सका था। कठिन स्थान में तप करने को तो आप उत्कंठित रहा ही करते थे। किसी विशेष लक्ष्य को ध्यान में रखते ही नहीं थे। ऐसे स्थानों में रहने से चित्त में प्रसन्नता होती थी। तप क्या, काल-क्षेप करते थे। कष्ट सहना तो आपके आमोद-प्रमोद का साधन था। काम तो पूर्ण हो चुका था, अब तप में रह चित्त को प्रसन्न रखना था, अथवा भक्तों में तप की महिमा प्रकट करनी थी। मर्यादा दिखाने के निमित्त मानों सब कुछ कर रहे थे। यह भी जानते थे कि ऐसा करने से कुछ विशेष लाभ नहीं होता था, पर जितने दिन ऐसे स्थानों में रहते, चित्त प्रसन्न रहता और वृत्ति अपने आप ही आत्माकार रहा करती; जीवन-मुक्ति का आनन्द ले रहे थे।

पच्चीसवाँ प्रकरण

तपो-भूमि

यहाँ से यह सातों यात्री वद्रीनाथ को चले । बिना विघ्न से चलते हुए, बिना किसी कष्ट के वहाँ १० दिन में पहुँच गये। तीन दिन तक तो रावलजी के मेहमान रहे । फिर बाजार में एक पण्डे के मकान में आकर रहने लगे। साधु तो मधुकरी से निर्वाह करते, सायंकाल को बाजार से रोटी लेकर खाते, परन्तु अन्य साथी बाजार से ही खाना मोल लेते थे। यहाँ कशमीर से पं० स्वरूपकृष्ण अपने भाई को साथ ले पहुँचे थे। इनके भाई श्रीकृष्ण कशमीर में १९२४ में महाराजजी से मिले थे। एक महात्मा से कुछ प्राणायाम मार्ग के साधन में लगे थे। इधर अपनी बहन के पास रहते थे। बहनोई का रोजगार छूट जाने से, यह अपनी तनख्वाह बहन को खरच के लिये दे देते, पर इनको साधन के अनुकूल भोजन नहीं मिलता था । इनकी बहन भी महाराजजी के चरणों में बैठ अभ्यास में लगी थी। तब महाराजजी ने समझाया था कि श्रीकृष्ण के भोजन का विशेष ध्यान रक्खा जाय, नहीं तो हानि होने का भय है। पर संकट के कारण उधर कोई ध्यान नहीं दे सका। पीछे जब इनका दिमाग़ बिगड़ गया तो दवाई होने लगी, पागल-खाने में भी कुछ दिन रहे, पर कुछ न हुआ । फिर श्रीकृष्ण के कहने पर उनके बड़े भाई, जो उनसे पुत्रवंत प्यार करते थे, पता पूछते-पूछते उन्हें यहाँ लिवा लाये। महाराजजी से मिलने पर कुछ लाभ तो हुआ। स्वरूपकृष्णजी यह समझ कर कि अब भाई ठीक हो जायेगा, (छुट्टी भी समाप्त होने लगी थी) वापस लौट गये।

इन्हीं के साथ ही धर्मचन्दजी और नन्दलालजी भी लौटे ; अब अगस्त का मास था, वर्षा भी जोर से जारी थी ; यहाँ से १५-२० मील पर 'सत पन्थ' है। यह वह स्थान है कि जहाँ पर श्रीकृष्णजी के आज्ञा अनुसार पाण्डव तप करने आये थे। महाराजजी का विचार था कि वहाँ १० दिन रहेंगे। दो दिन का रास्ता था। रसद और कुछ खाने को लेकर दो कुलियों के साथ चले। पहला दिन तो अच्छा गुजर गया। दूसरे दिन कुछ देर से चले। बरफ़ानी रास्ता था। पहाड़ से नीचे उतरे तो अँधेरा हो गया। एक दूसरे को देख भी नहीं सकते थे, आवाज़ देकर चलते थे। नीचे भी कहीं बरफ़ गली थी, उसका भी बचाव करके चलना था। अँधेरे के कारण एक कुली और एक साथी भटक गये। कुछ पता न चला। पहला कुली रुकता भी न था। इसी कष्ट में थे कि थोड़ा उजाला हुआ, धीरे-धीरे प्रकाश हो गया। एक कुली तो वहाँ कुण्ड पर पहुँच चुका था, दूसरा कुली और साथी भी दूसरी तरफ़ नजर आने लगे।

उधर वर्षा भी शुरू हो गई थी, भीगते ही रहे। वहाँ जो गुफ़ा थी, वह सब चूती रहती थी। इसी प्रकार रात काटी। प्रातः कुण्ड में स्नान किया। जो पका भोजन साथ था, उसी को खा लौटने की ठानी। प्रभु का धन्यवाद किया कि पहली रात्रि ही वर्षा हो गई, तो लौट पड़े, नहीं तो पीछे कष्ट भी होता और कुली की सहायता बिना रास्ता मिलना मुशकिल हो जाता। दो दिन में वहाँ से लौट आये। अपने दो साथियों को पीछे बद्रीनाथ में छोड़ आये थे। वापस लौटकर पं० श्रीकृष्ण के पण्डे के मकान में ठहरे। भोजन बनाने का भी कुछ प्रबन्ध एक दुकानदार से किया। उससे रसद ले, दुकान के ऊपरवाली रसोई में भोजन बनाते रहे। इस प्रकार कुछ दिन निर्वाह होता रहा।

प्रो० लालचन्दजी भी काँगड़ी से आने वाले थे। महाराजजी ने रास्ते का पूरा हाल तो भेज ही दिया था। कुछ दिन पश्चात् एक बङ्गाली महाशय प्रो० विदुभूषणदत्त को साथ ले, पहुँच गये। एक दिन यह दोनों वसुधारा गये। वहाँ स्थान तथा पानी का झरना देखते रहे। इतने में अन्धेरा हो गया। लालचन्दजी यह सोचकर कि दत्तजी चले गये हैं, आवाजें देने के बाद लौट आये। यहाँ पर पता चला, कि वह नहीं आये। खाना खाकर, लैम्प ले, फिर, उनको तलाश करने चले। वहाँ पहुँच कर भी कुछ पता न चला। बहुत चिल्लाया, पर कोई उत्तर न मिला। लाचार वहीं बैठे-बैठे रात काटी। जाड़ा था, कभी ध्यान में रहते, कभी सुकड़ कर सो जाने का यत्न करते, कभी दण्ड पेल-कर गरमाई लाते। रात बीत गई, दिन निकल आया, पर दत्त बाबू न मिले। वापस लौट आये, तो यहाँ दत्तजी भी पहुँच चुके थे। एक दूसरे को देखकर बड़े चकित थे। दत्तजी ने तो पास एक साधू की कुटी में रात काटी थी। जब आपने अपना सब हाल महाराजजी को सुनाया, तो स्वामीजी ने कहा, "अच्छा हुआ, यह तपो-भूमि है, तुमने तप कर लिया है, इसी में ही लाभ है।"

महाराजजी सब सत्संगियों को प्रेम-पूर्वक निष्पक्षता से उचित उपदेश देकर सहायता करते रहे। गंगा पर एक मौनी बाबा भी आये हुये थे। बड़े तप से वहाँ रहते थे, कुछ कष्ट में भी थे, महाराजजी ने पता लगा कर उनकी सहायता की। ला० बस्तीरामजी की इच्छा थी कि चान्द्रायण व्रत करेंगे, इस विचार से उनको शीघ्र ही लौट जाने की आज्ञा हुई। दत्तजी तो कहीं और रहा करते थे। महाराजजी, स्वामी नारायणहरि, स्वामी तारकानन्द, प्रो० लालचन्द और पं० श्रीकृष्ण का भोजन

इकट्ठा बनता था । महाराजजी यहाँ प्राय: पहाड़ी अन्न ओगल, फाफड़ा और रामदाना खाते । कभी-कभी दाल-चावल भी खा लेते, माठा भी रोज पीते थे । दाल तो वहाँ गलती नहीं थी, तप्त कुण्ड के जल में बनाने से गल जाया करती । सतपंथ से लौटने पर कुछ नज़ला हुआ, पर माठा पीने से रुक गया इसीलिये माठा जारी ही रहा ।

वहाँ उन दिनों पण्डों और रावलजी के दरम्यान कुछ झगड़ा था । सबने अपनी-अपनी गाथा सुनाई । महाराजजी ने कुछ परामर्श दिया । वह चाहते थे कि आप बीच में पड़कर कुछ फ़ैसला करा दें । पर उनका बढ़ता हुआ वैमनस्य देख, आपने कह दिया कि " हमारे में कुछ सामर्थ्य नहीं, यदि कोइ राय पूछो तो जैसी समझ में आयगी, कह देंगे । "

पं० श्रीकृष्ण को काम-काज में लगाये रखते, उसका दिल बहला हुआ था । कभी-कभी बिगड़ भी जाता, पर प्राय: ठीक ही रहता था ।

५

निर्वाण काण्ड

पहला प्रकरण

साधक

पं० देव शर्मा जी श्रीनगर (गढ़वाल में) महाराजजी की प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होंने बालकपन में ही प्रोफ़ेसर सियारामजी को देखा था। पीछे १९१७-१९१८ में जब वे १३ वीं, १४ वीं श्रेणी में पढ़ते थे, तो इन्हें योग-विद्या सीखने की बड़ी इच्छा हुई। महाराजजी के कनखल में दर्शन कर चुके थे। १९१७-१९१८ में महाराजजी की श्रीयुत गोपालजी से प्रशंसा सुन प्रोफ़ेसर सदानन्दजी द्वारा पत्र भी सेवा में भेजा, पर भाग्यवश श्री महाराज जी को मिल ही नहीं सका। इधर १९२५ में आपकी इच्छा थी कि एक वर्ष एकान्त में रहकर योग साधन में रहें। कुछ साधन सीखा भी था। श्रीयुत अच्युत मुनि अथवा ब्र० योगानन्द द्वारा इस मार्ग में प्रवृत्त हुए थे, उसी साधन में जुट जानेका विचार था। प्रोफ़ेसर लालचन्दजी ने आपको प्रेरणा की कि, " सन्त सियारामजी की शरण में बैठने से बहुत लाभ होगा, आप योग में बड़े निपुण तथा दक्ष हैं। " उनकी भक्ति से प्रभावित हो, उनके द्वारा ही

मुलतान में याचना कराई थी। उस प्रार्थना के उत्तर में महाराजजी ने ऐसा लिखा था, "पं० देवशर्माजी को अभ्यास में लगाने से पहिले निम्न लिखित बातें दिल में बहुत खटकती हैं, जिनके लिये शास्त्र के अनुसार उनको पालन करना बहुत आवश्यक है। जब से मैं इस मार्ग में चला हूँ और जब से ईश्वर-अनुग्रह का अनुभव होने लगा है, तब से शास्त्र पर बेहद श्रद्धा हो गई है। जो निष्कपट आर्य्य-समाजी हैं, उन्होंने भी बहुत समाजी रंग धो डाले हैं। (१) मैं वेद-मन्त्रों का ग़लत अर्थ करना पाप समझता हूँ। जब कि किसी पुरुष में इतनी योग्यता न हो कि वह निश्चय रूप से यह कह सके कि जो अर्थ वह कर रहा है, वह बिल्कुल ठीक है, तब तक उसको मन-माना अर्थ नहीं करना चाहिये। यदि किया है, या करता है, तो पाप है। (२) बिना अपने में पूर्ण योग्यता हुए दूसरों को वेद पढ़ाना भी पाप है। (३) जिसको वेदों में श्रद्धा और भक्ति न हो अर्थात् जो अधिकारी न हो उसको पढ़ाना भी पाप है। अब तुम देखते हो कि देवशर्माजी के मार्ग में यह नियम रुकावट डालनेवाले हैं। यदि वह इन बातों पर सहमत हों, तब अभ्यास में लगाने से पहिले प्रथम नियम को तोड़ने का उनको प्रायश्चित्त करना पड़ेगा और आगे को इन नियमों पर दृढ़ रहने के लिये प्रतिज्ञा करनी पड़ेगी। (४) अभ्यास-काल में जिस स्थान में, मैं उनको कहूँगा, वहाँ पर रहना होगा। (५) गुरुकुल-भूमि में उस काल तक बिलकुल नहीं जाना पड़ेगा। (६) भोजन आदि का प्रबन्ध वहीं अभ्यास स्थान में करना पड़ेगा। (७) जब तक अवस्था दृढ़ न हो जाय, संसर्ग से बचना पड़ेगा। इन सब बातों के होते हुए भी मेरे जैसे तुच्छ जीव में यह सामर्थ्य नहीं है कि मैं वायदा कर सकूं कि उनको सफलता पर अवश्य

पहुँचा दूंगा। यदि कुछ होगा, तो ईश्वर अनुग्रह और उन्हीं के पुण्य प्रताप और पुरुषार्थ से होगा। इसलिये जो कुछ वह फ़ैसला करें, वह ऊपर की बातों पर पूर्ण ध्यान देकर करें, ताकि पीछे धोखा न हो। जहाँ तक मैं अनुभव करता हूँ, मुझे अपने में कुछ भी शक्ति नहीं प्रतीत होती, फिर मैं कैसे किसी को किसी बात का भरोसा या विश्वास दिला सकताहूँ ?" जब यह वृत्तान्त लालचन्द्जी द्वारा उनको मिला तो मुलतान में आकर महाराजजी से मिले। प्रायश्चित्त करना निश्चय हुआ, सब आज्ञा को मान लिया। इसी निश्चय के अनुसार इसी वर्ष आषाढ़ में श्रीनगर में आकर पं० तारादत्त की कुटिया में चान्द्रायण व्रत किया था। यद्यपि उन्होंने व्रत तो पूरा कर लिया, पर महाराजजी जैसा चाहते थे वैसा नहीं हो सका। इधर लालचन्द्जी ने महाराजजी से आकर कहा कि "देवशर्माजी वहाँ व्रत समाप्त करके आपकी प्रतीक्षा में होंगे।"

इसी भावना से आप ४० दिन तक बद्रिका नगर में रहकर १९ सितम्बर को यहाँ से चल दिये। २९ सितम्बर को श्रीनगर पहुँच गये। यहाँ २०-२२ दिन रहकर देवशर्माजी को सहायता देते रहे। पट् क्रियायें भी कराईं और ध्यान की विधि बताई। वे धोती निगलने में अशक्त थे। एक दिन महाराजजी ने अपने सामने धोती करवाई। तो धोती निगली गई, काफ़ी अन्दर चली गई। जब बाहर निकाली तो महाराजजी ने कहा 'मापो'। पर मापने से पहले यह भी कह दिया "मैंने यह सोचा था कि ८ हाथ निगली जानी चाहिये।" जब उन्होंने धोती मापी तो ८ हाथ ही निकली। वे ध्यान में भी लगे थे। कुछ अन्तर्ज्योति का प्रकाश भी सामने रहता था। महाराजजी का विचार था कि यह प्रकाश सब सिर में समा जाय और प्राण की स्थिति

हो जाये। शर्माजी ८ दिन से यत्न कर रहे थे, पर सफलता न हो रही थी। जब महाराजजी के दो-तीन दिन ही चलने के रहे, एक दिन जैसे ही देवशर्माजी सायंकाल को ध्यान में बैठे, प्रकाश उनके सिर में पहुँच गया। उसी समय महाराजजी वहीं उनके कमरे का दरवाजा खोल अन्दर आ गये और बोले, 'सुनाओ, क्या हाल है।' उन्होंने कहा, "अभी प्रकाश सिर में पहुँचा है।" तब आपने कहा, बस, अब तुम हट जाओ, तुम्हें अपने रहने का कमरा खाली करना पड़ेगा, इसलिये, तुम्हें जलदी भजन से उठा दिया है। मैं भी अब कल ही प्रातः काल चला जाऊँगा। ऐसा विचार हो गया है कि तुम्हें सिर में आज ही प्रकाश हो जाय, मैं ऐसा जोर लगा रहा था।" इस प्रकार आप अपनी शक्ति लगाकर भी साधक को कल्याण में सहायता दिया करते थे। स्वामीजी स्वभावअनुसार शर्माजी से मातृ-तुल्य प्रेम करते थे। उनके रहन-सहन और खाने-पीने की छोटी-छोटी बातों का भी वे चिन्ता रखते थे। उनके निर्वाह के लिये अपनी भिक्षा में से धन भी दिया करते जिससे उनको अपना खर्च कम करना पड़ा। जिस दया और अनुग्रह को आप अपने भक्तों के प्रति दर्शाते वह अन्य स्थानों में कहां मिलती है? सन्तों का ऋण कौन उतार सकता है?

यहां रहते हुए, फिर नजले का जोर होगया। दवाई आदि होती रही, पर हालत बिगड़ती गई। तीन रात्रि तक सांस भी खींच कर आता रहा। एक रात को तो बोलना भी बन्द हो गया। इशारों से गर्म पानी मांगा। पानी पीकर कुंजर करम किया, तो एक कफ़ का रोड़ा सा निकला जिससे कष्ट भी कम हुआ और बोलने लगे। फिर प्रातः काल धोती भी करी और उलटी भी। बहुत कुछ आराम हुआ। डाक्टर भी आया, पर उसकी दवाई

में रुचि नहीं हुई। थोड़ी पीकर फिर बन्द करदी। बड़े से बड़े कष्ट में भी आप सावधान रहते थे; और जब भोग समाप्त हो जाता, तो अपनी ही युक्ति से शरीर को ठीक कर दिया करते थे। द्रष्टा बन सब कुछ नाटक वृत्ति से देखते रहते थे। सब कार्य्यों में किसी दूसरी शक्ति से शासित होकर ही प्रवृत्त होते थे। किसी विषय में आप अपने अहंकार से तो कभी काम लेते ही नहीं थे।

श्री कृष्ण को यहाँ कुछ प्रायश्चित्त कराया। ३ दिन पंचगव्य पिलाये, ३ दिन निराहार कराया। फिर कुछ ध्यान-मार्ग में लगाया। यहाँ से, पं० तारादत्तजी से घोड़ा लेकर, २३ अक्तूबर को रवाना हुए। सीधे दुगड्डा पहुँचे। कोटद्वार, नजीबाबाद होते हुए ३० अक्तूबर को जालन्धर आ गये।

भक्तों के कहने पर आपने अपने शरीर को एक वैद्य को दिखलाया, तो उसने दिमाग़ की कमजोरी बतलाई। उसके कथनानुसार नियम पूर्वक सब काम करने लगे, मिलना-जुलना भी बन्द रखते थे। इससे २५ दिन में पूर्णतया स्वस्थ हो गये। अपनी निगरानी में भोजन आदि का प्रबन्ध करके बड़ी सावधानी से रहते रहे कि जिससे फिर कष्ट न हो जाय। कुछ दिन बाद बख़्शी रामदासजी जम्मू से आये। कपूरथला के सत्संगी भी पहुँचे। लुधियाना से रामदासजी पहली बार दर्शनों को आये। कुछ उपदेश ले चले गये। जालन्धर के ला० दुनीचन्दजी श्रीचरणों में बैठ सत् मार्ग में लगे। श्री महाराजजी ने यम-नियम के पालन पर ज़ोर दिया, जिज्ञासु ने संयम का व्रत ग्रहण किया, भजन में लगा दिया, अच्छा अनुभव हुआ। वह कहने लगा "महाराजजी दो खरबूज़े हाथ में नहीं आते, जो भजन करता हूँ, तो दुकान पर हथौड़ा नहीं चलता, जो दुकान का काम होता है, तो भजन कम करना पड़ता है।" यह भाई ठठेरे का काम करते हैं।

आहार-व्यवहार कुछ पहले भी अच्छा था, सत्संग में आने से और भी उन्नति हुई। फगवाड़ा से दरियाईलालजी, जो सिटी मैजिस्ट्रेट थे, दर्शनों को आये। आपका व्यवहार शुद्ध था, कुछ साधन पहले भी कर चुके थे, पर पीछे विचार बिलकुल बदल गये थे। महाराजजी को पहले ही जानते थे। द्विविधा में पड़े थे कि भजन करें या नहीं, हृदय में संदेह रहता था। कुछ दिन तक प्रति आदित्यवार को आकर सत्संग करते रहे।

यहाँ पर आर्य्य-समाज के एक उपदेशक आये। उनका सारा हाल सुन महाराजजी ने यही उपदेश दिया, "रुपया लेकर उपदेश देना पाप है।" उसकी गृहिणी भी आई थी। वे दोनों बहुत कुछ प्रतिज्ञा कर गये। महाराजजी ने उपदेश दिया था:— "उपदेश में शिक्षा की बातें कहो, खण्डन-मण्डन में न लगो, उपदेश का रुपया न लो, ब्रह्मचर्य्य से रहो।"

धर्मचन्द्जी की स्त्री चान्द्रायण व्रत कर चुकी थी। आज्ञा अनुसार दोनों दम्पति मुलतान से यहाँ आये। देवीजी अनेक उपदेश लेकर पति की सहायक बनीं। यह भी निश्चय हुआ कि ब्रह्मचर्य्य से रहेंगे। पुत्र तो था ही, विधि-पूर्वक व्रत लिया। फिर महाराजजी ने उस देवी को भजन का उपदेश देकर कृतार्थ किया। तबसे वे दोनों बड़े भक्ति भाव से सन्मार्ग में डटे हैं। सतगुरुदेव की सेवा और आशीर्वाद से दृढ़ता आ ही जाती है।

दूसरा प्रकरण

क्षमता

दिसम्बर के मध्य में धर्मचन्दजी के साथ आप मुलतान पहुँचे। यहाँ पूर्ववत्, भाई तोलाराम की सराय में ही, पं० शिवरामदासजी ने प्रबन्ध करा दिया था, वहीं आकर ठहरे। आपके सुयोग्य सेवक नारायणहरि जी भी साथ ही थे।

सर्दी में बड़े दिन की छुट्टी में प्रो० सदानन्दजी के मित्र प्रोफ़ेसर दौलतरामजी जम्मू से आये, उन्हें षट क्रियायें करा अभ्यास में लगाया गया, खान-पान भी नियमित किया गया। सत्संग से कृतार्थ हो शीघ्र छुट्टी समाप्त होते चले गये। चकवाल से मा० कल्याणदेव भी थोड़े दिन सत्संग करने आये। जालन्धर से लाला बस्तीरामजी यहाँ कई दिनों तक सेवा में रह लाभ उठाते रहे। बिजनौर से वानप्रस्थी अर्जुनदेवजी आये। अभ्यास की इच्छा प्रकट की। सारा हाल सुन पापों को क्षीण करने के निमित्त चान्द्रायण की आज्ञा हुई। पशोपेश के बाद व्रत शुरू किया, पर २४ दिन बाद घबरा गये, व्रत छोड़ दिया। इस पर महाराजजी ने उनको स्वामी सोमतीर्थजी के पास भेज दिया। वे उन्हीं की प्रेरणा से आये थे। महाराजजी ने उनको पत्र भी भेज दिया। "श्रीपूज्य स्वामीजी महाराज, प्रणाम, आपका कृपापत्र प्राप्त हुआ, उत्तर में निवेदन है कि श्रीअर्जुनदेवजी को चान्द्रायण व्रत करने को कहा गया था, सो पहले तो उन्होंने पशोपेश किया, पीछे शुरू कर दिया। २४ दिन पीछे व्रत तोड़ दिया, इस पर सबको बड़ी हैरानी हुई। और तरस भी आया कि छः दिन की कसर रहती थी, विघ्न पड़ गया। तब

मैंने आपके पास भेज दिया कि उनके पास जाओ । इन सब बातों पर विचार करके, जैसे वे उचित समझेंगे, वैसा प्रायश्चित्त करायेंगे । श्रीअर्जुनदेवजी की सेवा में प्रणाम।" उनकी कमज़ोरी को देख, उपेक्षा कर गये, पर उनकी हित कामना तो बनी ही रही । भक्त को आदर देना तो उनके स्वभाव में ही था ।

महेशदासजी का चित्त भी सत्संग को चाहता था, पर पहली कमज़ोरी के कारण, महाराजजी उदासीन थे । परन्तु शरण आये को छोड़ते भी कैसे। प्रायश्चित्त की आज्ञा हुई । चान्द्रायण शुरू कर दिया, लेकिन सात-आठ दिन पीछे उनका चित्त इतना घबराया कि घर चले गये । फिर दर्शन करने आये, तो अपनी असमर्थता जताकर क्षमा मांगी । महाराजजी ने उत्साह दिया । "कोई हर्ज नहीं, जो हुआ अच्छा ही होगया । तप थोड़ा भी लाभदायक है । पर व्रत लेकर पूरा न करने से मन की आदत बिगड़ जाती है । आगे को सावधान रहना चाहिये । जब कोई व्रत लें, तो जान जाये तो जाये, पर क़दम पीछे न उठाना चाहिये ।"

ला० राजारामजी डेरा-ग़ाज़ीखाँ से, और कोटा से उनके सुपुत्र देवकीनन्दनजी आये । पिता तो सत्संग करते रहे । देवकीनन्दनजी ने १६२२ में भी दर्शन किये थे । पर थ्योसोफ़ीकल सोसाइटी का बड़ा शौक़ था । मद्रास इत्यादि अनेक स्थानों में जाया करते थे । पिता से महाराजजी के बारे में बहुत कुछ सुना था । इस बार श्रीचरणों में बैठकर भजन में लगे । गुरु-आज्ञा में रहकर अभ्यास में आपने जितनी उन्नति थोड़े दिन में की, उतनी इतने साल भटकने से न हुई थी । भक्ति बढ़ती गई । ध्यान मार्ग से चले थे । प्रकाश अथवा उसमें अनेकों दर्शन हुए । सत्संग में रह संयम के जीवन का निश्चय कर वापस अपने काम पर चले गये ।

कन्हैयालालजी १६२२ से सत्संग करने आते थे । १६२५ से

विशेष लाभ उठाने लगे। यह सज्जन प्रज्ञाचक्षु हैं। कुसंग अथवा कुसंस्कारवश बुरी आदत में फँसे थे। व्रत करने की आज्ञा हुई। समय-समय पर आपने चार चान्द्रायण व्रत किये। एक बार दूध पर और एक बार केवल पानी पर किया। कई बार निराहार भी किया। १२ दिन का अनशन व्रत किया। सत्संग से ढारस तथा उत्साह पा कुसंस्कारों से लड़ते रहे। भजन में भी दीक्षित हुए। उससे बहुत कुछ कुसंस्कार ढीले हो गये हैं और वे बड़े यत्न से आगे बढ़ने का परिश्रम करते रहते हैं।

डा० उत्तमचन्दजी भी इस वर्ष सन्मार्ग में लगे। घट-शुद्धि पश्चात् ध्यान में लगाये गये। कुँवरभानजी भी शरीर को पवित्रकर ध्यान में लग गये। इनके साथियों को तो अच्छा अनुभव हुआ, पर इनका चित्त सुस्त रहता था। तत्पश्चात् व्रत की आज्ञा हुई। तब व्रत करने पर ध्यान में चित्त लगने लगा। महाराजजी ने सब नये साधकों को आहार-व्यवहार के नियम भी बताये। इस प्रकार आप जिज्ञासुओं की हित साधना में लगे रहे। यह दोनों पहले से ही सत्संग करते चले आते थे, पर अबकी बार दोनों ने विशेष लाभ का सुअवसर प्राप्त किया। इसी वर्ष एक नये भक्त का भी उद्धार हुआ। ला० खुशीरामजी अपने दो भाइयों के साथ लोहे की दुकान करते हैं। सनातन धर्म-सम्मेलन के अवसर पर आपके हृदय में, प्रभु-भक्ति के संस्कार अनायास ही उदय होने लगे। वहीं सन्त सियारामजी का समाचार भी सुना था। पहले तो कभी पता भी न चला था। सत्संग में गये। पहले दिन तो कुछ उत्साह न हुआ। फिर अवसर पाकर जाते रहे। एक दिन दोपहर को जाकर दर्शन किया। पूछने पर प्रभु भक्ति में मुग्ध हो जाने की इच्छा जतलाई। आहार-व्यवहार को शुद्ध करने के नियम बतलाये गये। आहार तो शीघ्र ठीक

कर लिया, पर व्यवहार के सम्बन्ध में कुछ न सूझा कि किस प्रकार भाइयों को कहा अथवा समझाया जाय। बड़े दुःखी रहने लगे। फिर एक दिन महाराजजी ने आप ही कृपा कर बुलाया, तो अपना कष्ट रो कर कहने लगे। दूसरे दिन तीनों भाइयों को वहाँ आने की आज्ञा हुई, भाई भी साथ चले आए। महाराजजी की प्रेरणा से सब ने सत्य व्यवहार पर दृढ़ रहने की प्रतिज्ञा की। महाराजजी ने हवन करा के सब को व्रत में बाँध दिया। अगले दिन आपने खुशीरामजी को भजन में लगाया। कुछ प्रकाश हुआ, ध्यान भी लगा। थोड़े दिन बाद घर में विरोध होने लगा ; पर आप डटे रहे। आपके सम्बन्धियों ने एक विधवा बेचारी को भेज कर इन्हें गिराने का प्रयत्न किया। कुछ बहक तो गये, पर प्रभु की दया से बच गये। फिर स्वामीजी ने प्रायश्चित्त रूप से तीन दिन का व्रत कराया। गृहस्थ तो थे ही, पर उधर भी बड़े संयम से रहने लगे। स्त्री ने भी कोई विशेष बाधा न डाली। प्रभु-कृपा तथा गुरु-अनुग्रह से जीवन पलटने लगा। काम-काज में पहले तो लोग रुकावटें डालने लगे। पर फिर सफलता होने लगी। तभी से सत्य पर आरूढ़ होकर काम चल रहा है, और इन नियमों में रहने से कुछ लाभ भी हुआ, कारो-बार चमक उठा। विश्वास बढ़ जाने से अधिक ग्राहक मिलने लगे। चित्त भी स्थिर करने की युक्ति आ गई। ईश्वर की दया से विचित्र अनुभव हुए। प्रकाश-समाधि में मग्न रहने लगे। कभी-कभी और भी अधिक आनन्द आने लगा। १९२७–२८ में भी सत्संग प्राप्त कर अनेक व्यवहार सम्बन्धी अड़चनों को सुलझाते रहे। १९२७ में कुम्भ पर भी दर्शनों को गये। वहाँ मेले में चित्त विक्षिप्त रहने के कारण घबराये। इनके संस्कार थे कि कुम्भ में तो साक्षात् भगवान् आते हैं, यहाँ तो चित्त अधिक लगाना

चाहिये। पर गुरुजी ने समाधान कर दिया कि यह भ्रम है। कुम्भ तो अब मेला ही है। एकान्त में ही प्रभु-भजन ठीक होता है। तब से गुरु से उपदिष्ट मार्ग पर बड़े उत्साह से चल रहे हैं। गुरु-कृपा बड़ी दुर्लभ वस्तु है। गोस्वामी गनेशीदत्तजी भी, यहाँ सनातनधर्म कान्फ्रेंस में आये थे। शिवरामदासजी द्वारा समय प्राप्त कर महाराजजी से मिलने आये। अवस्था बताई, 'अभ्यास में चित्त तो गुम हो जाता है, पर उससे लौटने पर लक्षण उलटे होते हैं। चित्त उदास और शरीर भारी होता है।' महाराजजी ने कहा, "लक्षण तो अच्छे नहीं। उत्तम अवस्था में तो चित्त प्रसन्न और शरीर हलका होता है। अनेक नाड़ियाँ हैं, पता नहीं प्राण किस नाड़ी में चले जाते हैं। हां, यदि सामने बैठ कर अभ्यास करो और वैसी अवस्था हो जाय, तो पता लगे कि क्या कारण है।" फिर उन्होंने पूछा, "गृहस्थी तो नियम तोड़ चुके हैं। उनके वीर्य्य की अधोगति होती है, वह कैसे रुक सकती है?" आपने समझाया, "यह ठीक है, पर आहार के शुद्ध करने, और संयम के नियमों को पालन करने से रुक सकती है। संस्कार हटाने और वैराग्य बढ़ाने से बिलकुल ही रुक जायेगी। पर आहार की गड़बड़ी से यदि वीर्य्य-पात कभी हो भी जाय, तो ऐसा हर्ज भी नहीं। ब्रह्मचारियों को भी ऐसे बिगाड़ से कष्ट हो जाता है। पर बेपरवाह रह कर आहार और व्यवहार को शुद्ध करते जाना चाहिये।" फिर वह अवसर नहीं पा सके कि अपने संशयों को निवारण कर पाते।

भक्त धनीराम, पं० ज्येष्ठानन्द और पं० सदानन्द भी पिछले साल प्राणायाम के मार्ग में लगे थे। इस वर्ष कृपा प्राप्त कर, पं० ज्येष्ठानन्द और सदानन्द वहीं सराय में स्थान ले पास रह, भजन करते रहे।

पारसाल देवियों को बहुत समय दिया था, इस साल बहुतों की इच्छा थी कि भजन में लगाई जावें। अब जब बहुत झमेला होने लगा तो महाराजजी ने कड़े नियम लगाये।

जो विधवायें थीं, उनको बाल कटवाने पर कटिबद्ध किया। जो सधवा थीं, उनको अपने पति की आज्ञा प्राप्त करने को कहा। सब को चक्की चलाने व चरखा कातने की प्रतिज्ञा करने पर राज़ी किया। इस प्रकार सादगी और तप के जीवन का प्रचार होने लगा। जो फ़ैशन की गुलाम थीं, वह सादा पहरावा करने लगीं; जिनको चटोरापन था, वह स्वाद पर क़ाबू प्राप्त करने लगीं। जो भटक रही थीं, वह आश्रय पा शान्त रहने लगीं। कई तो इस प्रकार के रहन-सहन में अपने सम्बन्धियों की सहमति प्राप्त न कर सकीं। व्यसनी पुरुषों को भी यह बुरा लगता था। इस कारण अपवाद होने लगा। कुछ एक दुष्ट साथ के मकान के कोठे पर से छत पर आ कूदे। ऊपर, गुरुदेव एक देवी को बैठा कर ध्यान में सहायता दे रहे थे। वह ऊँची आवाज़ में गाली देने लगे। नीचे के सत्संगी भी रोला सुन ऊपर पहुँचे। समझा बुझाकर उनको हटाया कि 'जब कोई भजन में बैठा हो, उस समय शोर करने से उसको बड़ी हानि होने का भय है।' गाली आदि तो आप बड़ी शांति से सुनते रहे। बड़ी मुशकिल से कुछ और उत्पात मचाने का भय दिखा वह चले गये। सायंकाल को जब सब सत्संगी आये, तो आप ने हँसते-हँसते सब कथा सुनाई। आपके भक्त पं० शिवरामदासजी वकील को बुरा लगा। उन्होंने उनको दण्ड दिलाने का निश्चय किया। महाराजजी ने कहा, "इसकी ज़रूरत नहीं। उनको समझा देना चाहिये जिससे फिर किसी को हानि न पहुँचे।" पर भक्त को कब चैन पड़ता था? वह तो अधीर हो रहे थे। दूसरे

दिन प्रातः ही उन्होंने दो बलवान पुरुषों को उन्हें दण्ड देने को भेज दिया । जब धर्मचन्द्रजी महाराजजी का खाना लाये, तो आपने उनको शिवरामदासजी से यह कहने के लिये भेजा कि "उत्पात करने वालों को कोई कष्ट न पहुँचे, केवल समझाया जाय ।" वहाँ, वह पहले ही दण्ड देनेवालों को भेज चुके थे। धर्मचन्द्रजी को भागते हुए जाना पड़ा, तब वह वकील साहब को गुरुदेव का संदेशा दे पाये। वह दुष्ट महाराजजी के पास लाये गये। उनको जब सब हाल मालूम हुआ, तो क्षमा-प्रार्थना करने लगे; और कहा कि हम किसी से बहकाये गये थे। इसी भ्रम में भूल हो गई। साधु तो अपने को कष्ट देनेवाले को क्षमा ही करना जानते हैं। यदि दुष्ट अपना गुण नहीं छोड़ते, तो संत अपनी शान्ति को कब छोड़ सकते हैं ?

संत न छाड़ै संतई, जे कोटिक मिलें असंत ।
चन्दन भूंगा बैठिया, तौ सीतलता न तजंत ॥

यहाँ रहते हुए डा० ज्ञानसिंह भी सत्संग को आते रहे। सिद्धि-मार्ग को छोड़ शांति-मार्ग में प्रवृत्त हुए। परम लक्ष्य की साधना में दीक्षित हुए। आपने भी अनेक सन्तों के दर्शन किये थे, पर कहीं भी विषय-वासना से बचने के लिये साधना तथा विधि प्राप्त नहीं कर सके थे। यदि कहीं इस सम्बन्ध में पूछा भी गया, तो उन्होंने बुरा माना और कहा कि "यदि तुम्हारा चित्त विषय में फँसा है, तो यहाँ मत आया करो। जब हृदय पवित्र हो, तब ज्ञान-चर्चा में लगना ।" आत्मा-परमात्मा के तो अनेक प्रश्न होते, वेदांत की जटिल समस्यायें समझाते; पर विषयों से छुटकारा पाने की तरकीब कोई नहीं बताता था। महाराजजी के पास यही मुख्य विषय रहा करता था कि किस प्रकार राग से छूट कर मनुष्य प्रभु के चरणों में जा सकता है। विषयों का यथार्थ बोध ही विषयों के

राग से मनुष्य को मुक्त करा सकता है। इस यथार्थ बोध को प्राप्त करने के लिये चित्त को शांत करना आवश्यक है। अन्वेषण-बुद्धि से, गुरु-आज्ञा अनुसार प्रयत्न करने पर ठीक-ठीक बोध प्राप्त हो सकता है।

डा० ज्ञानसिंहजी कई दिन तक श्रीमद्भगवद्गीता की भी कथा कर उसके रहस्यों को पूछते रहे। महाराजजी ने समझाया कि, "गीता को विना अनुभव के समझना असम्भव है, यह प्रत्यक्षवाद ही है।"

महाराजजी ने उन्हें यह भी सुझाया कि शास्त्र के अनुसार वैद्य का 'अन्न पीप के बराबर होता है।' व्यवहार को शुद्ध करने को कहा। फिर योगेश्वरजी की कथा सुनाई कि किस प्रकार आपके कहने पर उन्होंने फ़ीस माँगना छोड़ दिया, और ग़रीब अमीर सबके पास जाते। कई दिन कष्ट में भी गुज़ारना पड़ता। देहाती ले जाते पर देते कुछ नहीं थे। फ़सल के समय देहात वाले कुछ अन्न एकत्र कर ले आये। इस प्रकार साल का अनाज तो आने लगा। जो कोई घर कई दिन की दवाई ले जाते, उनसे क़ीमत लेते थे, इससे बाक़ी खर्च पूरा करते। इस प्रकार वे दृढ़ता से अपने व्रत पर चलते रहे, अब ईश्वर की कृपा से दानी अपने आप ही रोग शांति के बाद काफ़ी धन देने लगे। यह भी होता कि कहीं आशा होने पर भी न मिलता और कहीं से अनायास अधिक मिल जाता। तब से उनका निश्चय हो गया कि 'भोग प्रबल है, ईश्वर आप ही रक्षा करते हैं।' ऐसी बातों से उत्साहित होकर डा० ज्ञानसिंहजी ने भी फ़ीस न लेने की प्रतिज्ञा कर ली। महाराजजी ने यह भी समझाया कि "दया भाव से रोगी के दुःख को निवारण करने का यत्न करना चाहिये, अपना भोग ईश्वर पर छोड़ देना ठीक है। जब तुम

दूसरों की सेवा करोगे, तो प्रभु तुम को निराधार नहीं छोड़ेंगे। परमात्मा में विश्वास होना चाहिये। इसमें इस बात की परीक्षा हो जायेगी कि तुम्हारे अन्दर कितनी भक्ति है, जबानी कहने से कुछ नहीं होता।" इस प्रकार आपने उन्हें अनेक बार समझाया कि जिससे उनके संशय बहुत कुछ मिट गये, और उन्होंने क़िस्मत आज़माइ को ठान ली। इनके मित्र मेहरचन्द भी सत्संग में आते थे। वृद्ध होने के कारण कोई विशेष साधन तो नहीं किया, पर उनका भक्ति-भाव बढ़ता ही गया। शहर में प्लेग पड़ने से लोग शहर छोड़ने लगे। कुछ कुटुम्ब भाई तोला-राम की सराय में आकर रहना चाहते थे कि जिससे शहर के दूषित वायु-मण्डल से बच सकें। महाराजजी उनके हित को देख स्वयं वहाँ से हट गये और रामझरोखे में कुछ दिन रहते रहे। यहाँ भी गीता का पाठ चलता रहा और महाराजजी भी जहाँ शंका होती वहाँ बड़ी उत्तमता से समझाते। "संसार का यथार्थ बोध प्राप्त कर प्रभु-भक्ति में मस्त रहना चाहिये" यही भगवान के उपदेश का सार है। महाराजजी को जब इस प्रकार स्थान का कष्ट हुआ, तो कई सत्संगियों ने यह निवेदन किया कि यदि आज्ञा हो, तो एक स्थान बनवा दिया जाय, अथवा कहीं कुटी ही बनवा दें। पर आप तो कहीं अटकना ही नहीं चाहते थे, इसको कब स्वीकार करते? आप बड़ी सादगी से रहते, किसी से वृथा कभी धन न लेते। यदि कोई जबरदस्ती दे जाता, तो किसी दूसरे के हित में लगा देते। जो कुछ भेट सत्संगी ले आते, उसको भी किसी दूसरे अधिकारी साधक को दे देते कि जिससे उसको भजन में सहायता हो जाती। आपका भोजन तो प्रो० सदानन्दजी के यहाँ से आता रहता। जैसी ज़रूरत होती, वैसे ही भोजन मँगवा लिया करते। कपड़ा आदि में भी किसी प्रकार का

आडम्बर न रहता। जब तक पुराने कपड़े फट कर चीथड़े न हो जाते, न बदलते। रामझरोखे में स्थान थोड़ा था, केवल चार मूर्ति ही यहाँ रह सकीं, शेष को अन्य स्थानों में ठहरना पड़ा। वे चार मूर्ति थीं :— महाराजजी, स्वामी नारायणहरिजी, श्रीकृष्ण और धर्मचन्दजी। यहाँ भी दो तीन सप्ताह तक सत्संग होता रहा। फिर एक रोज़ दोपहर को तैयार हो गये। कुछ थोड़े सत्संगी तो वहीं थे, वह साथ हो लिये। जिनको पता चलता गया वह भी स्टेशन पर पहुँच गये। गाड़ी के वक्त तक अनेक भक्त दर्शन करने आये। फ़रवरी के अन्त से पहिले ही जालन्धर पहुँच गये। दो रोज़ पीछे नारायणहरिजी यहाँ से चल सीधे कनखल चले गये। वह कुम्भ का अवसर था, कई मुलतान-निवासी सेवक वहाँ पहुँचने का विचार कर रहे थे। स्वामीजी ने उनके लिये भी उचित स्थान का प्रबन्ध करने के लिये नारायणहरिजी को आज्ञा दे दी थी। एक सप्ताह तक श्री स्वामी जी जालन्धर रहे। यहाँ मास्टर साधूसिंहजी के पास ठहरे। इधर के भक्त भी दर्शन करने का सुअवसर प्राप्त कर कृतार्थ हुए। यहाँ से आप फिर शीघ्र कनखल पधारे और अपने मित्र पं० यागेश्वरजी के मकान पर ठहरे।

तीसरा प्रकरण

अखण्ड ज्योति

गुरुकुल काँगड़ी से पं० देवराजजी सेठी और प्रो० लालचन्दजी ने भी निमन्त्रण भेजा हुआ था कि 'यदि मायापुर में या गुरुकुल में रहना हो, तो स्थान का प्रवन्ध हो जायेगा।' मुलतानवालों के लिये मायापुर गुरुकुल वाटिका के सामने कारटर का प्रवन्ध हो गया। लाला नारायणदास और लाला वस्तीरामजी तो स्वामी नारायणहरिजी के साथ ही आ गये थे। पीछे अप्रेल में मुलतान के सेवक भी वहीं आकर ठहरे।

यहाँ पर महाराजजी की दैनिक चर्य्या ऐसी रहती थी:— प्रात:काल तीन मील गंगा के किनारे नीचे चले जाते। वहाँ शौच आदि से निवृत्त हो, भजन करते। यहाँ से ६ वजे लौटते फिर यदि किसी जिज्ञासु को विशेष समय दिया होता, तो उस से वात-चीत करते। ११ वजे भोजन करके आराम करते। २ वजे से फिर सत्संग का समय था। सायंकाल को गुरुकुल के सत्संगी और कनखल के भक्त भी दर्शनों को आया करते, और सत्संग से लाभ उठाते।

कुम्भ के दिनों में २ वजे से भक्तों को साथ ले महात्माओं के दर्शन करने चलते। अनेक स्थानों पर गये, सैकड़ों के दर्शन किये, पर आपको केवल तीन साधु कुछ जँचे कि जिनमें त्याग था। शेष तो सव आडम्वर अथवा मतों में फँसे थे। यहाँ पर आपके अनेक शिष्यों ने आकर दर्शन किया। स्वामी सोमतीर्थजी, स्वामी विशुद्धानन्दजी, स्वामी तारकानन्दजी, स्वामी कृष्णानन्दजी, स्वामी नित्यानन्दजी, स्वामी ब्रह्मानन्दजी, स्वामी आनन्दतीर्थजी, ब्रह्मचारी पद्मनाभजी आदि अनेक सज्जन सत्संग करते रहे।

कई एक साधु इस विचार से आये कि महाराजजी कुण्डलिनी जगाने में दक्ष हैं, उनसे सहायता लें ; पर आप तो इस अवसर पर अपने आपको छिपाते ही रहे। एक बंगाली साधु स्वामी विवेकानन्दजी ने पहली बार आपके दर्शन किये। उन्होंने सत्संग का अवसर प्राप्त कर, श्रीसेवा में रहकर, कुछ साधन करने का निश्चय कर लिया। इस प्रकार आप अनेक नर-नारियों को अपने अमृतरूप वचनों से तृप्त करते रहे। इतने बड़े धर्म-मेले में शायद एक ही ज्योति थी जो अखण्ड प्रकाश दे रही थी। पर उस प्रकाश से लाभ उठाने का सुअवसर भाग्यशाली को ही मिलता है। शेष तो सब किसी न किसी राग में फँस जीवन बिता रहे थे। सत्य है, कोई विरला ही परम पद को प्राप्त होता है। धन्य हैं वे जिनको ऐसे प्रकाश में रहने का अवसर मिला ; और वे तो विरले हैं कि जिनके नेत्र खुले अथवा जो भ्रम को नाश करने में लग गये।

प्रो० धर्मेन्द्रनाथजी भी यहाँ आये थे। जब गुरुकुल वृन्दावन में पढ़ते थे, तो विचारों में नास्तिक हो रहे थे। महाराजजी का संग पाकर विचारों में पलटा हुआ। पक्के आस्तिक हो गये। और उन दिनों गुरुकुल के पण्डाल में भक्ति पर बड़े रोचक व्याख्यान दे रहे हैं। श्रीसेवा में आकर अपनी गृहिणी की प्रशंसा करने लगे कि किस प्रकार वह विद्या पढ़ उनको-पढ़ने लिखने के कार्य्य में सहायक हो रही है। महाराजजी ने कहा, मानों चेतावनी ही दे रहे थे, — " यार, अब मौक़ा है कि धोखा मिटा लो, विवाह तो धोखा मिटाने के लिये किया जाता है। बहुत राग भी नहीं करना चाहिये, कल को पता नहीं कि क्या हो जाये।" यह शब्द भविष्य की भी सूचना दे रहे थे। थोड़े दिन बाद ही उस देवी का देहान्त हो गया। धर्मेन्द्रजी मोह के कारण पागल से हो

गये। देहरादून में स्वामीजी से मिले। महाराजजी को उन्हें देखकर बड़ा तरस आया कि इतना विद्वान और उपदेशक होते हुये भी मोह की चोट से नहीं बच सका। दुःख-निवारण को ही सुख समझ कर राग पैदा हो जाता है। यदि यथार्थ बोध प्राप्त कर सुखकी भ्रांति दूर हो जाये, तो लोग मारे-मारे न फिरें और परमात्मा की ओर लगें जहाँ परम शांति प्राप्त हो सकती है। धर्मेन्द्रजी की शोचनीय अवस्था देखकर आप उनसे कई घण्टों तक वार्तालाप करते रहे, जिससे उन्हें बहुत कुछ शांति मिली। प्रभु के आश्रय के बिना संसार-सागर में डूबते प्राणी को दूसरा सहारा नहीं है। वही निराधारों के आधार हैं, दीनों की टेक हैं और अनाथों के नाथ हैं। गुरुकुल काँगड़ी के उपाध्याय पं० विश्वम्भरनाथजी दर्शनों को आये। उनको अपने एक पुत्र से बड़ा प्रेम था। बिना जाने ही महाराजजी ने उन्हें, इसी बात का उपदेश किया कि "पुत्रों से बहुत प्रेम नहीं करना चाहिये। मुसाफ़िर दृष्टि रखनी चाहिये, अपने आप ही आते हैं, अपने आप ही चले जाते हैं, तो हमारा क्या हुआ। ऐसा विचार रखने से कोई दुःख नहीं होता। पता नहीं कब कौन चल दे।" शायद आप उन्हें चेतावनी ही दे रहे थे। उनका वही प्यारा पुत्र थोड़े दिनों में ही इस असार संसार को छोड़ कर चला गया। उन्हें बड़ा शोक हुआ, फिर महाराजजी का उपदेश याद आया। गुरुदेव के चित्त की अवस्था ऐसी थी कि जो कोई आता, उसकी त्रुटि के अनुसार ही आपको फ़ुरना होती थी। ईश्वर इस प्रकार सन्तों के द्वारा भक्तों का हित कराते रहते हैं।

गुरुकुल कांगड़ी के एक स्नातक ब्रह्मचर्य्य विषय में पूछने आये। अपने चित्त की डावांडोल अवस्था का वर्णन किया। महाराजजी ने अनेक युक्तियों और दृष्टान्तों से समझाया, "स्त्री

में सुख तो है नहीं, पर यदि हो भी, तो दुःख अधिक है। कोई व्यापारी घाटे का सौदा नहीं करता। तजरबा भी महँगा पड़ेगा। तुम्हारा चित्त यदि इस अंश में हट भी गया, तो भी बन्धन से मुक्त नहीं हो सकते। धर्म-शास्त्र फिर अपनी जंजीर में पकड़ कर कर्तव्य कर्म में लगाता है।" उस समय तो वे संयम के विचारों को ले गये और कुछ दिन तक माता-पिता का विरोध भी सहते रहे।

काशीनाथजी फ़िदा, तेजरामजी, कटरा के शार्दूलानन्दजी, दौले शाहजी, हरिरामजी आदि अनेक सज्जनों को इस अवसर पर स्वामीजी के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

मुलतान से चलते समय डा० ज्ञानसिंहजी ने कुछ रुपये भेंट किये। आपकी इच्छा नहीं थी, पर जब उनकी आँखों में आंसू देखे तो रख लिये। आपका विचार था कि १०) रु० का नोट होगा, पर था १००) रु० का। यहाँ जब कुम्भ से छुट्टी मिली, तो आप ने ६०) रु० धर्मचन्दजी को भेज दिये कि यह रुपया डाक्टरजी को लौटा दें। १०) रु० के लिये भी चित्त नहीं था; पर भक्त के भाव को देखकर रख ही लिये। इस प्रकार आप महान त्याग के व्रत को धारण किये हुए थे। वैसे तो प्रायः एक ही भक्त से खर्च लेते थे, पर आपने दूसरे सेवकों की इच्छा का भी निरादर कभी नहीं किया। आजकल तो संन्यासियों का बैंकों और साहूकारों के यहाँ हिसाब रहता है; पर स्वामीजी हमेशा उतनी सेवा लेते जितनी जरूरत होती। गृहस्थियों की भक्ति का बेजा फ़ायदा उठा कर धन बटोरना आपके लिये असम्भव था। त्याग की तो आप साक्षात मूर्ति थे। आज-कल जबकि रुपया का प्यार इतना बढ़ गया है, अथवा जब रुपया के बिना काम मुशकिल से चलता है, आप सदैव अपने नियम पर अटल वृत्ति से डटे रहे।

यहाँ श्री उड़िया स्वामीजी आपके दर्शन करने आये। वे गाड़ी में नहीं बैठते थे। इच्छा होने पर भी महाराजजी के दर्शन न कर पाये थे। यत्न तो बहुत किये थे। शताब्दी के उत्सव पर मथुरा गये थे; पर महाराजजी पहले ही चल दिये थे। मधुकरी से निर्वाह करते थे। एक चादर में रहते। आपने महाराजजी से पूछा कि 'विषयों में सुख नहीं है,' यह समझ में नहीं आता। महाराजजी आपको जंगल में ले गये, ध्यान में बैठने को कहा। फिर युक्ति से सुझाया कि विषय में सुख नहीं, तो बाबाजी को बात जँच गई। साधन तो पहले ही करते थे। शेष भ्रम भी मिट गया। इनका विचार था कि संसार 'अस्ति, भांति, प्रिय रूप है।' महाराजजी ने अनुभव के आधार से सुझाया कि "संसार 'अस्ति भाति' तो है पर प्रिय रूप नहीं है।" अब अनुभव द्वारा उन्हें भी यही बात ठीक मालूम पड़ने लगी। आपका चित्त बड़ा सूक्ष्म था। सूक्ष्म शरीर इतना उन्नत हो चुका था कि दूसरे के चित्त अथवा शरीर की अवस्था का झट बोध हो जाता था। एक दिन पं० महानन्दजी, मास्टर गोपालजी के साथ दर्शन करने आये। ध्यान की युक्ति पूछी। आपने अपनी उँगली उनके मस्तक की तरफ़ की और कहा कि यहाँ ध्यान लगाओ। पर उँगली अभी माथे से लगी भी नहीं थी, कि आपने झिड़क कर उसे वापस हटा लिया और कहने लगे, 'यार, तुम्हारा शरीर गड़बड़ मालूम होता है।' तब उन्होंने बताया कि मुझे कुछ बुखार सा है।

एक बार पं० महानन्दजी, डा० राधाकृष्णजी को साथ लिवा लाये और कहने लगे कि डाक्टरजी बड़े भक्ति-भाव से प्रेरित्त होकर श्रीसेवा में आये हैं। महाराजजी ने कहा, 'यार, दूर के ढोल सुहावने।' राधाकृष्णजी के हृदय में ऐसे ही भाव उठ रहे थे। महाराजजी के साधारण कपड़े अथवा रहन-सहन देख उनको भ्रम

हो रहा था । आपका निर्मल चित्त इस प्रकार ऋतम्भरा बुद्धि द्वारा बिना अनुमान अथवा तर्क के यथार्थ बोध प्राप्त करने का स्वभावी (आदी) हो चुका था । यह सब कठिन साधन अथवा ईश्वर-प्रसाद का फल था ।

अर्जुनदेवजी सेठी, स्वामी सोमतीर्थजी के पास रहकर कुछ व्रत इत्यादि कर आये थे। कनखल में श्रीसेवा में आये। उन्हें कुछ क्रियाओं का अभ्यास कराया गया। फिर थोड़ा साधारण रीति से भजन में भी लगाये गये। महाराजजी ने अनेक बातें समझाईं और कहा — "शुद्ध अन्न खाने का यत्न करना चाहिये।"

लाइलपुर से मुलकराजजी भी आये। आज्ञा माँगने पर स्वतन्त्र प्रबन्ध करके रहने का उपदेश हुआ। अपने स्थान पर कुछ एकान्त सेवन करते रहे थे। २०-२५ दिन बाद कुछ ऐसे कुसंस्कार जगे कि वह बड़े घबराये। सारा हाल अपने भाई से कहा। उसने उसकी ऐसी अवस्था देख महाराजजी से सहारा माँगा। इसी बिचार से मुलकराजजी यहाँ आए थे। हरिद्वार में दूर रहते थे। सत्संग में आते रहे। महाराजजी ने समझाया, "एकान्त सेवन हानिकारक नहीं, इसमें दबे हुए संस्कार भी उखड़ते हैं। वैसे उनका पता ही नहीं चलता। पता न चलने से उनको नाश करने का यत्न भी नहीं होता है। घबराने की कोई बात नहीं। विचार से सब संस्कारों को छिन्न-भिन्न करते रहना चाहिये।" फिर महाराजजी ने अनेक बार उपदेश देकर समझाया कि "किसी विषय में सुख नहीं है, मनुष्य दुःख को दूर करता है, इसीको सुख मान बैठता है। स्वतन्त्र रहने का यत्न करो। विचार-विवेक का आश्रय लेना चाहिये। सत्संग भी कुछ काल करते रहो।" यहाँ से, जब महाराजजी देहरादून गये, तो वे

भी वहाँ पहुँचे। स्थान थोड़ा होने से पास तो नहीं रह सके, स्वामी तारकानन्दजी के साथ, महन्त के बगीचे में, ठहरे रहे। थोड़े दिन बाद उनके भाई आये और उनको साथ ले गये।

साधुसिंहजी के पुत्र भगवन्तसिंह कई बार महाराजजी के दर्शन कर चुके थे। एफ० ए० की परीक्षा पास कर यहाँ सत्संग करने आये। कुछ षट क्रियाओं का अभ्यास भी सीखा। फिर साथ ही देहरादून चलकर सत्संग करते रहे।

बहुत दिनों बाद, स्वामीजी महाराज को उनके गुरु भाई स्वामी बलदेवानन्दजी के भी दर्शन हुए। कुछ वार्तालाप करते रहे। फिर एक दूसरे को आदर सम्मान दे विदा हुए।

इन्हीं दिनों यहाँ एक 'योगी देव' चमत्कारी पुरुष आये थे। उन्होंने कुछ चमत्कार दिखाये। एक दिन श्री दर्शनों को आये और अपनी महिमा अथवा साधन सिद्धियों का बखान करते रहे। महाराजजी को तो रुचि थी नहीं। उन्होंने इतना कहा, "सब प्रकार के लोग होने चाहिये, अच्छा है।" फिर वे गुरुकुल भी बुलाये गये पर वहाँ वह अपना प्रभाव न डाल सके।

चौथा प्रकरण

ईश्वराधार

देहरादून से मास्टर गौरीशंकरजी दर्शनों को आये और निवेदन करने लगे; "महाराजजी, कभी कृपा करके मेरे यहाँ भी चलकर रहिये। बहुत दिन से सत्संग नहीं हुआ, मेरा भी घर पवित्र होगा।" आपने कहा, "मेरा भी चित्त कर रहा था कि

देहरादून के आस-पास ही कहीं रहूँ।" शुरू जून में आप देहरादून पधारे और करनपुर में मास्टर गौरीशंकर के मकान में रहे। यहाँ पर भगवन्तसिंहजी के सहपाठी साईंदासजी आज्ञा-अनुसार पहले ही पहुँचे थे। कुछ दिन तो इकट्ठे ही शरीर-शुद्धि करते रहे, फिर भजन में दीक्षित हुए। दोनों ने ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में अनेक नियम उप-नियम ग्रहण किये। बड़े प्रेम अथवा विस्तार से गुरुजी सब ऊँच-नीच समझा कर दोनों को संयम के व्रत पर दृढ़ करते रहे। खान-पान में भी संयम का उपदेश किया, "ऊटपटांग खाने से मन-शुद्धि पर बुरा असर पड़ता है, बुद्धि के मलीन होने से चित्त बिगड़ जाता है, फिर कुसंस्कार दबा लेते हैं। इसलिये सात्विक अथवा नियमित आहार रहना जरूरी है।

आपने उन्हें स्वतन्त्रता से निर्वाह करने के लिये उपदेश दिया। खाना पकाने का थोड़ा अभ्यास कराया, "माता पिता की सेवा करना धर्म है, उनके आशीर्वाद से कल्याण होता है, पर यदि विवाह में रुचि न हो, तो बन्धन में नहीं पड़ना चाहिये। सब प्रकार के विघ्नों को सहन करते हुए माता-पिता के आगे अपना निश्चय भली-भाँति प्रगट कर, जैसे बने वैसे उन्हें समझा देना ही उचित है।" इस प्रकार दोनों मित्र संयम के पथ पर आरूढ़ होने लगे। बी० ए० की गणित का अभ्यास करते रहे। इसमें भी गुरुदेवजी सहायता देते रहे। फिर साईंदासजी अपने मित्रों के पत्र आने पर चले गये। इधर मास्टर साधुसिंहजी का स्कूल बन्द हो गया। यह भी सत्संग करने वहाँ चले आये और भगवन्तसिंह को घर भेजा, जिससे वह वहाँ भाइयों की निगरानी कर सके। वे भी पिता की आज्ञा पा कर जालन्धर लौट गये।

हरिद्वार से शीघ्र ही ला० नारायणदासजी, ला० वस्तीरामजी, स्वामी तारकानन्दजी, मुलकराजजी, और दंडी स्वामी चतुर्भुज आश्रमजी यहाँ आ गये। अपना स्वतन्त्र प्रबन्ध करके रहे। दण्डी स्वामी जी को क्रियायें कराईं। और प्राणायाम करा कर फिर ध्यान-मार्ग में लगाया। चार-पाँच मास सब लोग समय के अनुसार वहीं रहकर सत्संग करते रहे। शाम को सब दर्शन करने आते, उस समय साधुसिंहजी सुखमनीजी की कथा करते थे।

मास्टर गौरीशंकरजी पहले तो मित्र भाव से वर्तते थे। जब इतने लोगों को शरण में आते देखा, तो श्रद्धा बढ़ी। क्षमा माँगी, कि भूल से सखा मान आदर-अनादर का विचार नहीं किया। महाराजजी तो मित्रवत् सब से वर्ताव करते ही थे। अब मास्टरजी पूजा-भाव से आदर करने लगे और कहा :—

" सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम "॥
(४१, ४२), ११, गीता

आपने भी मास्टरजी के भाव को देखकर विशेष कृपा की। भजन साधन में अधिक सहायता दे अनुगृहीत किया। उनकी पुत्री लीलावतीजी भी सत्संग करती रहीं। गणित पढ़ने में महाराजजी से सहायता लेती रहीं। उन्होंने तब गणित लेकर बनारस यूनीवर्सिटी से बी० ए० पास किया था। महाराजजी से भजन भी सीखा। तभी से ब्रह्मचर्य व्रत से हैं, और विचार यही रहता है कि संयम से जीवन बिता कर देवियों की सेवा में रहें। सादगी से रहने का बहुत कुछ अभ्यास भी पड़ गया है। सरलता से रहने का उपदेश पाकर बहुत कुछ लाभ उठाया।

पं० गंगाप्रसादजी एम० ए० टेहरी से आये। अभ्यास सीखने की इच्छा थी। आहार-व्यवहार तो बहुत अच्छा था। आपने उन्हें थोड़ा प्राणायाम करा ध्यान में लगा दिया। कुछ दिन पास रहकर साधन करते रहे। उनकी मानसिक तथा शारीरिक अवस्था तो पहले ही बढ़ी थी, विचारशील भी थे, इसी से बहुत कुछ फ़ायदा उठा सके। फिर छुट्टी समाप्त होने पर चले गये। आज्ञा हुई कि सर्दी में कभी मिलना। उनकी बड़ी इच्छा थी कि आप वहीं टेहरी में चलकर रहें। पर यहाँ अनेक सत्संगी आये थे, उनको छोड़ जाना उचित न समझा। गरमी का भी कष्ट सहते रहे।

लुधियाना निवासी रामजीदासजी पहले जालन्धर में मिल चुके थे। यहाँ कुछ दिन रहे। आपने उनको शरीर की आन्तरिक शुद्धि कराई। पर अभी भजन में लगाने में चित्त नहीं होता था। कुछ दिनमें उनकी कमर में बड़े ज़ोर का दर्द हुआ। महाराजजी को पता चला तो कहा, "मेरा चित्त भी सुस्त था।" कुछ साधन तो कनखल में इसी साल सीखा था। पर यहाँ कुछ विशेष न सीख पाये। आहार-व्यवहार की शुद्धि अथवा वैराग्य दृढ़ करने के लिये उपदेश दे विदा कर दिया। कनखल में कुछ अनुभव प्राप्त कर संतुष्ट तो थे, पर अब लाचारी से वापस लौटना पड़ा, शरीर को ठीक करने की आज्ञा भी हुई थी, इसलिये वे शरीर की सेवा में लग गये।

मुलतान से धर्मचन्दजी, गिरधारीलालजी, पं० ज्येष्ठानन्दजी और पं० सदानन्दजी आये और कई दिन तक सत्संग करते रहे। कुछ देवियाँ भी वहाँ आईं पर श्री महाराजजी का दर्शन कर उसी दिन हरिद्वार लौट गईं।

अर्जुनदेवजी सेठी भी आये हुए थे, और बिजनौर की एक विधवा, एक बड़े धनाढ्य ठाकुर की स्त्री, कृष्णाकुमारीजी भी पहली

वार सेवा में आईं। यह देवी पहले स्वामी सोमतीर्थजी का कुछ सत्संग कर चुकी थीं। महाराजजी ने उन्हें बहुत तरह समझाया कि भजन में लगने से पहले, "धन-सम्पत्ति को धर्म कार्य में लगा इस झंझट से छुटकारा प्राप्त कर लो। यम-नियम का पालना बड़ा आवश्यक है। तपमय जीवन बनाओ। तीर्थ-यात्रा करो; खान-पान सादा और संयम से होना चाहिये। ठाठ को छोड़कर सरलता से रहो। स्वतंत्र रहने का अभ्यास करो, नौकरों से बहुत काम न लिया करो। विचार को धारण कर राग अथवा मान का मर्दन करो।" वह दो-तीन दिन रह कर लौट गईं।

फ़ारस्ट दफ़्तर के बा० आनन्दी प्रसाद, पार साल जब महाराजजी बद्रीनाथ को गये थे, मिले थे। स्वामी तारकानन्दजी का सत्संग करते थे। इस वर्ष अवसर पा विशेष लाभ उठाया। प्रभु ने भी कृपाकर सन्मार्ग में प्रवृत्त कर दिया।

कन्यालालजी सर्राफ़ ने किसी महात्मा से प्राणायाम सीखा था। आहार-व्यवहार तो साधन के अनुकूल था, पर कुछ विशेष अनुभव नहीं हुआ था। इसलिये संदेह था। श्रीसेवा में आकर शंका रक्खीं। स्वामीजी ने उन्हें एक दिन बुला ध्यान में लगाया। शीघ्रही कुछ उन्नति होने लगी। वे नियम से तो रहते थे। दुकान पर भी ११-१२ बजे जाते। पर इधर घुटने में कुछ दर्द रहने लगा जिससे बैठने में कष्ट होता। दवाई करके कुछ तो आराम हुआ, पर आसन दृढ़ होने में बाधा पड़ने लगी। यथा-तथा डटे रहे।

अर्जुनसिंहजी स्वामी तारकानन्दजी द्वारा पता पाकर सत्संग में आने लगे। स्त्री का देहान्त हो चुका था। चित्त डाँवाडोल था। पर सत्संग से उत्साह पाकर दृढ़ हो गया। दूसरे संयमी संगियों को देख निश्चय कर लिया कि बन्धन में न पड़ेंगे। कुछ जाप

आदि में भी लग गये। खान-पान के नियम पूछे, स्वतंत्रता से रहने के लिये बहुत-कुछ उपदेश ग्रहण किये। और भी कई एक जिज्ञासु सत्संग करने आते थे, वे भी कुछ भजन-साधन में भी लगाये गये।

थोड़े दिन पीछे गुरुकुल कांगड़ी से प्रो० लालचन्दजी, प्रो० देवराज जी सेठी, रामरखाजी, पं० महानन्दजी, पं० धर्मदेवजी और म० गोपालजी आये। एक मकान अलग लेकर रहने लगे। सत्संग करते रहते थे। श्री महाराजजी ने पं० धर्मदेवजी को इस वार साधन में लगाया। एक रोज़ पं० महानन्दजी सेठ लक्ष्मीचन्दजी को लिवा ले आये। वह कुछ बढ़-चढ़कर बातें करते थे। उनकी वनावट महाराजजी को पसन्द न आई और कहने लगे, "दो घण्टे ध्यान से कुछ नहीं होता, यह सब वृथा है। अपने में तो कुछ सामर्थ्य नहीं हम तो गृहस्थियों के कुत्ते हैं।" ऐसी दीनता तो सन्त लोग हमेशा से प्रकट करते आये हैं।

एक दिन आप तथा गौरीशंकरजी, ला० नारायणदासजी, साधुसिंहजी, लालचन्दजी, सेठीजी, डण्डी स्वामी चतुर्भुज आश्रम और रामरखाजी सब गुच्छूपानी गये। वहाँ एक बड़े तेज़ पानी का नाला है। उसको पार करते समय सबकी टाँगें डाँवाडोल होने लगीं, पर महाराजजी बड़ी दृढ़ता से उसको पार कर गये। यह देखकर सब लोग बड़े चकित थे। फिर आप टीला के ऊपर बड़ी तेज़ी से चढ़ने लगे। बाक़ी तो चढ़ने में भी डर खाते थे। पर आप तो ऐसे जा रहे थे, मानो खुली सड़क है। शर्म के मारे सबको हिम्मत आ गई और ऊपर गये। शरीर इतना कमज़ोर, अवस्था वृद्ध, पर फिर भी मानसिक बल लगा आगे रहा करते थे। चलने में भी बड़े तेज़ी से चला करते, मानों उड़े जा रहे हैं। जवान और बलवान साथी पीछे पछड़ जाते।

जब सैर करने जाते तो लालचन्दजी को बुला लिया करते। इतने प्रेम से बुलाते कि वह मुग्ध हो जाते। एक दिन उपदेश दिया, "फसल के समय किसान अन्न जमा कर लेता है, जब कमा रहे हो, तो रहने की कुटिया भी बना लो, कुछ रुपया भी जमा कर लो, ताकि जीवन निर्विघ्न समाप्त हो जाय।" इस प्रकार आप जहाँ परमार्थ का उपदेश देते, वहाँ व्यवहार में भी आराम पाने के साधन बताया करते थे। प्रो० लालचन्दजी के साथ जब आप घूमने जाते, तो कई वनस्पतियों के गुण बताते रहते, मानों वनस्पति शास्त्र (Botany) पर व्याख्यान दे रहे हैं। सब प्रकार से आप ज्ञान के भण्डार थे।

भिन्न-भिन्न जिज्ञासुओं को अपने-अपने रास्ते से अभ्यास में लगाते थे। एक दिन लालचन्दजी ने पूछा, "महाराजजी, आपने अपने गुरुजी से तो एक ही विधि सीखी होगी, फिर आप दूसरों को भिन्न-भिन्न मार्गों से कैसे चलाते हैं?" आपने कहा, "जब श्रद्धा से कोई मेरे पास आता है, तो मैं अपने आपको ईश्वर के सुपुर्द कर देता हूँ। जैसी प्रेरणा होती है, वैसे रास्ते में मैं उसको चलाता हूँ। उसी से ही उसको लाभ होता है।" आपका चित्त तो भगवान की लीला का क्रीड़ा-स्थल था। किसी विशेष विधि, मत, या पंथ का प्रचार तो अभीष्ट था नहीं, क्योंकि आपमें अहंकार का लेश भी नहीं रह गया था। प्रभु आदेश के अनुसार दूसरों की हित-साधना करते रहते थे। जैसे प्रभु सुझाते वैसा ही करते। योग में और ज्ञान में तो आप निपुण थे। परमात्म-देव से ही सब बल तथा ज्ञान प्राप्त करके प्राणियों का भला करते रहते थे।

एक दिन एक आर्य्य-समाजी भक्त महाराजजी को अपने घर भोजन कराने ले गये। वहाँ भोजन के बाद कुछ संशय निवारण करते रहे। मूर्ति-पूजा और श्राद्ध के सम्बन्ध में पूछने लगे। एक

आर्य्य पंडित भी वहाँ बैठे थे, वह क्रोध में आकर आप पर आक्षेप करने लगे। जब वितण्डा-विवाद देखा तो आपने चुप साध ली। वे आपस में ही वाद-विवाद करते रहे। कुछ एक आर्य्य आपके भक्त बन गये। शायद अन्य आर्य्य सज्जन आपका अपमान करना चाहते थे, पर आपने सहन-शीलता से ऐसा व्यवहार किया कि वह अवसर ही न पा सके।

धर्मचन्दजी भी यहाँ आए हुए थे, अनेक दिन सत्संग करते रहे। काम पर विजय पाने के नियम-उपनियम समझ शीघ्र लौट गये। काम का जीतना बड़ा दुष्कर है। साधक को बिना सहारे बड़ी मुशकिल पड़ती है, पर कष्ट होने पर जो डटा रहे वह बड़ा शूरवीर है।

देहरादून में आपके एक पुराने सहपाठी महाशय मुकरजी आप से मिलने आये। उन्होंने पूछा, "मैंने इतने समय में इतने लड़के-लड़कियाँ पैदा किये, पढ़ाये, कई एकों का विवाह किया, मकान बनाया, इतना रुपया जमा किया, तथा कुछ परोपकारार्थ दवाईखाना भी खोल दिया है, आप यह बतायें कि आपने इस मार्ग में क्या प्राप्त किया है ?" महाराजजी ने कहा, "हम क्या बतायें, हमने क्या किया है। जो कुछ बना बनाया था, उसका भी नाश कर दिया, और दूसरों को भी बिगाड़ने में सहायता दे रहे हैं।"

हम घर जाल्या आपणा, लिया मुराड़ा हाथि
अब घर जालौं तास का, जे चले हमारे साथि

यहाँ तो यह कथा थी। वह कहने लगे कि "यह तो समझ में नहीं आता।" 'बात तो ऐसी ही है।' अविद्या का नाश, अहंकार को मिटाना, खुदी को हटाना, यह कोई ऐसे काम नहीं, जो सांसारिक पुरुषों को जच सकें। आत्मा अथवा परमात्मा तो समीप ह ही, परदा ही हटाना है, मोह-अज्ञान को दूर करना

है। संस्कारों को छिन्न भिन्न कर देना है। यही जीवन का लक्ष्य है।

शहर में रहते हुए तो आराम-तलवी होने लगती है। तप अथवा स्वच्छ वायु सेवन के विचार से छुट्टी के दिन सबको जंगल में ले जाते, कभी एक ओर, कभी दूसरी ओर। वहीं लकड़ी इकट्ठी होती और खाना बनता। इस प्रकार बड़े तितिक्षा भाव से सारा दिन रहते थे। महाराजजी का यह भी विचार था कि वहाँ अनेक अच्छी-अच्छी तथा सूक्ष्म बातें सूझती हैं, जो जिज्ञासुओं के लिये अत्यन्त लाभकारी होती हैं। इसलिये भी वहाँ जाकर सत्संग लगाया करते। गौतमबुद्ध का नक़्शा सामने जम जाता। ऐसा अनेक बार हुआ। वे उपदेश कैसे अनमोल थे, यह वही कह सकते हैं, जिन्होंने उस अवसर से लाभ उठाया है। सहस्र धारा दो बार, और नाला पानी, राजपुरा, श्री तपकेश्वर महादेव, नवादा, चन्द्रमणि और सुन्दरवाला एक-एक बार गये। अपने को तो कष्ट ही रहता था, पर फिर भी भक्तों के हित का विचार कर सब प्रकार से उत्साह देते रहते थे।

यहाँ रहते हुए कुछ दिन खाँसी जुकाम चलता रहा। शेष १६ दाँत रहे थे, कभी कोई, कभी कोई कष्ट देते रहते थे। इसीलिये विचार हुआ कि एक बार सबको उखड़वा दिया जाय, जिससे बार-बार का झगड़ा समाप्त हो जाय। यद्यपि कुछ दाँत हिलते भी नहीं थे, जिनके उखाड़ने से कष्ट का भय स्वाभाविक था, पर जो निश्चय हो जाता, उसको दुःख के भय से कब छोड़ते थे। १० अक्तूबर को ८ दाँत निकलवा दिये, १२ अक्तूबर को शेष ८ निकलवा डाले। मजबूत होने के कारण खून अधिक गया, कई घण्टों तक जारी रहा, दर्द भी खूब रहा। पर दो-एक दिन में कुछ

आराम हो गया। शरीर तो कमज़ोर था ही, अब शेष कसर भी निकल गई। नज़ला तो कभी बढ़ता, लहर की तरह top (चोटी) पर पहुँच कर फिर कम हो जाता। त्रिकुटे की चाय का सहारा लिया, कभी बनफ़शा पिया, तथा कुछ दिन होम्योपैथिक औषधि भी चलती रही। पर यह सब कष्ट रहते हुए भी जिज्ञासुओं को सब प्रकार समय देते रहे। आप दया से परिपूर्ण थे। अतः दूसरे के दुःख अथवा मोह को देख अधीर हो उठते थे। जैसे बनता, उनका उद्धार करते रहते।

एक साधक श्रीनगर (गढ़वाल) में रहते हुये अभ्यास कर रहे थे। प्रतिज्ञा के अनुसार उनको वहीं रहना ही था। पर मार्च में उन्हें एक दूसरे महात्मा जी से एक संदेश मिला कि नीचे आकर मिलो। महाराजजी से आज्ञा माँगी, पर किसी कारण से उत्तर की प्रतीक्षा न कर सके। देहरादून पहुँच कर १८ मार्च को उक्त महात्माजी से दीक्षा ली। फिर जाकर अभ्यास में लग गये। अपनी अवस्था का समाचार महाराजजी को देते रहे, पर जिस बात में वह संतोष मानकर, परोपकार में लग, निष्काम सेवा करना चाहते थे, उसमें महाराजजी को संदेह था कि वह भ्रम में पड़, अपनी उन्नति को रास्ता में ही छोड़ रहे हैं। अस्तु, इसी विचार से आपने उनको चेतावनी भी दे दी, "जो लोग अपने-आपको कृतकृत्य समझकर पुरुषार्थ त्याग देते हैं और अपने-आपको जीवन-मुक्त समझकर असावधान हो जाते हैं, वे काल पा कर फिर गिरावट महसूस करते हैं। इसलिये, तुमको चाहिये कि सावधानी से रहते हुए वैराग्य को खूब परिपक्व करो, और देखो कि संसार में तुम्हारे मन का किञ्चित मात्र भी लगाव कहाँ प्रतीत होता है। चाहे वह गुरुकुल हो, या खादी का प्रचार हो, या देश की सेवा हो, या वेदों का पठन-पाठन या प्रचार,

या कोई अन्य धर्म-कार्य्य हो। तुम यह भी सोचो कि नीचे उतरो तो क्यों उतरो। पहाड़ में रहो, तो क्यों रहो? इस प्रश्न के जवाब से राग सिद्ध होता है, या वैराग्य। यह भी देखो कि नीचे देश में जो आजकल जीवनमुक्त देखने में आ रहे हैं, वे हैं तो ऊँच कोटि में, परन्तु मेरी बुद्धि उस अवस्था में नहीं ठहरना चाहती। शायद यह मेरी बुद्धि ही का दोष हो, परन्तु काम तो मुझे इससे ही लेना है, इससे मजबूरी है। अक्सर अभ्यासियों से सुनता हूँ, कि बस अब कार्य्य हो गया, अब कुछ करने को जी नहीं चाहता, परन्तु जब वे असावधान हो जाते हैं, तब थोड़े दिनों में ही रंग बदला हुआ देखा जाता है। इसलिये तुमको इस खतरे से बहुत सावधान रहना चाहिये। तुम स्वामी सत्यानन्दजी से भी राय ले लो और फिर जैसा उचित समझो वैसा करो। बिलकुल मर जाना चाहिये फिर न मरना पड़े।" पदार्थों की बाबत जैसा उचित समझना वैसा करना। नीचे जरूरत नहीं है। पर उन्हें नीचे चले आना ही ठीक प्रतीत हुआ। सितम्बर में वे नीचे आ गये। स्वामीजी महाराज से मिले। तब फिर भी महाराजजी समझाते रहे कि 'धोखे में नहीं पड़ना चाहिये।' पर मरना है बहुत कठिन। कोई विरला ही उस अवस्था को पहुँचता है। संत ने सत्य कहा है :—

'जीवित मृतक ह्वै रहे, तजै जगत की आस।
परिहरि सेवा आपण करै, मति दुख पावै दास॥'

पर ऐसी अवस्था में वही टिक सकता है, जिस पर प्रभु की कृपा हो। अथाह सृष्टि में कहीं न कहीं मन का अटकना हो ही जाता है। फिर भी जितना भी तप हो जावे, उतना ही भला है।

जाड़ा आ गया था, मुलतान के सत्संगी भी बुला रहे थे। आपके परम भक्त ने याचना की "महाराज, आप इस वर्ष

स्त्रियों को कड़े नियम से दूर रक्खें, तो अच्छा है। आपका समय बहुत लेती हैं, विचार न होने से आपकी बातों को कम पकड़ पाती हैं। पीछे सिद्ध बन कर ढोंग भी बनाती हैं। इस वर्ष आपका स्वास्थ्य दाँतों को उखड़वाने से और भी कमज़ोर हो रहा है, इसलिये भी कुछ आराम करना चाहिये। फिर यह सब होते हुए निन्दा मुफ़्त में होती है, हम भी इसी फेर में आ जाते हैं। लोग आपके भावों को कम समझते हैं। यह भी भय है कि आपके आदर्श की नक़ल कर दूसरे वृथा अनाचार भी फैला सकते हैं। यदि एक वर्ष आप कड़े नियम से रहेंगे, तो सबका मुख भी बन्द हो जायेगा, आपके शरीर की रक्षा होगी, उत्तम अधिकारी ही लाभ उठा सकेंगे तो अच्छा है। आप तो करुणा-वश दया ही करते हैं, पर हमें दुःख होता है, कि आपको यहाँ बुलवाकर इतने कष्ट में डाल देते हैं, सेवा करना तो दूर रहा। दास तो निवेदन ही कर सकता है, प्रभु की मरज़ी जैसी हो वैसा ही होगा। पर इतनी कृपा अवश्य हो कि आप मेरी प्रार्थना पर ध्यान देकर शरीर को भी कुछ आराम दें।" ऐसी याचना के उत्तर में आपने लिखा:– "प्रिय......जी, तुम्हारा पत्र प्राप्त हुआ, वृत्त ज्ञात हुए। पिछले साल मैं जैसा चाहता था कि स्त्रियाँ एक ख़ास दिन हफ़्ते में आ जाएँ और सब इकट्ठा निपट जाएँ, पीछे यदि किसी को ख़ास ज़रूरत हुई तब बीच में भी आ गई, सो बात तो चली नहीं। कुछ कारण ऐसे ही बन गये, जिससे मुझे अपने आपको स्वयम् कष्ट में डाल देना पड़ा ; परन्तु जिसको सहायता की ज़रूरत होती थी, उसके साथ दो औरों का आना आवश्यक होता था, इसलिये नियम टूट गया। और रामझरोखे में यद्यपि सराय की अपेक्षा आराम रहा ; परन्तु बेजा भीड़ फिर भी हो ही जाती थी। उस वक्त प्लेग की वजह से लोग

भयभीत थे, इसलिये मैंने कष्ट की परवाह न की और स्त्री पुरुषों से मिलता रहा, जिससे उनको कुछ शांति रहती थी। बदनामी तो स्त्रियों के संग होने से उनके मुआफ़िक़ हो होगी, पुरुषों के संग से वैसी होगी। केवल तुम्हारा ही अन्न खाने से और प्रकार की बदनामी होती है। सत्सङ्गी भी बुरा मनाते हैं, परन्तु किसी की बात न सुनकर जैसा परमात्मदेव बुद्धि देते हैं वैसा करता रहता हूँ। बदनामी होते रहना मैं अच्छा समझता हूँ, तुम्हारे में हिम्मत सहारने की न हो, तो मत बुलाओ। यदि तुम्हारे जीते जी मुलतान आना हुआ तो तुम्हारे भरोसे पर आऊँगा। जब तक तुम्हारा अन्न खाता हूँ तब तक मुलतान आकर नौकरी करने की हिम्मत रहती है। जब तुम बन्द कर दोगे या तुम्हारा शरीर न होगा, तब मैं आशा नहीं करता कि कभी मुलतान आना हो सके, क्योंकि मेरा चित्त दूसरे का अन्न खाने को चहाँ नहीं करता। और न दूसरे के प्रबन्ध में रहना चाहता हूँ, न दूसरा कोई मेरे भावों को ठीक-ठीक समझ ही सकता है। जब तक तुम में हिम्मत है, तभी तक गड़बड़ी है, जब तुम हिम्मत हार जाओगे, तब मेरे में भी बल नहीं रहेगा और अपने ख़यालात के अनुसार इस शरीर बंधन से शीघ्र मुक्त होने का यत्न करूंगा, क्योंकि मैं अच्छी तरह देख रहा हूँ, जब तक शरीर है, तब तक कुत्ता ही बनना पड़ता है; और ऐसे उदार कोई विरले ही होते हैं, जो उस कुत्ते को पेट भर के टुकड़े दें, कि जो उनके दरवाज़े पर बैठकर उनके घरकी रखवाली भी न करे।" जब अपना स्वार्थ न हो, दूसरे बात न समझें, खिलाने-वाले अपनी बदनामी का भय दिखायें, पेट के लिये दीन बनना पड़े, निष्काम दाता मिलना दुर्लभ हो, तो फिर ईश्वर से यही माँग रहती है कि 'अब झगड़ा बन्द कराओ।' स्वामीजी, दिनोदिन इस दीनता को बहुत अनुभव करते जा रहे थे।

सूरमा किसी भय से पीछे नहीं हटता। जब हृदय में भगवान ही सब नाच नचवा रहे हैं, तो फिर दूसरों के विचारों को कौन सुनता है? महापुरुष तो बदनामी का स्वागत करते हैं, और प्रभु को धन्यवाद देते हैं कि वे इस प्रकार अहंकार के नाश हो जाने की जाँच कराते रहते हैं।

कई वर्षों से पीठ पर खुजली होती रहती थी। सेठीजी की राय से एक्सरेज़ द्वारा इलाज (Rays exposure) कराया गया। १६ नवम्बर १६२७ को आप कनखल आ गये। यहाँ से फिर भी एक्सरे (Xray) के लिये देहरादून जाना पड़ा। यहाँ अन्तिम बार ला० हरीरामजी गुरुजी के दर्शनों को आये। कई दिन सत्संग करते रहे। दो रोज़ साथ सैर करने गये। एक रोज़ स्वामीजी ने उन्हें १ बजे बुलाया और दोनों नहर के किनारे किनारे दूर तक चले गये। स्वामी जी ने कहा "सब अभ्यासों से वैराग्य ही सबसे बढ़कर है और कल्याण करने वाला है। इस लिये वैराग्य बढ़ाया करो, अपनी मोटी-मोटी वासनाओं की असलियत पर सोचा करो। चौबीस घण्टे यही बात सोचा करो कि मन कहाँ अटका है"। फिर मुलतान चलने के लिये भी कहा, पर प्लेग की खबर सुनकर मुलतान का विचार छोड़ दिया। गुरुकुल के भक्त रात को वहाँ आ जाते थे। देहरादून में इतने दिन पास रहे, पर फिर भी अघाये नहीं थे। अधिक पास रहने की इच्छा रहती। रात को भी कई एक वहीं सो रहते थे।

स्वामी विशुद्धानन्द जी और स्वामी नित्यानन्द (वानप्रस्थी रल्यारामजी) यहाँ दर्शनों को आये। यह तो पहली बार यहाँ आये थे। भजन सीखने की इच्छा प्रकट की। महाराजजी ने कहा, "मुलतान में आना।" आपने पूछा, "कितना समय।" महाराजजी ने कहा, "समय तो पहले से नहीं कहते, रहना, फिर

देखा जायगा।" उन्होंने इस बात को मान लिया। नित्यानन्दजी ने कुछ सृष्टि अथवा ईश्वर के सम्बन्ध में पूछा। आपने कहा "कोई प्रश्न समझ में नहीं आता, तो दिल में क्या महसूस होता है।" उन्होंने जवाब दिया, "दूसरे की मदद ली जाती है, अगर हल नहीं होता तो छोड़ दिया जाता है।" इसी बात को स्पष्ट करने के लिये आपने भगवान बुद्ध का दृष्टांत दिया। एक समय उनके परम शिष्य आनन्द ने पूछा — 'महाराज, यह सृष्टि कैसे हो गई?' गौतमदेव चुप रहे। यह प्रश्न फिर पूछा, पर वे फिर भी शान्त रहे। फिर तीसरी बार पूछा, तब बुद्ध भगवान ने कहा, "जब तुम शिष्य हुए थे, तो क्या मैंने तुम से प्रतिज्ञा की थी कि मैं तुम्हारे हर एक प्रश्न का उत्तर दूंगा?" महापुरुष व्यर्थ उलझनों में किसी को नहीं डालते। बुद्धि का भी संयम आवश्यक है। जिस विषय से कुछ लाभ नहीं, उधर तवज्जोह क्यों दी जाये? लक्ष्य तो आनन्द प्राप्ति है, दुःख से छूटना है। बुद्ध भगवान ने अपने आपको सर्वज्ञ नहीं कहा। शान्ति का पथ दर्शाया। चेले अपने स्वार्थ के लिये बाद में ऐसी लीला करते हैं, भ्रम फैलाकर अपने गुरु को भी कष्ट में डाल देते हैं।

पांचवां प्रकरण

तितिक्षा

३० नवम्बर को हरिद्वार से चलकर आप जालन्धर पहुँचे। यहाँ सरदार साधुसिंहजी के यहाँ ठहरे। दो-तीन दिन में शेष सत्संगी भी यहाँ आ गये। प्रो० लालचन्दजी भी आये। अभी तो कई मास देहरादून में पास ही रहे थे, पर तृप्ति नहीं होती

थी। वे कहते थे — "मुलतान-वासियों में बड़ी श्रद्धा है, महाराजजी इतने दिन मुलतान ठहरते हैं, पर फिर भी यह दौड़े-दौड़े वहाँ पहुँचते हैं जहाँ श्री महाराजजी रहते हैं, हम तो इनसे भी गये गुज़रे हैं।" इसी विचार से वे कई बार समीप रह कृतार्थ होते रहे। यहाँ पर लालचन्दजी तो महाराजजी के पास ठहरे, शेष सज्जनों ने अपना-अपना स्वतन्त्र प्रबन्ध कर लिया।

बस्तीरामजी और नारायणदासजी शंकरपुरी में ठहरे थे। वहाँ पर ठहरे हुए दूसरे साधुओं ने इन्हीं के द्वारा महाराजजी का आगमन सुना तो दर्शनों को आए। किसी ने एक प्रश्न किया, "क्या वैराग्य के बिना भी ब्रह्म प्राप्ति हो सकती है?" आपने कहा, "पहाड़ पर लोग तो चक्कर लगाकर चढ़ते हैं, पर कोई वीर कटशार्ट अर्थात् सीधी पगडंडी पकड़, शेर की तरह झट से पहुँचने का यत्न करते हैं, पर पीठ पर पत्थरों की गठड़ी होने से नीचे गिरते हैं। विषयों में चित्त फँसा होने के कारण सारा परिश्रम निष्फल जाता है। ब्रह्म प्राप्ति नहीं कर सकते। पहले वैराग्य होना ज़रूरी है।" तब एक दूसरे साधु ने पूछा, "सीधा मार्ग क्या है?" हँसते हुए महाराजजी ने कहा, "बात कोई नई नहीं, आप सब जानते हैं, यथार्थ बोध को प्राप्त करो, उसी पर खड़े हो जाओ, पीतल को सोना मत समझो।"

कई भक्त बैठे थे, स्वामी बस्तीरामजी कुछ फूल लाये। एक फूल उठा कर आपने कहा, "अनुमान से तो यही समझ में आता है, कि सब गुलाबी होगा, पर दूसरी ओर सुफेद है, कितना धोखा है। अनुमान में ऐसा ही रहता है।" तब, स्वामी विशुद्धानन्दजी की ओर देखकर कहने लगे। "इस डण्डी को देखो, कैसी चमकती है, पर हाथ लगाने से खुरदरी मालूमी होती है। इसी प्रकार से संसार में बड़ा दुःख है, मनुष्य भ्रम में पड़ अनुमान

के सहारे धोखा खाते रहते हैं। यथार्थ बोध से ही यह मिट सकता है।"

कपूरथला के सत्संगी भी यथा अवसर सेवा में आ लाभ प्राप्त करते रहे। दो देवियाँ भी श्रीसेवा में आईं, उन्होंने उपदेश लिया। आपने दोनों को पति-भक्ति का आदेश दिया कि पति की सेवा और उसको सहायता देने में ही कल्याण है। फिर उन्होंने भजन-उपदेश ग्रहण किया। जालन्धर के भक्त भी श्री चरणों में बैठ अनुगृहीत होते रहे। लुधियाना से रामजीदासजी भी सेवा में पहुँचे। एक (Retired) रिटायर्ड हेड मास्टर पहली बार दर्शनों को आये। कुछ व्यावहारिक काम के कारण साधन में नहीं लग सके। अधिक समय मिलने पर पास रहने की आज्ञा हुई।

फगवाड़े के सिटीमैजिस्ट्रेट (City magistrate) भी मौक़ा पाकर आते रहे; विचार वैराग्य की बातें होती रहती थीं। ला० हरचरनदास (कपूरथलावाले) प्राणायाम के मार्ग से साधन कर रहे थे। भोजन का उत्तम प्रबन्ध न होने से कुछ विकार हो गया था। फिर ध्यान मार्ग से साधन में लगे। तब उनका कष्ट भी दूर हो गया और भजन में भी अच्छी अवस्था प्राप्त करली।

देवराजजी कपूरथले से आये। आपने उन्हें व्यावहारिक त्रुटियों को निवारण करने के लिये प्रायश्चित्त बताया। व्रत आदि से उनका चित्त शुद्ध हुआ। व्यवहार में परिवर्तन आने लगा और भजन में भी उन्नति हुई।

यहाँ एक अन्य माई ने भी अपने पति की आज्ञा पाकर साधन का उपदेश ग्रहण किया। महाराजजी ने पति-आज्ञा में रहने का उपदेश दिया। और यह भी कहा कि "यदि पति कोई ऐसी बात करे जो शास्त्र-प्रतिकूल हो, तो मधुर वाणी से उसे समझा दो और साथ ही अपना शुभ सङ्कल्प भी करती रहो।"

ऐसे उपदेश पर वह देवी आचरण करती रही। उसके पति मांस आदि खाते थे, वह बना तो दिया करती थी। साथ ही इस दूषण को छोड़ देने की प्रार्थना भी करती रहती थी। धीरे-धीरे उनकी रुचि मांस से हट गई। कभी-कभी यदि शर्म से कहीं खा लेते, तो बीमार पड़ जाते। इस प्रकार उस पुरुष से यह दूषण छूट गये और व्यवहार के अनेक दोष भी, पत्नी के शुद्ध भाव के कारण, धीरे धीरे हट गये। इस प्रकार प्रेम और सेवा के भाव ने विजय प्राप्त कर ली। सत्याग्रह में बड़ा बल है। आपने उस देवी का हृदय इतना पवित्र पाया कि उसकी आध्यात्मिक उन्नति को देखकर आपको कहना पड़ा "जैसा अभ्यास का अनुभव इस देवी को हुआ है, वैसा कम को हुआ, इसका चित्त वहुत शुद्ध है।"

मुलतान जाने के विचार से पहले ही प्रो० सदानन्दजी को कुछ (directions), हिदायतें दे दी थीं, कि ऐसा मकान हो। आपने लिखा था, "मकान ऐसी जगह हो, तो अच्छा होगा, जिसका पड़ोस ऐसों का हो जो मकान के पास ही टट्टी न फिर जायें और उनके अभक्ष्य भोजन की गंध भी न आया करे। (२) मकान बहुत वड़ा न हो, क्योंकि बाहर से यदि कोई आया, तो उसको वहाँ नहीं ठहरना होगा; वर्ना दरवाजा हर वक्त खुला रहता है और हर कस वा नाकस आ जाता है। (३) भोजन हम अपने आप ही पकायेंगे। (४) मकान में, हम दो और एक वहाँ का कोई रह सकेगा और बस। (५) मकान में तुम्हारे ज्ञान (knowledge) के अनुसार कोई घृणित पाप न हुआ हो, इत्यादि, इत्यादि।"

इसी आज्ञा के अनुसार भाई हुक्मचन्दजी की नई सराय ले ली गई। उसमें दो हिस्से थे, एक छोटा, दूसरा बड़ा। महाराजजी

को एकांत रहने का सुभीता था। यह है भी शहर से बाहर। घूमने को शीघ्र स्वच्छ वायु मिल सकती है। पीछे खेत जरा गन्दा था कि जिसको सफा करा कांटे लगवा दिये गये। महाराजजी फिर यहाँ से शीघ्र चल दिये और १५ दिसम्बर से पहले मुलतान आ गये।

यहाँ पर धीरे-धीरे सत्संगी भी श्रीचरणों में रहकर लाभ उठाने के लिये एकत्र होते गये। स्वामी विशुद्धानन्द, स्वामी नित्यानन्द (वानप्रस्थी रलाराम), ला० बस्तीराम, अर्जुनदेवजी (यह पहले ही पहुँच गये थे)। यह सब यहां पर कई मास रहते रहे। धर्मचन्द्जी. नारायणदासजी, डाक्टर राजाराम, मलिक राजाराम डेरहवाले, कन्हैयालालजी, सेठ हुक्मचन्द्जी आदि ने वहीं पास ही रहना निश्चय कर लिया ताकि एकांत वास प्राप्त कर, सत्संग भी अधिक कर सकें।

सेठ हुक्मचन्द्जी ने बड़ी श्रद्धा से स्थान दिया था। उनकी प्रबल इच्छा थी कि कुछ भजन साधन में लगें। कुछ नियम भी पालन किये। पर कड़े नियमों को पालन करने में असमर्थ होने के कारण बहुत लाभ न उठा सके। महाराजजी भी पहले तो उनको बहुत समय देते रहे, पर फिर उन्हें ढीला होते देख, पुरुषार्थ छोड़ दिया। इधर बड़े दिन की छुट्टी आई, उस अवसर पर कई एक सेवक दर्शनों को आये। कल्याणदेवजी चकवाल से थोड़े दिनों के लिये आये। नन्दलालजी और ला० गोविन्दरामजी भी दर्शन करने आये थे।

कृष्णकुमारजी भी इस अवसर पर कानपुर से आये। मोह में पड़, प्रारब्ध वश, आपका विवाह सरदार जैलासिंहजी की पुत्री से १९२७ वैशाख में हो गया था। आपका विचार था कि यदि किसी अभ्यास में लगी हुई देवी से सम्बन्ध हो, तो लाभ

होगा। इस देवी के सम्बन्ध में बड़ी प्रशंसा सुनी थी। उनके पिता का भी यह विचार था कि लड़कियों को अविवाहित रख-कर बड़ी चिन्ता में पड़ना पड़ता है। उन्होंने अपनी पुत्री का विवाह करना निश्चय कर लिया था। एक मित्र द्वारा ऐसा संयोग हो गया। वह देवी भी समझती थी कि कृष्णकुमारजी ने सत्संग किया हुआ है, सो कुछ सहारा रहेगा। फिर जब विवाह हो गया, तो दोनों ने शीघ्र ही अनुभव किया कि "विवाह बन्धन है। स्वतन्त्रता को छोड़कर कष्ट ही होता है। फिर काम से प्रेरित जो कर्म हो वह दुःख ही दिलाता है"। माया का मोह बड़ा है, किसी न किसी प्रकार से फंदा डाल पुरुष को फँसा देती है। कबीर साहब ने सत्य कहा है :—

माया महा ठगनी हम जानी।
केशव के कमला हो बैठी शिव के भवन भवानी।
योगी के योगिन हो बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी॥
भक्तन के भक्तिन हो बैठी, राजा के घर रानी।
पंडे के देवी हो बैठी, तीरथ में हो पानी॥

जब इस प्रकार दोनों को होश आया, तो कानपुर से श्री सेवा में पत्र भेजा, क्षमा प्रार्थना की, क्योंकि 'दोनों ने ही मोहवश आज्ञा का उल्लंघन किया था,' दर्शन की आज्ञा माँगी, और सहारे के लिये याचना की कि फिर ऊपर उठ सकें। आपने उत्तर दिया, "इस बात की तो खुशी है कि तुमको श्रेष्ठ देवी तुम्हारी सेवा के लिये प्राप्त हो गई, जो कि तुम्हारे इस तप का फल है, जो तुमने प्रथम स्त्री के साथ सहन किया था। परन्तु देवी हो या महा लक्ष्मी, आखिर माया का रूप है; और हाड़, मांस, चाम में कोई विशेषता नहीं देखता; इसलिये बन्धन चाहे सूत की रस्सी का हो, चाहे रेशम की रस्सी का हो, वह बन्धन

ही है । दोनों रस्सियाँ मनुष्य को स्वतन्त्रता पूर्वक चलने से महरूम रखती हैं । तुम इन सब बातों को स्वयम् समझते हो, विशेष लिखना फ़जूल है । स्त्री चाहे देवी हो, चाहे भक्तिन हो, चाहे योगिन हो, वह पुरुष को बन्धन ही प्रतीत होगी । हाँ, जिसको विचार नहीं है, और कामान्ध है, उसकी बात निराली है । जो जीव ऊँचे चढ़कर गिरते हैं, उन पर तरस ज़रूर आता है, परन्तु लाचारी है, माया अति बली है, प्रभु ही रक्षा करें, तो मनुष्य इसके फंदे से छूटे, वरना बहुत कठिन है । तुमने जो दर्शनों के लिये आज्ञा माँगी है, यह नई बात है, जो पहले कभी नहीं हुई थी । तुमने कौन सा मेरा अपराध किया है, जिससे तुमको संकोच होता है । यदि तुमने सोने की बेड़ियाँ ली हैं, तो अपने ही पैरों में पहनने के लिये हैं, उनसे मेरा क्या बिगड़ता है, जिससे तुम अपने को क़सूरवान समझते हो । प्रत्येक पुरुष अपने जीवन को खास ढंग पर चलाने के लिये स्वतन्त्र है, इसमें दूसरे को क्या । यदि तुम नहीं रुक सके, तो दूसरे का क्या बिगड़ा ? यदि लाभ होगा तो तुम्हीं को होगा, यदि हानि हुई तो भी तुम्हारी ही होगी । इसके लिये तुमको बिलकुल ख़याल नहीं करना चाहिये कि मैं तुमसे कभी नाराज़ हूँगा, अलबत्ता गिरावट को देखकर तरस ज़रूर आता है, परन्तु बेबसी है ।"

आप शिष्यों की कमज़ोरी की किस उदार भाव से उपेक्षा करते थे । क्षमा तो तब करें, जब क्रोध किया हो । ऐसी क्षमता और सहनशीलता सन्तों को ही शोभा देती है । जहाँ देवी की प्रशंसा करते हैं, वहाँ उपदेश का अवसर पा बड़े करुणामय, हृदय को विदीर्ण करनेवाले, दुःख से भरे अथवा चोटदार शब्दों में चेतावनी भी देते हैं । गिरते को सहारा भला और कौन दे सकता है । यदि सन्तों की दया अपार न हो, तो भटकते प्राणियों

को कौन राह लगाये ? महापुरुषों की अगाध कृपा तथा असीम अनुग्रह से ही गिरते उठते जिज्ञासु को हिम्मत आ जाती है। ऐसे प्रभु की सत्संगति पाकर भी जिन्होंने अमूल्य अवसर हाथ से खो दिया, वे सचमुच ही भाग्यहीन हैं। पर माया बड़ी प्रबल है, प्रभु ही उससे रक्षा कर सकते हैं। फिर भी कृपा के सागर गुरुदेव ने ढाढ़स दी, "जब मनुष्य अपने विचार के अनुसार चलने के लिये, कठिनाई झेलने को भी तैयार रहता है, तब प्रभु भी सहायता देते हैं। Man can do what man has done, जो किसी मनुष्य ने कर दिखलाया है, वह दूसरा मनुष्य भी कर सकता है।" उदासी और पश्चात्ताप में पड़ फिर संयम से रहने का विचार हुआ, तो महाराजजी ने आगाह कर दिया, "जब तक पुराना कृष्णकुमार मर न जाय, तब तक इस व्रत पर दृढ़ रहना संभव नहीं है।" मरने की इच्छा को ले दम्पति श्रीचरणों में गये। बहुत प्रकार से समझाया। अनेक साधन और नियम-उपनियम बतलाए, साथ ही यह भी कहा, "यदि वेदकुमारी को एक सन्तान हो जाय तो उसको सहारा रहेगा"। अस्तु कृपालु भगवान ने बड़ी कृपा कर डूबते प्राणियों को सहारा दे पार होने का मार्ग सुझाया।

इन दिनों में स्वामीजी प्रातः और सायं दोनों समय घूमने जाया करते थे। सायंकाल तो नाले के किनारे दूर-दूर चले जाते वहाँ जंगल में बैठ जाते और शिष्यों को उपदेश देते। प्रश्न उत्तर होते। ऐसा प्रतीत होता कि शाक्य मुनि गोतम भिक्षुओं को उपदेश कर रहे हैं। इस बार तो यही विचार चलता था कि "संसार में दुःख है, सब प्राणी जो कुछ करते हैं, वे दुःख को दूर अथवा कम करने के लिये करते हैं।" अनेक कर्मों की विवेचना करके समझाते और ऐसे उपदेशों से वैराग्य को पुष्ट करते थे।

दो-चार रोज़ कृष्णकुमारजी को भी साथ जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस मंडली में उन दिनों, प्रो० सदानन्दजी, पं० शिवरामदासजी, जैसासिंहजी, लाला नारायणदासजी, डा० ज्ञानसिंहजी आदि अनेक सज्जन जाया करते थे। दुःख की विवेचना होती रहती थी। एक दिन मोह का प्रसंग चला तो महाराजजी ने कहा, "देखो, जिनको हम अपना कहते हैं, देखना चाहिये कि वास्तव में वह कितने अंश में अपने हैं। विचार से यही पता चलता है कि कभी-कभी हमारी इच्छा-पूर्ति में सहायक हो जाते हैं। इसीसे मन कल्पना कर लेता है कि वे अपने हैं। यदि हम निष्पक्ष भाव से देखें, तो पता चलता है कि मोह की गुञ्जाइश ही नहीं।" सायंकाल की बैठक में अँगीठी जला करती, वहाँ सब लोग बैठते और श्री गुरुजी उचित उपदेश देते, शंका निवारण करते और प्रश्नों के उत्तर देते रहते थे। दाँत तो मुख में थे ही नहीं। आकृति में भी कुछ भेद पड़ गया था, पर फिर भी शब्द बड़ी सावधानी से निकालते थे।

यहां ही उन दिनों कन्हैयालाल जी ने पानी पर चान्द्रायण व्रत किया, छः दिन में घबरा गये, पर महाराजजी ने कुछ ऐसा बल प्राप्त करा दिया कि उनका व्रत निर्विघ्न समाप्त हो गया। एक ठठेरा भी साधन के लिये आया, उसको १२ दिन का अनशन व्रत करने को कहा। व्रत शुरू हुआ। खुशीरामजी अथवा स्वामी नारायणहरिजी को देख-भाल करने की आज्ञा हुई, पर वह छः दिन में घबरा कर व्रत छोड़ बैठे। पीछे जब गुरुजी से उपदेश लेने आये, तो आपने इन्कार कर दिया, और कहा :— "अभी, पहले ही तुम घबरा गये हो, तो पीछे कठिनाइयों को कैसे झेल सकोगे। तुम पहिली परीक्षा में ही फेल हो गये हो, बल प्राप्त करो।"

इन दिनों दोपहर को स्वामी विशुद्धानन्दजी दर्शनों की कथा करते थे। अनेक सत्संगी उसमें जाते। जो कुछ समझ में न आता वह सायंकाल को महाराजजी के सामने पेश कर पूछा करते। इस प्रकार अनेकों सूक्ष्म विचार चला करते और जटिल समस्यायें हल होतीं।

इस वार स्त्रियों को अधिकतर आने के लिये मना कर दिया गया था। कई तो महाराजजी के भ्रमणार्थ आते-जाते समय दर्शन कर लेतीं, सराय के फाटक पर इसी प्रतीक्षा में रहतीं। सप्ताह में एक वार आप कोठे पर खड़े हो जाते, तब सब दर्शन कर लेतीं। किसी को विशेष उपदेश की जरूरत होती, तो या तो लिख भेजते, या बुलवाकर समझा देते। आम झमेला बहुत कम रहा।

आपने डा० राजारामजी को षट-क्रियाओं का अभ्यास करा साधन में सहायता की और काम-क्रोध जीतने के लिये विशेष समझाया। व्यवहार में सरलता के नियम बतलाये, बहुत लाभ हुआ।

खांसी-जुकाम के कारण डाक्टरों की राय से गले का कव्वा कटवाना निश्चय हुआ। पर क़ैंची ही कुन्द मिली। बड़ी मुशकिल से डाक्टर वासुरामजी उसको काट पाये, जिससे कष्ट विशेष हुआ। दो-तीन दिन तक तो बड़ा दुःख रहा, पीछे खांसी जुकाम में भी कुछ अच्छा परिवर्तन हुआ।

डा० जयदेव पहले रामझरोखे में दर्शन करने आये थे। उस समय विशेष लाभ नहीं उठा सके थे। उन्होंने दाँतों के सम्बन्ध में कहा था कि 'कमजोर हो गये हैं, कुछ बनवा लिये जायें।' महाराजजी ने कहा, "काम तो चला जाता है, जब सब टूट जायेंगे तो देखा जावेगा।" प्रो० सदानन्दजी और पं० शिव-रामदासजी चाहते थे कि लाहौर जाकर अच्छे दाँत बनवा लिये

जायें। पर आपने यही कहा कि डा० जयदेवजी ने प्रेम से कहा था, उन्हीं से ही सेवा लेनी चाहिये। फिर वह भी एक दिन आये और उन्होंने अपना प्रस्ताव दुहराया। बड़े परिश्रम और प्रेम से दाँत बनाये गये। खाने के समय उनका प्रयोग कर लेते। पहले तो वह कुछ कष्ट-दायक थे, पर धीरे-धीरे ठीक हो गये। यदि लाहौर से दाँत अच्छे बनते पर वृथा खरचा बढ़ाना आप को अच्छा नहीं लगता था। इस कारण भी दाँत वहां ही भक्त से बनवा लिये गये।

डा० जयदेवजी के प्रेम और सेवा-भाव से प्रभावित हो महाराजजी ने उनको भी सन्मार्ग में लगाया। अपने सामने बैठाकर ध्यान कराया। पहले दिन ही कुछ अनुभव हुआ, उनका चित्त लगने लगा। फिर उसी प्रकार अभ्यास करते रहने का आदेश किया। आहार-व्यवहार को अधिक शुद्ध करने का उपदेश देकर कृतार्थ किया। यथा अवसर, वह फिर भी समय लेकर साधन में विशेष सहायता लेते रहे।

पुराने सत्संगी भी यथा अवसर सेवा में आ सहायता लेते रहे। सायंकाल के सत्संग में बहुत सज्जन लाभ उठाते थे। वैराग्य पर ही विशेष वार्तालाप होती थी। काम, क्रोध आदि विषयों को विजय करने की भी बात-चीत चलती।

बड़े दिन की छुट्टी में भी देवकीनन्दनजी दुबारा क्वेटा से आये, श्रीचरणों में बैठ सहायता ले थोड़े दिन पीछे लौट गये।

अनेक बार, सत्संग में, प्रश्न उत्तर होते थे। महाराजजी ने एक दिन क्रोध के सम्बन्ध में एक कथा कही। 'एक सुनार बहुत दिन किसी महात्मा की संगति में रहा, और सेवा भी करता रहा। जो कुछ दूसरों से कहते, वह सब सुनता रहता था। एक दिन उसने कहा, 'भगवान मुझे कुछ उपदेश दें।' उन्होंने कहा,

'बाजार से दो पैसे की मूली ले आओ।' जब वह जा रहा था, तो दूर से बुलाया, ' अरे, भाई, इधर आना,' जब वह आया, तो समझाया कि मूली नर्म और हरी हो। ऐसे कई बार बुला-बुला कर उसको कहा। पर उसे क्रोध न आया। जब मूली ले आया, तो महात्माजी ने पूछा, 'तुमको क्रोध क्यों नहीं आया ?' भक्त ने बड़ी निरभिमानता से कहा, ' आपकी दया से क्रोध तो नहीं आया।' तब महात्माजी ने कहा, 'यही हमारा उपदेश है, बिना मान अथवा क्रोध के सब काम किया करो।' इस पर महाराजजी ने कहा, " व्यवहार में मन की जाँच करते हुए इसके विकारों को नाश कर समता-भाव से सब काम करना चाहिये, यही उत्तम अवस्था है।"

लोभ के सम्बन्ध में ऐसा उपदेश दिया—" कमाते हुए, चित्त को धन वैभव से रजा देना चाहिये, विचार भी करना चाहिये कि अधिक रुपया से कितना लाभ है और कितनी हानि। जो लोग भूखे ही घर से निकलते हैं वह पीछे जाइदाद की चाह में पड़ मठधारी बनकर गिर जाते हैं।"

एक सज्जन की इच्छा हुई कि महाराजजी उसके घर का भोजन स्वीकार करें। उन्होंने इनकार कर दिया। तब वह बोले ' साधु तो दयालु होते हैं, जैसा निवेदन किया जाय, मान लेते हैं।' इस पर महाराजजी ने कहा, " हाँ, साधु पशु होते हैं, जैसा चाहो, कान से पकड़ कर नचा लो।" तब वह बड़ा शरमिन्दा हुआ और क्षमा माँग कर भोजन करने के लिये फिर याचना की। तब महाराजजी ने कहा, " यदि तुम पाप से बचने की प्रतिज्ञा करो, तो हम तुम्हारा भोजन ग्रहण कर लेंगे।" यह उसको न मान सके। तो आपने भी इनकार कर दिया। इस प्रकार स्वामीजी की दृष्टि प्राणियों के उद्धार पर ही रहती थी।

एक व्यक्ति ने पूछा कि शास्त्र में मांस खाना लिखा है। महाराजजी ने कहा, "हाँ, जो पुरुष हिंसक योनि से आया है, उसको मांस खाने का स्वभाव है, तो झट कैसे छोड़ सकता है। उसको शास्त्र में विश्वास है, तो उसकी विधि से खायेगा। शास्त्र कहता है, शिकार करके खाओ। इसमें कुछ कष्ट भी है, तो धीरे-धीरे समझ में आ जायेगी। शास्त्र में यह भी कहा है कि यज्ञ में विशेष विधि से मार कर खाना चाहिये, इसमें भी बड़ा बन्धन है। इस प्रकार नियमों में रख कर शास्त्र रुचि को हटाना चाहता है। फिर यह भी कहा कि यदि न खाये तो अच्छा है। शास्त्र तो अपनी श्रद्धा को बनाये रखना चाहता है। फिर अपने अनेक बन्धनों की सहायता से पाप से बचाना चाहता है। शास्त्र की मन्शा तो हमें पुण्य की ओर ले जाने की है।"

एक सत्संगी ने कहा, "हम कर्म नहीं करते। ईश्वर ही सब कुछ करता है, चाहे वह कर्म अच्छा हो या बुरा।" आपने समझाया—"वह ऐसा नहीं करा सकता। जो राजा अपने नियमों को स्वयम् तोड़ दे, उसका राज नहीं चल सकता। जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है। यदि ऐसा ही मानते हो, तो दुःख का रोना क्यों रोते रहते हो? पाप छोड़ते नहीं, लोभ में मारे-मारे फिरते हैं, मोह आदि विकारों को जीता नहीं, धर्म ज्ञान कहने लगे, मानों धर्म को तुम्हींने ही समझा है। यह कपट है। कबीर साहब ने सच कहा है, "गृहस्थी होये कथे ज्ञान, भंग पी कर धरे ध्यान, वैरागी हो कूटे भग, कहत कबीर यह तीनों ठग"; यह ठगी छोड़ो। पहले चित्त को शुद्ध करो, फिर ईश्वर क्या करता है, यह समझ में आयेगा। अपनी कमजोरी से बचने के लिये, ईश्वर पर दोष मत लगाओ।"

इस प्रकार अनेक दिन सत्संग होता रहा। इस बार गरमी

सहने का विचार था। इसलिये यहां रहते रहे। कुछ दिन बाद भाई हुक्मचन्दजी को स्थान की जरूरत पड़ी, तो आप वैसाखी के बाद ब्रह्म घाट में चले गये। स्वामी नित्यानन्दजी तो लाहौर चले गये। कुछ दिन में धीरे धीरे शेष बाहर के लोग भी अपने अपने स्थान को चल दिये।

संसार में सब प्रकार के लोग हैं। कोई मान चाहते हैं, कोई अपनी इष्ट-पूर्ति में लगे हैं। संत तो सबको समान देखते हैं। जो धर्म-पथ पर आरूढ़ नहीं होते, वह संतों को अच्छे नहीं लगते। धर्म के नाते ही वह मनुष्यों से प्रेम करते हैं; पर काम, क्रोध, मान, बड़ाई, लोभ, मोहके मद में जो चूर हैं वे इसको कब समझ सकते हैं? अपनी इच्छापूर्त्ति में बाधा देख, मानहानि को न सह सकने के कारण झट विरोध पर उतारू हो जाते हैं। इस स्थान पर स्त्रियाँ सब इकट्ठी होकर सत्संग में आती रहती थीं। महाराजजी उनको उपदेश देते और कभी-कभी विनय-पत्रिका की कथा सुनाते। ऐसे ही, एक दिन जब ५० देवियाँ इसी स्थान में एक बड़े कमरे में बैठी कथा सुन रही थीं, तो दो-चार दुष्ट व्यक्तियों ने बाहर से दरवाजा खोलने के लिये कहा। स्वामी नारायणहरिजी ने दरवाजा न खोला, तो वे गाली देने लगे। कुछ देवियों ने भी जाकर उनको फटकारा, "तुम बड़े धर्म-धर्म चिल्लाते हो, तुम्हें शर्म नहीं आती, जो निरपराध महात्माओं को गाली देते हो। हम क्या पाप कर रही हैं, जो तुम ऐसा उत्पात मचाने आये हो। देख नहीं रहे कि सामने कथा हो रही है"। तब वह शरम खा गये। उसी दिन नारायणहरिजी बाजार में पंसारी लालचंदजी से औषधि लेने गये। दो बदमाश वहाँ खड़े थे। एक हलवाई को साथ लेकर आपको गाली देने लगे। आप सब सुनते रहे। फिर जब लालचन्द जी ने पूछा, तो आपने दिन की सारी कथा सुनाई कि "इनके हृदय

में ऐसी भावना हो गई है। उसीके वश हो यह ऐसा कहते हैं, इनका क्या दोष है ?" वह और भी तेज़ हो गये। शोर होने से कुछ लोग भी वहां जमा हो गये। इतने में एक पढ़े-लिखे सज्जन वहां आये। वह सब हाल सुनकर उन बदमाशों को धमकाने लगे। "तुमको शरम नहीं आती; महात्माओं को गाली देते हो। आज कल के ज़माने में स्वामी सियारामजी जैसा कोई सन्त ही नहीं है कि जिसने ऐसी सावधानी से ब्रह्मचर्य को पाला है। देवियां ऐसे महात्मा के पास जाती हैं तो क्या बुरा करती हैं ? यदि तुमको संदेह है-भी, तो तुम अपनी माँ-बहिनों को क्यों नहीं मना करते। वह किसीको बुलाने जाते हैं ? क्यों वे मारी-मारी फिरती हैं। पाप से डरो, सती-साध्वी देवियों पर कलंक न लगाओ। साधु को सताकर अनर्थ मत करो, ईश्वर से डरो।" तब वह क्षमा मांग चले गये। इधर जब महाराजजी के भक्तों को पता चला, तो वह मालूम करने लगे कि किनकी शरारत है। पता करने पर यही निश्चय हुआ कि सभ्य पढ़े-लिखे आदमियों ने ही मूर्खों को बहका कर अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहा था। धर्म के ठेकेदार कोरे पढ़े-लिखे मनुष्य समाज का क्या उद्धार कर सकते हैं, जो इस प्रकार पाप से भय नहीं खाते और झूठ-मूठ महात्माओं और देवियों पर दोषारोपण करने पर तैयार हो जाते हैं। पर यहाँ तो दामन पाक था। आप उसी प्रकार अपने अमृतरूपी वचनों से स्त्री-पुरुषों को परमार्थ का उपदेश देते रहे। भय तो वहाँ हो, जहाँ पाप है। संत तो पाप से हट कर ही निर्भय पद प्राप्त करते हैं। सृष्टि में बड़े-बड़े महापुरुषों का विरोध दुष्ट आदमी किसी न किसी आड़ से करते रहते हैं। महाराजजी भी असली कारण को जानते थे, इसलिये वे अचल रहे।

इस वार आप ऐसा यत्न कर रहे थे कि नई स्त्रियों को पुरानी अभ्यासिनियों की सहायता से उपदेश दिलाते रहे। आपका लक्ष्य था कि देवियाँ स्वतन्त्र हो जायें, पीछे भटकती न रहें। इस उद्देश्य में आपको बहुत-कुछ सफलता भी प्राप्त हुई।

इस वर्ष ब्रह्मचारी जगन्नाथ, जो डा० जयदेवजी के संग कुछ काम करते थे उनको देख सत्संग में आते रहे, फिर भजन-साधन में भी लगे। पं० हरीदत्तजी स्नातक (गुरुकुल कांगड़ी) मुलतान छावनी में रहते थे। वे भी सत्संग करते रहे। आप वचारवान तथा शुद्ध व्यवहार के पुरुष थे, अतः साधन में लगाये गये। विचार मार्ग से चले। महाराजजी की सहायता पा मन के विकारों को जीतने में विचार द्वारा परिश्रम करने लगे।

गरमी बढ़ती गई। इन्हीं दिनों, प्रो० कृष्णकुमारजी भी छुट्टियों के कारण यहाँ आये। धर्मपत्नी सहित सेवा में बैठ उत्साह पूर्वक उपदेश लिया। बख्शी रामदासजी जम्मू से आये और प्रो० सदानन्द जी के पास ठहरे। एक सप्ताह सत्संग करते रहे। अजमेर से देवीदत्तजी गृहिणी सहित दर्शन को आये। प्रो० सदानन्दजी के यहाँ एक सप्ताह रह सत्संग में आते रहे। मा० कल्याणदेवजी स्कूल का काम छोड़कर प्रभु की शरण में आये और गोपाल-घाट में ठहराये गये। १९१७-१८ से बराबर सत्संग करते चले आते थे। अब दृढ़ विचार था कि श्री सेवा में रहकर जीवन को कृतार्थ करें। स्वामीजी गरमी के दिनों में बड़े प्रातः घूमने जाते। दो बार स्नान करते, जौ का दलिया ठंडे साग अथवा जौ की रोटी खाते। पानी के बजाय अर्क पीते थे कि जिससे गरमी सहारने में सहायता रहती। सायंकाल को आम सत्संग होता, जिसमें अनेक भक्त आकर परमार्थ की बातें सुनते थे। १९१२ से, १६ वर्षों के बाद गरमी सहारने का

मौक़ा मिला था। कुछ सत्संगियों को सहायता देनी थी, इसी विचार से आप जून के अन्त तक ठहरे रहे। सायंकाल को सत्संग में बैठे-बैठे लेट जाते, कहते "लेटने से गरमी कम होती है।" गरमी को रोकने के लिये ठंडी चीजों का प्रयोग करते रहते थे, जिससे बाद में नजले ने सताना शुरू किया।

छठा प्रकरण

सत्संग

२४ जून को महाराज जी यहाँ से चल दिये। सायंकाल को सूचना दी कि 'आज रात्रि को जायेंगे।' स्त्रियों को भी किसी प्रकार पता चल गया। छावनी स्टेशन से चले। कई देवियाँ शहर स्टेशन पर पहुँचीं; कोई छावनी पर गईं; मुहर्रम के दिन थे, आँधी भी खूब आई, फिर भी अनेक भक्त जन स्टेशन पर पहुँच गये। ऐसा प्रतीत हुआ कि अन्तिम समय का मेला है। बड़े प्रेम से सब को प्रणाम करते रहे। इस बार पं० शिवरामदासजी के बहुत आग्रह पर रेल का किराया उनसे लिया। गरमी के कारण दूसरे दर्जे में सफ़र किया, नहीं तो प्राय: तीसरे या कभी-कभी ड्योढ़े दर्जे में जाया करते थे। इतने भक्त होते हुए भी आपका उन पर वृथा बोझ डालने को चित्त नहीं करता था। आप तो शरीर के निमित्त भी सहायता लेने में संकोच अथवा बड़ी दीनता व दुःख प्रतीत करते थे, और प्रभु से याचना करते रहते कि "अब बहुत बेगार भुगत ली; शरण में ले लो।" जब चलते समय आँधी देखी, तो खुशीरामजी के चित्त

में आया कि ऐसा प्रतीत होता है कि अब फिर शायद मुलतान को आपके दर्शनों का सौभाग्य नहीं मिलेगा। आँधी आने वाले कष्ट की सूचना दे रही थी कि अब यहाँ अज्ञान की घटा छाई रहेगी। ऐसा ही हुआ।

लाहौर में टेकचन्द जी स्टेशन पर मिलने आये। महाराजजी ने यहीं ठहर कर भोजन किया। कुछ देर वेटिंग रूम में रहे। फिर सायंकाल की गाड़ी से ६–७ बजे जालन्धर पहुँच गये। एक सप्ताह तक साधुसिंह जी के पास रहे। सब सत्संगियों को दर्शन करने का अवसर मिला। कपूरथला, लुधियाना, फगवाड़ा आदि से अनेक भक्त सत्संग करने आये। यहाँ से सीधे देहरादून पहुँचे। भगवन्तसिंह भी साथ चले। रास्ते में लुधियाना के सेवक फिर दर्शनों को आये। हरिद्वार उतरने का विचार भी था, पर जब हरिद्वार पहुँचे, तो बड़ी वर्षा हो रही थी, इससे आगे ही चले गये। सीधे ही महन्त की धर्मशाला में पहुँचे, वहाँ ही क्षेत्र में भोजन किया। यहाँ किसी को सूचना तो थी ही नहीं। वहीं क्षेत्र में स्वामी तारकानन्द जी भी मिल गये। फिर महन्त की आज्ञा और प्रबन्ध से एक दूसरी धर्मशाला में रहने लगे। वहां स्थान अच्छा था। कुछ दिन तक एक भक्त के यहाँ से भोजन आता रहा। उसकी बड़ी इच्छा थी कि उसको ऐसी सेवा का अवसर मिले। पीछे झब्बालालजी, और अर्जुनसिंहजी का पता चला, तो उनके घर से भी भोजन बारी-बारी आता रहा। फिर मा० गौरीशंकरजी को भी पता चला। स्थान के प्रबन्ध करने का विचार हुआ। पारसाल के भ्रमण में नवादा स्थान आपको अच्छा लगा था; पर वहाँ पहले ही कुछ साधु आये हुए थे। फिर झब्बालालजी के द्वारा सेठ लक्ष्मीचन्दजी की आज्ञा ले डालनवाला 'मोहनी-भवन' में रहने का

प्रबन्ध किया गया। १० जुलाई १६२८ को यहाँ आकर डेरा लगा दिया। स्थान अच्छा खुला है, शहर से दूर है, जंगल क़रीब है। भक्तों के रहने के लिये भी यहाँ पर्याप्त स्थान था।

सूचना पाकर सत्संगी भी आने लगे। मा० कल्याणदेव जी, स्वामी नित्यानन्दजी और लाला नारायणदासजी पहले ही आ गये थे। शहर में एक दूसरी धर्मशाला में रहने लगे थे। यह लोग दो-ढाई बजे इस स्थान पर आकर सत्संग किया करते थे।

श्रीयुत गोपाल जी और देवराजजी मसूरी पहुँचे हुए थे। सूचना पाकर शीघ्र आ गये। गोपालजी तो तीन-चार रोज़ श्रीसेवा में रहकर लौट गये। देवराजजी सेठी १ वर्ष की छुट्टी लाये थे, इसी से यहाँ ही स्थान का प्रबन्ध कर स्थिर रूप से रहने लगे। स्वामी विवेकानन्द पारसाल तो अवसर न पा सके थे, इस वर्ष पता पाकर, शीघ्र ही कनखल से यहाँ पहुँचे और सेठीजी के साथ एक कोठरी में ठहराये गये। बख़्शी रामदास जी हरिद्वार से आये, दो-चार रोज़ बड़ी कोठी के बरामदे में रहकर लौट गये।

पं० विश्वबन्धुजी ने यद्यपि अनेक बार महाराजजी के दर्शन किये थे, पर वास्तविक लाभ आप इस बार ही उठा पाये, जब कि आपको जुलाई के अन्त में दो-तीन दिन श्रीसेवा में रह कर सत्संग करने अथवा विशेष लाभ उठाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। दो-तीन वर्ष से आपकी चित्त वृत्ति मोह और कर्त्तव्य की समर-भूमि बन रही थी। श्री स्वामी विशुद्धानन्दजी के सप्रेम अनुरोध से वे इस वर्ष ही अभ्यास में प्रवृत्त हुए थे। परन्तु उन्हें शीघ्र ही स्वयं प्रतीत हो गया कि उनका चित्त इस मार्ग पर चलने के लिये स्वतन्त्र न था। आप अपने आपको विशेष आसक्ति से बँधा हुआ प्रतीत करते थे। उसे छोड़ना ठीक प्रतीत

होते हुए भी, छोड़ न पाते थे। दीनता को बुरा अनुभव करते हुए भी अदीन न हो रहे थे।

महाराज जी आपकी कुछ मिश्रित प्रवृत्तियों तथा आपके स्वभावादि से परिचित थे। जब आपने अपनी सारी स्थिति सामने रख दी और मार्ग निर्देश चाहा, तो श्री गुरुदेव ने बड़ी कृपा की। दूसरे दिन प्रातःकाल महाराजजी ने उन्हें एकांत में श्रीमद्भगवद्गीता के बारहवें अध्याय का पाठ सुनाकर उसके अन्दर रुचि की जागृति के आधार पर आत्म परीक्षा की ओर प्रेरणा की। साथ ही आपने यह भी उपदेश दिया कि विचार से आत्म निरीक्षण किये बिना अभ्यास में न पड़ें तो अच्छा है। इस प्रकार ४ घण्टे तक लगातार उपदेश ग्रहण करते रहे। महाराजजी ने बड़ी सरलता और सहृदयता से अवस्था अथवा रुचि अनुसार उचित आदेश किया। उस विधि-निषेध से आप के डांवाडोल चित्त में नई फुरना होने लगी, जिससे शीघ्र ही आप धैर्य से अपने कल्याण में लग गये। उस समय उन्हें विचार ही नहीं था कि आपको शीघ्र ही ऐसे संकेत से लाभ उठाना होगा। शीघ्र ही आप ऐसी परिस्थिति में बँध गये कि जहाँ महाराजजी के सदुपदेश ने परम अमृत का काम किया। उस समय से अब तक जैसा कुछ लाभ आपने श्रीगुरुदेव के दर्शाये पथ पर चलने से प्राप्त किया है, यह पण्डित जी का आचारी हृदय ही जानता है। यद्यपि अभ्यास में रुचि न होने के कारण आपने इस मार्ग में श्री स्वामी जी से कुछ विशेष सहायता नहीं प्राप्त की, परन्तु फिर भी अपनी वर्तमान उन्नत अवस्था के लिये वे बहुत अन्श तक स्वामीजी महाराजके ऋणी हैं।

स्वामी विशुद्धानन्दजी भी साथ ही आये थे। पाँच रोज़ पास रहे, फिर किसी तपोभूमि में ठहर एकान्त सेवन की आज्ञा

पा लौट गये। भगवन्तसिंहजी तो गुरु-चरणों में रहते ही थे। देहली से टेकचन्दजी भी आये और एक मास तक समीप रह कर लाभ उठाते रहे।

पं० गंगाप्रसादजी चीफ़ जज टेहरी, इस वर्ष फिर श्रीसेवा में आये। कोठी में रहते रहे। थोड़े दिन सत्संग कर अभ्यास सम्बन्धी बातें पूछ लौट गये। जब उन्होंने देखा कि सत्संगी कोठी के (Mental quarters) नौकरों के स्थान में रहते हैं, और कोठी खाली पड़ी रहती है, तो वे कोठी के मालिक से मिले और उससे कहा :—'जब कोठी खाली पड़ी है, तो इन सज्जनों को क्यों न रहने को दी जाय।' बाद में वह कोठी भी महाराजजी के प्रबन्ध में आ गई।

टोहाना (पंजाब) से दो व्यक्ति आये हुए थे। दोनों ही भजन-साधन में लगे। एक तो शीघ्र लौट गये, दूसरे खेमचन्दजी, जो कुछ प्रज्ञाचक्षु थे, वहाँ रहते रहे। जब स्वामीजी चित्रकूट चले गये, तो वे भी उनके साथ गये और उनके पास रहकर ८-९ मास तक भजन साधन में लगे रहे। मुलतान के बाबा बजरंगदासजी भी यहाँ पहुँच चुके थे।

मुलतान के अनेक सत्संगी दर्शन अथवा सत्संग करने को आना चाहते थे, धर्मचन्दजी भी छुट्टी प्राप्त कर चुके थे, शीघ्र यहाँ आ गये। कोई २० देवियाँ भी साथ आईं। पहले तो यह स्टेशन के पास धर्मशाला में रहे फिर एक मकान जो नारायण हरिजी ने पहले ही ले रक्खा था, उसमें जा ठहरे। परन्तु वह छोटा था, इस लिये एक मकान और लेना पड़ा। साथ ही कुछ देवियों के लड़के भी थे। राधाकृष्ण, शान्तिस्वरूप, नन्दलाल, सदानन्द, लीलाकृष्ण, मदनलाल सब युवक बाल अपनी माताओं के साथ थे। धर्मचन्दजी तो गृहिणी के साथ आये

थे। मुलतान में इतने दिन सत्संग कर हार-शिंगार से भी आपकी स्त्री ने अपने हृदय को मुक्त कर लिया था। उसी लाभ को स्मरण कर यहाँ दो मास रहते रहे। लेखूरामजी भी अपनी स्त्री के साथ पहुँचे थे। १६२२ से, इनका श्रीसेवा में आना प्रारंभ हुआ था। बिना पूछे, सुनी हुई बातों पर अपने आप ही पुरुपार्थ करते रहे थे। जब सहारे की आवश्यकता पड़ी, तो अपना हाल कहा। उपदेश लिया और विधि पूर्वक भजन-साधन में भी लगे। पहले तो सुने हुए मार्ग से चलते रहे थे, खुश्की होने पर कनखल योगेश्वरजी के पास दवाई लेने गये। वहीं महाराजजी भी पधारे थे। वैद्यजी ने उन्हें स्वामीजी के पास भेज दिया। वहाँ आपने तब इन्हें पथ्य भोजन बतलाया था। मुलतान में उन्होंने फिर अपनी हालत बतलाई। एक बार धोखे में कुचला खा गये थे। बच तो गये, पर दिमाग पर ऐसा असर हुआ कि काम और क्रोध की मात्रा बहुत बढ़ गई थी। सत्संग करते-करते यह विकार शिथिल पड़ते गये। इस लाभ को देख कई बार पहले भी गृहिणी को संग लेकर श्री सेवा में जाया करते थे। देहरादून में भी दोनों आये। दोनों के स्वभाव में बहुत परिवर्तन हो रहा था। विकार दब रहे थे। एक मास से अधिक सेवा में रह कर अतुल उपदेश ले कृतार्थ होते रहे।

देवियाँ शहर में रहा करती थीं। मुलतान के सब सज्जन भी वहीं रहते थे। २॥ बजे वे सब सत्संग में आते और सायंकाल से पहले लौट जाते। महाराजजी प्रायः चुपचाप बैठे रहते थे जब कोई प्रश्न कर बैठता था या कोई देवी कुछ पूछती, तो उचित उपदेश दे समझाया करते थे। आपकी सेवा में बैठने से ही चित्त शांत रहता। सन्तों की समीपता में भी पवित्रता राज्य करती है। उस वायु-मंडल में रहना ही बड़ा सौभाग्य था।

एक विधवा देवी जो अपनी बहिन के साथ हरिद्वार में आई थी, और पहले मुलतान में सत्संग करके शृङ्गार छोड़ साध्वी वन गई थी, देहरादून आई हुई थीं। वह अपने मैके में रहती थीं। उसके भाई को बुरा लगा कि वह अकेली स्वामीजी के पास क्यों चली गई। वह शीघ्र क्रोध में भरा हुआ देहरादून आया। उसको लोक-लाज का भय खाये जाता था। धर्मचन्दजी के समझाने पर वह और उसकी बहिन दोनों शहर से महाराजजी के अन्तिम दर्शन करने के लिए आये। इस समय १० बजे थे। गुरुदेव आराम में थे, उठ बैठे। इतना शांतिमय उपदेश दिया कि वह विस्मित हो गया और अपनी बहिन को घर ले जाने का विचार उसने छोड़ दिया। वह जानता था, कि उसकी बहिन विधवा थी, और पहले जहाँ उसको देखकर दुष्टों की कुदृष्टि उस पर रहती थी, वहाँ अब उसके सात्विक भावों के आगे सबका माथा झुक जाता था। ऐसा होते हुए फिर भला वह कैसे बहिन के रास्ते में रोड़ा बनता, उसने आदेश पाकर निश्चय कर लिया कि वह यथा सम्भव उस देवी की सहायता करता रहेगा, ताकि वह सन्मार्ग में बढ़ती जाये और उसको भी पुण्य का अवसर मिलता रहे। साधु-संग से ही साधुता आ सकती है। क्रोध-भय वहाँ कैसे रह सकते हैं, जहाँ अमृत ज्ञान-धारा बहती हो।

फिर कई दिन तक वह देवी वहाँ रह सत्संग करती रही, और सितम्बर में शेष माताओं के साथ वापस लौट गई। जितनी देवियाँ महाराजजी के उपदेश से साधन में लगी थीं, उनको चक्की पीसने का भी उपदेश था। मुलतान से जो देवियाँ वहाँ पहुँची थीं, वह कुछ चक्की का मोटा आटा महाराजजी के लिये लाई थीं। जब तक वे देहरादून रहीं, वहाँ भी चक्की से आटा पीस कर प्रभु-सेवा करती रहीं। स्वामीजी भक्तों को तप में

डालना चाहते थे। दूसरी कोई सेवा माइयों से ग्रहण नहीं करते थे, इसी प्रकार से ही वह भी सेवा कर अपने आपको धन्य धन्य समझती थीं। इनको आज्ञा थी कि "थोड़ा-बहुत आटा रोज़ पीसा करो।"

गुरु-कुल से प्रति सप्ताह लालचन्दजी और रामरखाजी आ जाया करते। एक दिन रह कर लौट जाते। साधुसिंहजी को जब छुट्टी हुई तो वे पास ही आकर रहने लगे। उनके सुपुत्र भाइयों की निगरानी के लिये जालन्धर लौट गये। पं० देव-शर्माजी भी दो-एक रोज़ के लिये आये और सत्संग कर लौट गये। गोपालजी भी दोबारा मसूरी से आये। महाराजजी के पास रहते ही चित्त पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता था। इसलिए बिना समीप रहे मानते ही नहीं थे। इसीसे बिना बुलाये, थोड़े दिन के लिये भी भक्त बहुत रुपया ख़र्च करके आते रहते थे।

इस बार हरिद्वार तो रुके ही नहीं थे, इसलिये योगेश्वरजी को भी यहाँ ही आकर दर्शन करना पड़ा। वैद्यजी महाराजजी के त्याग-वैराग्य पर मुग्ध थे, इससे उन्हें आपके साथ वार्तालाप करके विचारों की गहराई में पहुँचने का बड़ा आनन्द आता था।

स्वामी विवेकानन्दजी साधन की इच्छा लेकर यहाँ आये थे। इस आश्रम में आने से पहले उन्होंने कुछ अभ्यास किया था, उसमें कुछ अनुभव भी प्राप्त किया, और एक दिन ऐसे आनन्द की अवस्था प्राप्त की कि उसीको फिर लाने का यत्न करते रहते थे। एकान्त सेवन अथवा विचार में अधिक समय गुज़ारते थे। यहाँ कई दिन तो संकोच में रहे। समय जाते देख कुछ उदास थे। जब आपकी कामना का महाराजजी को स्वामी नारायणहरिजी द्वारा पता चला, तो आपने बड़ी कृपा कर बुला भेजा।

और सब हाल सुना। शरीर शुद्धि करा साधन में लगाया। बड़े प्रेम से हालत भी पूछते रहे।

छुट्टी मिलने पर रामरखाजी और प्रो० लालचन्दजी भी यहीं आकर रहने लगे। स्वामी नित्यानन्दजी, कल्याणदेवजी, जगन्नाथजी ब्रह्मचारी भी यहाँ आगये थे, यह सब कोठी में रहने लगे। नारायणदासजी और मुलकराजजी वापस लौट गये। रामरखाजी भी थोड़े दिन सत्संग करके चले गये।

सेठजी को शरीर में कुछ रोग था, उसकी कई दवाइयाँ कर चुके थे, एक्सरेज X Rays भी कराया, फिर चान्द्रायण व्रत करने का निश्चय हुआ, जिससे मन, शरीर दोनों शुद्ध हो जाँय। जगन्नाथजी ने मुलतान में देखा था कि अनेक नर-नारियों ने व्रत कर अपने पाप काटे थे और भजन-साधन में भी विशेष लाभ पाया था, इसी विचार से उनका चित्त भी चान्द्रायण व्रत करने को इच्छुक था। जगन्नाथजीने व्रत अमावस्या से किया, और सेठीजी ने पूर्णमासी से शुरू किया। दोनों ने दूध का ही आहार रक्खा। कमरे के अन्दर मौन रहते थे। दिन में कई वार हवन करते थे। लालचन्दजी दूध पानी इत्यादि सब पहुँचाते थे। यदि कोई कष्ट होता, तो वह लिखकर देते, महाराजजीभी लिखकर उत्तर भिजवा दिया करते।

स्वामी नित्यानन्दजी जाने वाले थे। पर कल्याणदेवजी १२ रोज़ का अनशन व्रत करने का विचार कर चुके थे। अतः उनकी सहायता के लिए रुक गए। तीनों ने बड़े तप से अपने व्रत समाप्त किये और अतुल लाभ उठाये। सेठीजी ने परिणामवाद की सच्चाई को अनुभव किया, और यही निश्चय हुआ कि "वैराग्य ही मुख्य है" अथवा "संसार असार है।"

अर्जुनसिंहजी इस वर्ष समीप रह कर अधिक लाभ उठाते

रहे। आहार-व्यवहार और साधन में विशेष सहायता लेकर कृतार्थ होते रहे। स्वामी सोमतीर्थजी भी यहाँ कुछ दिन के लिये आये। उन्होंने श्री उड़िया स्वामी वाली बात पूछी कि "आपने उन्हें किस प्रकार समझाया था कि विषय में सुख नहीं है।" महाराजजी ने कुछ समझाया, पर शरीर ठीक न होने से बात जँची न। फिर चलते समय उन्होंने निवेदन किया। "मेरा शरीर अच्छा नहीं है। सम्भव है दर्शन हों न हों, कृपा रक्खें ताकि मेरा कल्याण हो।" स्वामीजी महाराज मुस्करा कर कहने लगे, "क्या पता है कि पहले हमारा ही शरीर न रहे"। आखिर यही भविष्य-वाणी ठीक हुई। एक दिन आपने योग दर्शन के कुछ सूत्रों पर ऐसी उत्तम व्याख्या की कि पहले ऐसा कभी सुनने का अवसर स्वामी सोमतीर्थजी को न मिला था। संस्कृत के विद्वान होते हुये भी अनुभव-गम्य बातें तो अनुभवी महापुरुषों से ही समझ सकते थे। फिर वे यहाँ से शीघ्र चले गए। पीछे श्री उड़िया स्वामी वाली बात के लिए फिर पत्र द्वारा पूछा कि "मन, शरीर ठीक न होने के कारण समझा नहीं सका, इससे निवेदन है, यदि पत्र द्वारा समझा दें तो बड़ी अनुग्रह होगी।" आपने बड़ी कृपा करके एक पत्र चित्रकूट से लिखा, उसे हम यहाँ उद्धृत करते हैं:—

चित्रकूट, ज़िला बाँदा

२४-१-२६

श्रीयुत मान्यवर स्वामी सोमतीर्थजी महाराज को सादर प्रणाम पहुँचे। आपका शुभ समाचार जानकर चित्त प्रसन्न हुआ। जो विषयों में सुखाभाव का तजर्बा है, वह वृत्ति के रहते हुए ही होता है। केवल विषयों को इन्द्रियों द्वारा निष्पक्षता से देखना मात्र ही काफ़ी है। अनुभव आपही हो जाता है कि सुख है वा नहीं, है तो कितना है। या जो कुछ भी भासता है, वह भी

भ्रम से है, असल में कुछ नहीं प्रतीत होता है। जिसको थोड़ा सा राग विषयों में होता है, उसको तो शीघ्र ही पता लग जाता है कि विषयों में सुख मृगतृष्णा के जल के सदृश है। परन्तु जिसको अधिक राग होता है, उसको कई दर्जे तप करना पड़ता है, तब बार-बार लखाने पर भ्रम का पता लगता है। इसके बाद मन को विक्षेपता सुगमता से बन्द हो जाती है। इससे अधिक लेख में आना कठिन है — कम से कम मेरे में अधिक लिखने की शक्ति नहीं प्रतीत होती। कई हालतों में देखा है कि कई बार जचाने पर जाँच आती है। सियाराम.

कृष्णकुमारजी भी कानपुर से कुछ दिन के लिये सत्संग करने आये। सायंकाल को साथ घूमने जाते। अनुकूल उपदेश पाकर बहुत लाभ उठाया। कई दिन बराबर दोपहर पीछे, प्रो० लालचन्दजी श्रीमद्भागवत की कथा किया करते थे। गुरुदेवजी, जहाँ-तहाँ पूछने पर, उचित उत्तर दे समझाते अथवा शंका निवारण करते।

देहरादून के भक्त भी समय-समय पर श्रीसेवा में आ सत्संग करते। जब ज़रूरत होती, तो एकान्त अवसर प्राप्त कर भजन-साधन में कुछ विशेष सहायता प्राप्त करते रहते थे। सेठ झब्बालालजी, पं० आनन्दीप्रसादजी, बा० गौरीशंकरजी इत्यादि सब लोग आया करते थे। स्वामी तारकानन्दजी भी कुछ काल वहीं ठहरे थे। दर्शनों को आते रहते। कभी-कभी देहरादून की कुछ देवियाँ भी सत्संग करने आया करती थीं। धर्मदेवजी स्नातक भी मन्सूरी से आकर एक दो रोज़ सत्संग में रहे। पीछे मुलतान से ला० गिरधारीलाल सुनार, उनकी धर्मपत्नी और एक और देवी वहाँ आये, और कुछ दिन रहकर सत्संग से लाभ उठाते रहे। भजन में भी विशेष सहायता पाकर कृतार्थ हुए।

झब्बालालजी के आग्रह पर सब मण्डली दीवाली में उनके घर पर भोजन करने गई। इसी प्रकार आनन्दीप्रसादजी ने दो एक बार श्री गुरुदेव अथवा स्वामी नारायणहरि का आतिथ्य किया।

सातवाँ प्रकरण

निर्वाण की चाह

पहले तो आपका स्वास्थ्य अच्छा रहा। दो बार घूमने जाया करते। दिन को रोटी का आहार रहता, रात्रि को दूध अथवा फल खाया करते थे। फिर जब फल का मौसम निकल गया, तो ऋतु-परिवर्तन होने के कारण थोड़ा जुकाम हो गया, इसलिए रात को आहार बिलकुल बन्द रहा, कभी-कभी आध या एक छटाँक दूध पी लेते थे। जब सर्दी आ गई तो दोनों समय रोटी खाने लगे। कुछ सर्दी सहने का भी अभ्यास करते रहते थे। रात को कमरा बन्द कर बिना कपड़े सोते थे। अधिक समय शरीर स्वस्थ रहा।

मुलतान से जब देवियाँ यहाँ आईं, तो पीछे विरोधियों ने मौक़ा पा अनेक प्रकार के अपवाद शुरू किये। दुराग्रह में मग्न लोग यह भी न जान सके कि कितनी देवियाँ अपने पतियों अथवा पुत्रों सहित वहाँ गई हैं। वृथा देवियों अथवा महात्माओं पर कलङ्क लगाते रहे। यह सब कथा भक्तों को बड़ी अप्रिय थी। महाराजजी तो अपार क्षमता दर्शाते रहते थे, पर ऐसी शक्ति न

होते हुए, धर्मचन्दजी अथवा प्रो० सदानन्दजी ने सब हाल भेज दिया, जिसके उत्तर में आपने ऐसा लिखा — प्रिय सदानन्दजी, तुम्हारा पत्र प्राप्त हुआ, मुझे इस बात से हर्ष हुआ कि तुमने अपने हृदय का बोझ उतार दिया। जो बातें तुमने मेरे विषय में सुनी हैं, वह इशारतन मुझे कोई न कोई सुना जाते थे, परन्तु मनीराम अपनी ही धुन में रहता था और रहेगा। मेरा लक्ष्य यह था कि यदि स्त्रियों में से कोई इस योग्य हो जायें जो दूसरों को चला सकें, तब मेरा यह बन्धन हट जायगा ; परन्तु इसमें इतनी कठिनाई झेलने पर भी वैसी सफलता न हुई, जैसी कि होनी चाहिये थी, यह समय का प्रभाव है। ख़ैर कुछ तो हो ही गई, और ब्रह्मघाट में मैंने उनसे सहायता लेकर तजर्बा किया, तो ईश्वर-अनुग्रह तथा तुम्हारे आशीर्वाद से बहुत-कुछ सफलता हुई। इसलिये जो नई स्त्रियाँ आईं, उनको उन्हीं के सुपुर्द किया। आगे को भी उनसे कह दिया कि जो नियमों पर चलने वाली स्त्रियाँ भजन करना चाहें उनको तुम्हीं चलाना, यदि कहीं कठिनाई हो और तुम्हारी समझ में न आये, तो तुमको समझा दूँगा ; तुम उनको समझा देना। मेरे पास उनको आने की जरूरत नहीं है। चुनांचि अब जिनको ऐसी जरूरत पड़ती है उनसे सहायता मिलती रहती है। जब जैसा उनका भोग होना होगा होता रहेगा। स्त्रियों तथा पुरुषों से एकान्त में मिलने और उनको अपने दिल का हाल खोलकर कहलाने से मुझे संसार की गति का जो ज्ञान हुआ उससे संसार के विषय जैसे मेरे विचार थे उनकी सख़्त दृढ़ता हुई, और इसके लिये मैं सदैव ईश्वर को धन्यवाद देता हूँ कि उन्होंने बड़ी कृपा की कि संसार विषयक जो मन में धोखा था उसको तुम्हारी सहायता से निकाल दिया ; और इसी लिये अपवाद को भी शौक़ से सुनता रहता हूँ। जबसे मुझे यह

निश्चय हो गया है कि कुछ स्त्रियाँ ऐसी हो गई हैं जो दूसरी स्त्रियों को सहारा दे सकती हैं तब से चित्त में ऐसा वेग कभी-कभी आता है कि अब शहरों की गन्दी हवा को छोड़कर भविष्य बद्री की तरफ कुछ दिन काटूं, और सर्दी के दिन चित्रकूट के वनों में गुज़ारूं। यह वेग तब अधिक होता है, जब शरीर में बल होता है, परन्तु पता नहीं ईश्वर को क्या मंजूर है। इसलिये उन्हीं के ऊपर छोड़ देता हूँ। इस साल देहरादून में स्थान अनुकूल होने से अभी तक यहीं जमा हुआ हूँ। मुझे तो तजर्बा हुआ है, 'खल परिहास मोर हित भाई' इसलिये उनको मैं धन्यवाद देता हूँ, जो कि निन्दा करते हैं और मेरी बुद्धि को ठीक रखते हैं, परमात्मा उनका भी भला करें। यहाँ आने से पहले और यहाँ भी मैंने स्त्रियों से कह दिया था कि अब मेरे से उतना क़ष्ट नहीं सहारा जायगा जितना कि अब तक सहारता रहा, क्योंकि अभ्यास कराने में चित्त बहुत बन्धन महसूस करता है। इस लिये उनको अपने पैरों पर खड़ा होना पड़ेगा या दूसरी स्त्रियों से सहायता लेनी पड़ेगी। कभी लाचारी हुई तब मैं सहायता करने वालियों को समझा दूंगा, वे उन्हें समझा देंगी। दर्शनों के लिये जो अब तक वे समय मांगती रहती थीं, अब आगे से बन्द रहेंगे। कभी-कभी संगति को इकट्ठा आने की आज्ञा होगी। वह भी चित्त बड़ी हिम्मत करके गँवारा करेगा, वरना तकलीफ़ ही मालूम होती है। उनके शरीर की बदबू की स्मृति आने पर भी चित्त घबराता है।... वैसे स्त्रियों या पुरुषों से मिलने को चित्त नहीं चाहता। मुलतान में बहुत कम ऐसे पुरुष हैं जिनसे मिलने में चित्त उत्साह-हीन नहीं होता, शेष चाहे सत्संगी भी हैं, तब भी चित्त उनसे हटता है। परन्तु लिहाज या किसी ख्याल से मिलना पड़ता है, स्त्रियां

भी दो ही तीन होंगी, जिनके द्वारा दूसरों को सहायता पहुँचाने का काम लेने में सफलता हुई है, और उनको पत्र द्वारा सूचना देना-लेना सहार सकता हूँ । लाचारी हो तो दूसरी बात है। जबसे यह तजर्बा सफल हुआ है, तबसे मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा है कि अब बोझ हलका हो गया है। ... पुरुषों को मैं देखता हूँ कि जब व्यवहार शुद्धि की बात आती है, तब पीछे हट जाते हैं । इसलिये उनको भी आगे क्या कहा जाये । मेरा तजर्बा है कि आज कल (Society) समाज की परिस्थिति ऐसी है कि शायद कोई विरला ही अभ्यास का अधिकारी हो, मैंने कई बार लोगों से कहा है, कि कई व्यक्तियाँ यह कहती हैं कि यदि आप अभ्यास बतायें, तो हम व्यवहार शुद्ध करें, नहीं तो क्यों करें; उनको भी कुछ बता देना पड़ा कि वे पाप से तो बचेंगे; परन्तु वे अधिकारी नहीं हैं। ऐसी अवस्था को देख मेरा चित्त उत्साहित नहीं होता । इसलिये अब स्त्रियों तथा पुरुषों से अलग रहने को चित्त बहुत करता है। आगे जैसा प्रभु को मंजूर हो। और मेरा यह विश्वास है कि जो अधिकारी हैं उनको परमात्म-देव लाभ पहुँचा ही देते हैं, चाहे जिस तरह से हो। तुमको यह खूब ध्यान रखना चाहिये कि संग से लोग कुछ न कुछ कहते ही हैं। किसी का मुँह नहीं बन्द किया जा सकता। अब बताओ लोगों की किस-किस बात का खण्डन करते रहें। इसलिये यही ठीक प्रतीत होता है कि जैसी स्थिति में प्रभु रक्खें उसीमें रहने की कोशिश होनी चाहिये, सब बातें उन्हीं के ऊपर छोड़ देना ठीक मालूम होता है। अपने में तो कोई शक्ति नहीं नज़र आती, फिर दूसरों की हानि लाभ की ज़िम्मेदारी कैसे ली जा सकती है। هرچه باداباد ما کشتی در آب انداختیم जो होना हो होता रहे, हमने अपनी नाव पानी में डाल दी है,

तुम्हारे में शक्ति सहारने की न हो तो मत सुनो या जैसा तुम्हारे चित्त में आये वैसा करो। मेरे चित्त में तो बार-बार ऐसा ही आता है कि न तो मुझे शुभ के मण्डन में कोई लाभ प्रतीत होता है और न अपवाद के खण्डन में ही कुछ दीखता है; बल्कि यह एक बेजा चिन्ता प्रतीत होती है। मुझे तो किनाराकशी में ही शान्ति प्रतीत हो रही है। यह तो मैं जानता था कि मेरे साथ सम्बन्ध होने के कारण तुमको भी बातें सुनकर दुख होता है; परन्तु वैसे तो तुम किसी का बुरा करते ही नहीं, फिर ऐसा दु:ख दर्शन तुमको क्यों होना था। इसलिये मैंने सोचा था कि तुम्हारी भी क्षमा-शक्ति कुछ मेरे साथ बढ़ ही जायेगी, कुछ मेरे साथ बेहयाई भी आ जायेगी, ईश्वर जो कुछ करते हैं, अच्छा ही करते हैं।"

स्त्रियों के सम्बन्ध में भी आप ऐसे ही एक पत्र में धर्म-चन्द जी को लिखते हैं। "जबसे मैंने मुलतान जाना शुरू किया था, तभी से मेरा यह लक्ष्य था कि मैं पुरुषों तथा स्त्रियों में इस बात की जाग्रति करा दूं कि यदि वे व्यवहार को शुद्ध रखकर आहार सात्विक करें और शरीर को ठीक रक्खें और विषयों से मन को हटा कर अन्तर्मुख करें, तो उनको अपने भीतर के खज़ाने का पता लग सकता है। पुरुष तो सब जगह जाकर सत्संग का लाभ उठा सकते हैं; परन्तु स्त्रियों को ऐसा मौक़ा नहीं मिल सकता। इस लिये मेरा ख्याल था कि कुछ स्त्रियाँ ऐसी हो जायें जो दूसरों को सहारा दे सकें, सो अब इन संकल्पों में बहुत कुछ सफलता हो गई है। अब आगे जैसा प्रभु को मंजूर होगा होता रहेगा, जिनकी सच्ची चाह है वे जान भिड़ाकर कोशिश करेंगे और सफलता को प्राप्त होंगे; परन्तु जिनके मन में विषयों की लालसा है, उनके लिये कठिन है।"

महान पुरुष महान लक्ष्य को लेकर ही अनेकों कष्ट सहते हुए प्रभु-प्रेरणा के अनुसार प्राणियों को सन्मार्ग का उपदेश देते हैं। परमात्मा आप ही उनको सब कष्ट सहारने का अतुल बल प्रदान करते हैं। यदि वह ऐसी कृपा न करें तो बड़ी कठिनता हो जाये। जितना महान पुरुष होता है, उतना ही उसको समझाने में दिक्कत पड़ती है। जब ऐसी अवस्था हो तो भ्रम के कारण विरोध होना कोई बड़ी बात नहीं। पर क्षमता को धारणकर संत भी अचल वृत्ति से अपने कार्य्य में लगे रहते हैं। संसार के मूर्ख लोगों की राय पर चलने से किसका लाभ हुआ, जो वह अपने ईश्वरी कार्य्य को त्याग कर मान-अपमान की चिन्ता में लगे रहें, जब सब कुछ प्रभु के समर्पण कर दिया, तो भला, फिर क्यों किसी चिन्ता में पड़ें ? भगवान भी कृपालु हैं, जब अपना कार्य करा लेते हैं, तो आप ही छुट्टी भी देदेते हैं। जो मालिक का काम ईमानदारी से करता है, उसको आराम का मौक़ा भी आप ही मिल जाता है, ऐसा ही यहाँ भी हुआ।

शहरों से चित्त उपराम हो रहा था, आप लिखते हैं, "मेरे चित्त में शहर-शहर के प्रति वैसा ही भाव है ... ... कुछ दिनों से मुलतान की स्मृति होने से शहर में सैकड़ों आदमियों की भीड़ नजर आती है, जो जोश में हैं, परन्तु हाथों में कोई लाठी हथियार का निश्चय नहीं हुआ. इस दृश्य से चित्त घबराता है। लाहौर पोला सा, हृषीकेष से सख्त घृणा, कनखल हरिद्वार में खलबली। वृन्दावन बनारस से उदासी होती है, दिल्ली, आगरा, लखनऊ गड़बड़ी, चित्त सम्पूर्ण मैदान से घबराता है— देहरादून से भी उठा हुआ सा रहता है। अमृतसर जालन्धर की स्मृति से भी चित्त सुस्त हो जाता है। ग़रज़ कि शहरों में

जाने को जी नहीं करता। चित्रकूट का घना वन जो वस्ती से बहुत दूर है, वहाँ तो कुछ अच्छा प्रतीत होता है, और सब से अच्छी केदारनाथ, बद्रीनाथ की भूमि ही लगती है। यहाँ पर भी कुछ-कुछ प्रतीत होती रहती है। इसका जो कुछ नतीजा हो ईश्वर जाने। मेरे चित्त में शहरों की स्मृति से घबराहट होती है। यह कुछ दिनों से बढ़ गई है।" इस प्रकार आपका स्वच्छ और सूक्ष्म चित्त पहाड़ों की शुद्ध वायु में विचरने को कर रहा था, इसी से पता चलता है कि आप अब छुट्टी पाने के हक़दार हो गये थे। एक दूसरे पत्र में प्रो० सदानन्दजी को लिखते हैं। "मेरा चित्त मिलने को सब से नहीं करता, कोई ख़ास-ख़ास व्यक्ति हैं जो बात को समझते हैं, उनसे मिलने को तो तय्यार हो जाता है, परन्तु अन्य लोगों से मिलने के लिये संकोच करता है, फिर भी लिहाज़ से या अन्य किसी कारण से मिलना ही पड़ता है। तब मैं यह सोचता हूँ कि यह इसका भोग है। इसलिये प्रभु के ऊपर छोड़ देता हूँ, जैसा उनको मंजूर हो, हो, जो दुःख होना होगा, हो ही गा, भोग लूंगा। यह जो मिलने से चित्त हटता है और हठ करके मिलना पड़ता है, इस शिथिलता से कभी ऐसा ख़याल आता है कि यह साल शरीर का ५५वाँ साल है, संभव है अब पेनशन के योग्य हो जाये, तो एकान्त-वास का आनन्द ले सकें। इन सब बातों का भार प्रभु पर छोड़कर अन्त में तुमको सप्रेम प्रणाम करता हूँ, और तुम्हारी कृपा के लिये हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। उसका फल तुमको परमात्मदेव आप ही देंगे।" फिर लिखते हैं, "हर वक्त प्रभु के सम्मुख रहूँ, ऐसा ही दिल करता है। ऐसी अवस्था में ही शरीर छूटे तो ठीक है, ईश्वर अपनी रक्षा का हाथ सदैव सिर पर रक्खें जिससे माया के चपेट से बचा रहूँ। तुम्हारे से भी यही प्रार्थना है कि यही

आशीर्वाद देते रहो। ईश्वर ही हर समय पथ प्रदर्शक रहें। जो काम जिस तरह से उनको कराना मंजूर होवे, वैसा ही करने की प्रेरणा करें, न कराना हो तो फुर्ना ही न हो, मन चुपचाप जीवन व्यतीत करे। यह अभिमान कभी न सतावे कि मैं कभी किसी का कुछ बना सकता हूँ। भला जब मैं अपना ही बनाने में दूसरों के अधीन हूँ तो दूसरों को बनाने का दावा झूठा नहीं तो और क्या है। ऐसे निकम्मे पुरुष को कोई जो कुछ कहे उसकी दृष्टि में सब ठीक ही है। 'जिनकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।' हर एक का दृष्टिकोण निराला ही होता है, फिर बात कैसे बन सकती है, एक मत कहाँ हो सकता है?"

इस प्रकार सब चिन्ता प्रभु पर छोड़, परम संतोष की भावना उठ रही थी। एकान्त-वास की कामना थी। बहुत कष्ट उठाये, भरसक यत्न किया, खूब नौकरी बजाई, अब चित्त विश्राम को चाह रहा था। जन्म जन्मान्तरों से भटकते हुए सीधा रास्ता पा साधु बने थे। उस आत्मप्रसाद को बांटने में भी २० साल बड़ी मेहनत से काम किया था। अब जब ज्योति जगा चुके थे, सोतों को उठा चुके थे, डूबतों को सहारा दे दिया था, भटकतों को मार्ग सुझा दिया था, तो प्रभु आपही परम निर्वाण का रास्ता दिखा रहे थे।

स्वामी नारायणहरि जी सब प्रकार से प्रभु-सेवा में लगे रहे, यथा अवसर सत्संगियों को भी सब प्रकार की सहायता देते रहते। वह कई साल से बवासीर से दुःखी रहते थे। इस वर्ष बड़ा कष्ट रहा। "बवासीर का दौरा १५ दिन तक रहा, और बहुत यत्न करने पर भी बन्द न हुआ, उनको किसी ने एक दवाई लगाने को कहा उसको सात दिन लगाने से मस्से

समूल नष्ट हो जाते ; परन्तु प्रथम ही दिन लगाने से उनको इतना कष्ट हुआ कि उस वक्त को याद करके अब तक मेरा दिल घबरा जाता है, अब बड़ी मुश्किल से एक मास में उसके असर से मुक्ति हुई, हाँ, वह मस्सा जिस पर दवाई लगाई गई थी गल गया; परन्तु आठ-नौ अन्य मस्से शेष हैं। उनके (Operation) आप्रेशन के लिये अब वे डाक्टर रामचन्द्र जी के पास बाराबंकी जा रहे हैं, वहाँ से फिर चित्रकूट पहुँचेंगे, २१ नवम्बर को वे बाराबंकी जायेंगे।" इस प्रकार वे तो साथ न जा सकते थे। यहाँ से स्वामी विवेकानन्द, ब्रह्मचारी जगन्नाथ जी, सेठी देवराजजी, भक्त खेमचन्दजी, एक मद्रासी ब्रह्मचारी नरसिंह जी, कल्याणदेवजी आदि अनेक सत्संगी भी साथ तय्यार थे। इस प्रकार आपको विचार हुआ, "सोचता था कि इस साल शहरों से छुट्टी ली है, तो वन में अकेले रहने का शायद मौक़ा मिल जाये। परन्तु परमात्मा को कुछ ऐसा मंजूर नहीं मालूम होता, हरी इच्छा बलवान है, उसी में खुशी है"। इधर 'साथी' वालों से डर था कि कहीं उधर ले जाने को न कहें। आप लिखते हैं, "चित्रकूट में कुछ विघ्न प्रतीत होता है। वह जन्मभूमि वालों का है। वे वतन के ले जाने के लिए अवश्य कोशिश करेंगे, अभी तो मेरा चित्त कहीं बस्ती में जाने को नहीं करता, जंगल ही जंगल कर रहा है। इसलिये सर्दियों में तो जाना नहीं होगा, यदि देखूंगा किसी कारण से जाना जरूरी है, तब गरमी आने पर देखा जायगा। जिनको मिलने की बहुत इच्छा होगी वे आपही आकर मिल जायेंगे, इस ख़्याल से प्रसन्नता है।"

आठवाँ प्रकरण

करुणा

२१ नवम्बर को साथियों समेत, लारी द्वारा, महाराजजी सहारनपुर गये, वहाँ से G. I. P. Express द्वारा झाँसी पहुँचे। फिर सीधे चित्रकूट स्टेशन पर उतर सीतापुर पहुँच गये। थोड़े दिन धर्मशाला में रहे। दो-चार दिन साथियों को लेकर आस-पास के अनेक स्थानों की यात्रा की। जहाँ ठहरे, वहाँ का वर्णन आप इस प्रकार करते हैं। "सीतापुर से चार मील की दूरी पर 'फटिकशिला' एक स्थान है, यह वही स्थान है जहाँ पर जयन्त ने सीताजी के चरणों पर चोंच मारी थी और पीछे बहुत दुःख पाया था। स्थान बड़े घने जङ्गल में है, तपोभूमि है, बहुत रमणीक है,सबको अत्यन्त पसन्द आया। एक हफ़्ते तक हम लोग दस-दस मील तक के स्थान जहाँ-जहाँ रहने के योग्य कहे जाते थे देखते रहे। परन्तु वहाँ के लोगों की राय और अपनी छान-बीन से वही स्थान सबसे श्रेष्ठ निकला। यह नदी के किनारे पर है और ऊँचाई में है। नदी का जल स्वच्छ और साफ़ है, स्वादिष्ट है, इस स्थान पर नदी बहुत गहरी है, और मन्द-मन्द बहती है। तैरना नहीं हो सकता; क्योंकि यहाँ पर मगर बहुत हैं। किनारे पर नहाने में कोई डर नहीं है। जङ्गल घना है, स्थान ऊँचा होने से दूर तक चारों ओर जङ्गल और पहाड़ नजर आते हैं। चीते बहुत हैं, रात को अगर कोई मवेशी रह जाय, तो ख़ैर नहीं। स्थान के सामने दो सौ या अढ़ाई सौ हाथ लम्बा और ३० हाथ चौड़ा मैदान है, साफ़ है, परन्तु काँटे हैं। यहाँ पर बन्दर बहुत हैं, जो रसोई बनाने के वक़्त सब प्रकार से अपना दाँव-पेंच

लगाते हैं। इसलिये उनसे भी बहुत सावधान रहना पड़ता है। चोरों का भी भय है। एक पुरानी धर्मशाला है जो खण्डर हो गयी है, थोड़ी सी छत शेष रह गई है, वह भी चूती है, किवाँड़े तो कहाँ होना था। छत को हम लोगों ने अपने आप मिट्टी डालकर ठीक कर दिया और दरवाज़ों पर लकड़ी तथा बाँस की टट्टियाँ लगा दी हैं। सर्दी बहुत नहीं है। सीतापुर क़रीब चार मील पर है। जब कभी कुछ चीज़ लेनी होती है तब वहीं जाना पड़ता है। इन सब दिक़्क़तों के होते हुए चित्त सबका बहुत प्रसन्न है, और ऐसी इच्छा होती है कि गरमियों में गरमी अधिक न सताए, तो जब तक जङ्गल में रहना है इसी स्थान में रहें, वरना जाड़े में तो अवश्य ही यहाँ रहें। यह सब इस तपोभूमि का प्रताप है। इस तीर्थभूमि में पाँच व्यक्तियाँ दर्शन करने योग्य हैं। एक सेठ है, दूसरा कलेक्टर है, तीसरे ब्रह्मचारी, चौथे संन्यासी, पाँचवें सर्व श्रेष्ठ धारणा वाले मौनीजी हैं। प्रत्येक अपने-अपने रंग में कुछ निराला ही ढंग रखते हैं। पिछले सालों में जो शहर का अनुभव होता रहा वह दुःखदाई तो होता ही था; परन्तु जो पारसाल गन्दगी का अनुभव हुआ, उसकी स्मृति आने से अभी तक दिल कम्पायमान हो जाता है, उस वक्त तो भोग के साथ लड़ाई थी, इसलिए हठ के साथ सब कुछ सहारता रहा। यह स्थान मुर्दा घाट भी है। कोई तो मुर्दों को जलाकर, कोई बिना जलाए ही नदी में फेंक देते हैं!"

ऐसे स्थान में महाराजजी रहने लगे। जितना परिश्रम महाराजजी ने इस मकान के ठीक करने में किया, उतना शायद ही किसी ने किया हो। सबसे वृद्ध और कमज़ोर होते हुए भी अपने सूक्ष्म शरीर से ऐसा कड़ा कार्य्य करते रहे कि आपके पुरुषार्थ को देखकर आपके सारे युवा साथी शर्म खाते थे।

छतों की मिट्टी कूटते, कभी भूमि से मिट्टी खोदते, कभी मिट्टी को ऊपर खैंचते, जङ्गल से लकड़ी काटते और उनको ठीक-ठाक करके टट्टियाँ और आसन बनाते, इस सब कार्य्य में महाराजजी इंजीनियर, मिस्त्री और बढ़ई आदि सबका कार्य्य करते थे। इस मकान के बनाने में बाज़ार से बहुत कम वस्तुएँ मोल ली होंगी। सारा सामान जंगल से लिया गया। आप स्वतन्त्रता के अवतार थे। हर वक़्त यह ही शिक्षा देते कि स्वतन्त्र रहने के लिये भिक्षु को अपना सारा काम स्वयं करना चाहिये, गृहस्थियों पर बेजा बोझ डालना ठीक नहीं। आराम करने के लिये साधू नहीं बनते, तपोमय जीवन होना चाहिए। यहाँ ही एक छोटी कोठरी में महाराजजी का निवास-स्थान बनाया गया। उसका फाटक नहीं था, शेष सब सत्संगी अभी नीचे मकानों में रहते थे। जंगली जानवरों का भय भी था, इसलिये सबकी यही इच्छा थी कि कुटिया का फाटक पहिले बन जाय। महाराजजी ने वहीं सोना आरम्भ कर दिया था और किसी प्रकार का भय भी नहीं जतलाया। जब सब प्रबन्ध हो चुका, तब आपने अपनी कुटिया के दरवाज़े बनाने की आज्ञा दी। कुटी बहुत छोटी थी, उसके एक तरफ़ महाराजजी का आसन बनाया गया, और बीच में हवन करने के लिये छोटा सा गढ़ा खोदा गया।

यह स्थान महाराजजी की जन्म-भूमि 'साथी' से कोई ३० मील पर है, यहाँ पर अमावस्या के दिन ख़ास मेला होता है। आस-पास के बहुत से लोग यहाँ स्नान और दर्शन करने आते हैं। आपके सम्बन्धी भाई आदि यहाँ दर्शनों को आते रहे। दूसरे किसी सम्बन्धी को नहीं रोका; पर अपने बड़े भाई को एक दिन से अधिक रहने नहीं दिया। जब क़ारण पूछा तो आपने कहा, "यह मोह करता है, भाई का भाव रख कर आता

है, शेष सम्बन्धी रिश्ता के भाव को लेकर नहीं आते, सत्संग के लिये आते हैं।" आपने अपने भाई से कहा कि, "जब तक हम न कहें, यहाँ लौटकर न आना।" लेकिन उन्होंने परवाह न की, तीन-चार दिन बाद कोई बहाना बनाकर लौट आए। जब महाराजजी ने देखा तो तत्काल चले जाने के लिये कहा। उन्होंने कहा "रात्रि का समय है, लौट जाने में हिंसक पशुओं का भय है।" महाराजजी उन्हें साथ लेकर उदासी अखाड़ा तक पहुँचा आए। पौन मील तक घना जंगल है, रात्रि को अँधेरे में वहाँ से अकेले लौटे, परन्तु मोह के दौरे को किसी प्रकार भी प्रबल न होने दिया।

सर्दी की छुट्टियों में कानपुर से कृष्णकुमारजी और हृदय-नारायणजी आये, और गुरुदेवजी बड़ी कृपा करके, सब को साथ ले गुप्त गोदावरी के दर्शनों को गये। चलने में आते और जाते समय सबसे आगे रहे। बड़ी हैरानी थी कि इतने सूक्ष्म और वृद्ध शरीर के साथ इतने तेज़ कैसे चलते थे। आपके युवा साथी पीछे पछड़ जाते और बड़ी मुश्किल से कोई एक-दो ही साथ रहने में समर्थ हो सके। दिन को वहीं स्नान किया, भोजन बनाया, खाया, और थोड़ा सा विश्राम करके सायंकाल को वापस लौट आये। बीस मील की यात्रा के बाद थकना तो स्वाभाविक था ; पर फिर भी अवसर पड़ने पर मानसिक बल से ही आप शरीर से काम लिया करते। समय-अनुसार कृष्णकुमारजी एकान्त में प्रभु-सेवा में बैठ अपने अनुकूल अनेक धर्म अथवा परमार्थ सम्बन्धी उपदेश लेते रहे। इन दिनों में महाराजजी का चित्त बहुत शान्त और निर्मल रहता था। घंटों चुप-चाप बैठे रहते। आँखों में बड़ी कोमलता प्रतीत होती, पड़े-पड़े चौंक पड़ते और कहते, "यह संसार क्यों दुःख में पड़ा है, इसका क्या होगा।" ऐसा प्रतीत होता था कि

परम आनन्द का अनुभव लेते हुए आप दुःखी संसार के लिये बड़ी करुणा अनुभव कर रहे थे, मानों कृपा का सागर ही रह-रह कर हृदय में उमड़ पड़ता था। कभी-कभी यह भी कहते, "५५ साल बाद पेंशन मिलती है, अब हमारी ५५ साल की आयु हो गई है, अब तो आराम करने का हक़ है।" इन बातों से ऐसा प्रतीत होता कि अब परम निर्वाण पद की प्राप्ति का समय निकट आ रहा है, पर यह किसी को विचार नहीं था कि वह इतना निकट है।

हृदयनारायणजी का विचार कुछ दिन वहीं रहने का था। एक-दो रात्रि को शास्त्र के सम्बन्ध में वार्त्तालाप करते रहे। महाराजजी ने बड़ी सावधानी से अनेक युक्तियों और दृष्टान्तों द्वारा समझाया कि बिना शास्त्र का सहारा लिए कर्तव्य-अकर्तव्य को जानना असम्भव है। यह बात आजकल के अंगरेज़ी पढ़े लिखे और कोरे वाचक ज्ञान के भ्रमवाद में पले पुरुषों को शीघ्र समझ में नहीं आ सकती। अनुभवी पुरुष और पवित्र श्रद्धालु भक्त ही इस रहस्य को समझ सकते हैं। हृदयनारायणजी यहाँ रहकर चान्द्रायण व्रत करते रहे, पर अभी एक पक्ष ही गुज़रा था कि आपको अपने पिता की बीमारी के कारण चला जाना पड़ा। इस व्रत से उनको जितना लाभ हुआ, उसे वही जानते हैं।

जयदेवजी विद्यालंकार भी कुछ दिन श्रीसेवा में रहे। चान्द्रायण व्रत करते रहे। व्रत की समाप्ति पर चले गये। स्वामी नित्यानन्दजी भी सत्संग में पहुँचे। कई दिनों तक श्रीसेवा में बैठ अमृत-पान करते रहे। आपका स्वाध्याय तो बहुत है। अनेकों शास्त्र वाक्य आपको कण्ठस्थ हैं; पर उन उपदेशों के रहस्य को तो अनुभवी महात्मा ही बतला सकते हैं। स्वामी कृष्णानन्दजी तो जानकी-कुण्ड में कुटी बना कर रहते थे। इस वर्ष वे भी अनेक बार महाराजजी के स्थान पर जा सत्संग से लाभ उठाते रहे।

इस वार महाराजजी का स्वास्थ्य अच्छा रहा। आप प्रातः-काल सैर को जाते थे और शेष समय अपने स्थान पर रहते थे। दिन को रोटी खाते, रात को कभी दूध और कभी मुनक्के पर निर्वाह करते थे। यद्यपि सारा दिन सत्संगी आते रहते थे और स्वामीजी उनको उपदेश करते रहते थे, फिर भी शरीर स्वस्थ रहा।

यहाँ पर स्वामी रामावतारजी आपसे मिले। वे पहिले भी महाराजजी के साथ वृन्दावन, हरिद्वार आदि अनेक स्थानों में रह चुके थे और महाराजजी के महत्व को जानते थे। इसलिये जो कोई पढ़ा-लिखा आदमी उधर आता और सत्संग की इच्छा प्रकट करता, तो वे उनको महाराजजी के पास भेज देते। ऐसा ही जब अनेक पुरुषों ने आपको स्वामी रामावतारजी का नाम कहकर उपदेश के लिये कहा, तो महाराजजी एक दिन उनके पास जानकी-कुण्ड में आये और हँसकर कहने लगे, " हम तुमसे अप्रसन्न हो जायेंगे। क्योंकि जो कोई आता है वह यही कहता है कि स्वामी रामावतारजी ने मुझे भेजा है। क्यों मेरा वक्त ख़राब करते हो। कुछ दिन तो आराम करने दो, इतनी कठोरता तो मुझसे होती नहीं कि कोई जाये और मैं न मिलूं।" रामावतारजी ने उत्तर दिया, " स्वामीजी यदि कोई पढ़ा-लिखा यहाँ आ जावे और वह किसी विद्वान महात्मा की तलाश में हो तो मैं आपको न बतलाऊँ तो और किसको बतलाऊँ ? क्या कोई ऐसा पुरुष जो ढोंगी है और केवल भेष बनाये हुए है, किसी विचारवान पुरुष को सन्तोष दे सकता है ?" यह सुन महाराजजी चुप हो गये।

मार्च में मुलतान से कुछ स्त्री और पुरुष दर्शनों को पहुँचे। धर्मचन्दजी नौ दिन की छुट्टी लेकर स्त्री समेत वहाँ पहुँच गये। नारायणदासजी के साथ ६ देवियाँ गई हुई थीं। लेखरामजी

भी गृहिणी को साथ ले वहाँ आये। यह लोग सीतापुर में रहा करते थे। वहाँ से प्रातःकाल फटिकशिला पहुँच जाते और सारा दिन सत्संग करते रहते थे। पहले तो कई दिन स्वामीजी सबको साथ ले आस-पास के पवित्र स्थान दिखाते रहे और प्रत्येक स्थान का महत्व भी बताते रहे, पीछे साथ जाकर जो-जो वहाँ प्रसिद्ध महात्मा रहते थे उनके दर्शन कराये। आपका लक्ष्य यही रहा करता था कि जिज्ञासु में सन्त सेवा का भाव बढ़े और इस बात की भी समझ आ जाये कि कौन महात्मा सत्संग के योग्य है।" आपका सर्वदा यही उपदेश रहा करता था, "यथा अवसर महात्माओं का सत्संग करते रहना चाहिये।" यह देवियाँ दिन भर वहीं रहा करती थीं। भोजन भी वही बनातीं और सायंकाल को सीतापुर लौट जातीं। इन दिनों महाराजजी के खाने-पीने में बड़ी बेक़ायदगी हो जाती थी, सत्संगियों को बहुत समय दिया करते थे और जब सेवकों ने स्वास्थ्य की ओर ध्यान दिलाया, तो आपने कहा, "अब हम पहाड़ जा रहे हैं, और वहाँ से शीघ्र लौटने का विचार नहीं, इसलिये इनको सब प्रकार से ऊँच-नीच सुझा रहे हैं, जिससे इनके काम में रुकावट न पड़े।" दोपहर को तुलसीकृत रामायण और सांख्यकारिका की कथा हुआ करती थी। रामायण का पाठ ब्रह्मचारी जगन्नाथजी किया करते थे, और उस पर स्वामीजी महाराज जहाँ आवश्यकता होती समझा देते। मास्टर कल्यायणदेवजी साङ्ख्यकारिका पढ़ते थे और महाराजजी उसके गूढ़ रहस्य को समझाते थे। धर्मचन्दजी और लेखूरामजी शीघ्र ही लौट आये; पर लाला नारायणदास और शेष मातायें महाराजजी के चित्रकूट रहने तक वहीं रहती रहीं और दिन भर फटिकशिला में रह सत्संग से लाभ उठाया करती थीं।

डाक्टर रामस्वरूप जी कई वर्षों से महाराज जी के दर्शनों का संकल्प कर रहे थे। इस वर्ष, समीप जान, गोरखपुर से पाँच एप्रिल को यहाँ पहुँचे। आप कई साल से अभ्यास कर रहे थे और यहाँ कई दिन अनुभवों के सम्बन्ध में बातें करते रहे। छुट्टी थोड़ी थी, इसलिये लौट जाने का विचार था। आज्ञा-अनुसार तार-द्वारा छुट्टी बढ़वा ली गई। तब महाराज जी ने उचित समय देख डाक्टर जी को विशेष भजन-साधन में प्रवृत्त किया और जंगल में एक स्थान पर लिवा ले गए। वहाँ कुछ पलाश के पत्ते तोड़कर बैठने का आसन बनाया और डाक्टर जी को वहीं बैठकर ध्यान करने के लिए कहा। स्वामी जी तो वहाँ से लौट आए; पर वह बहुत देर तक वहीं साधन करते रहे। रात्रि को छत पर सोते और अर्द्ध रात्रि के पश्चात् डाक्टरजी को पास बुलाकर अनेक प्रकार से परमार्थ विषय में समझाते रहते। एक दिन यह भी कहा, कि "तुम बड़े तंग समय में आए हो, मैं अब शीघ्र ही कैलाश-यात्रा को जा रहा हूँ, और ऐसा प्रतीत होता है कि शरीर अब नहीं रहेगा, इसलिये तुमको अधिक समय देता हूँ। जो कुछ पूछना हो पूछ लो" यह सुनकर डाक्टर साहिब के आँखों में आँसू आ गए। तब महाराज जी ने शान्ति दी और कहा कि शोक करना वृथा है, यदि आपको कोई ज़रूरत पड़े तो प्रोफ़ेसर सदानन्द जी से आपको सहायता मिलती रहेगी।" डाक्टरजी के उत्साह को देखकर स्वामीजी प्रसन्न थे। महाराजजी के विचारों की सूचना, वापस लौटने पर, आपने बाबू कालका-प्रसादजी Assistant of Public Health Director को दी, और वे तुरन्त ही स्वामी जी के दर्शनार्थ सीतापुर पहुँचे। एक दो दिन रहकर सत्संग करते रहे, और इस सुअवसर को पाकर बड़ी प्रसन्नता और कृतज्ञता प्रगट की।

बाबा तुलसीदास जी फटिकशिला में अनेक वर्षों से रहते थे, और बहुत समय से गायत्री-जाप भी किया करते थे। महाराजजी के सत्संग में बहुत बार गये और उनकी अपार कृपा से गायत्री मन्त्र को सिद्ध करने में शीघ्र ही सफल हुए।

यह तो भली-भाँति स्पष्ट है कि महाराज जी का चित्त अब संसार से बहुत हटा हुआ था, यही विचार होता था कि शहरों से दूर पहाड़ में रहें, इसी विचार को लेकर आप सर्दी सहने का अभ्यास करते रहते थे। अपने भावों को आप एक पत्र में इस प्रकार लिखते हैं। "गरमी के दिनों में यहाँ से भविष्य बद्री जाने का विचार तो रहता ही था, परन्तु वहाँ रहने के लिये एक धर्म-शाला है जो भविष्य बद्री के ग्राम के पास ही है, इससे दिल कुछ सुस्त सा हो जाता है, खैर जाना तो है ही। यदि कोई ऊपर प्रबन्ध न हो सका तो वहीं पर कुछ दिन काटने की कोशिश करेंगे। क़रीब-क़रीब आठ वर्ष हुए जब मैंने पण्डित योगेश्वर जी के मकान पर एक ब्रह्मचारी से कैलाश पर्वत की बाबत सुना था, तब से इच्छा रहती थी कि मौक़ा मिले तो वहाँ की यात्रा भी कर आऊँ; परन्तु रास्ते की अत्यन्त कठिनाई, खाद्य पदार्थों के मिलने की कठिनाइ, सर्दी बहुत, शरीर की कमज़ोरी, नज़ले की हर समय शिकायत, डाढ़ में दांतों का दर्द, और खर्च की अधिकता के कारण इरादा मुलतवी कर देता था। पिछली गरमियों में गरमी के कुछ सहने का तजर्बा होता ही रहा, परन्तु जाड़े में बहुत से कपड़े लेना पड़ता था, और इसीलिये पहाड़ को जाते वक़् काफ़ी बोझा हो जाता था। इस वजह से यह इच्छा बनी रहती थी कि किसी प्रकार सर्दी सहने की भी शक्ति कुछ बढ़ जाये जिससे पहाड़ जाते वक़् इतना बोझ कपड़ों का न लेना पड़े, तो अच्छा है। चुनांचि इस साल दृढ़ संकल्प था कि इसका भी

तजर्बा किया जाये। पहले तो मैं सोचता था कि चित्रकूट आकर अभ्यास शुरू करूंगा, परन्तु व्रत वालों के कारण देहरादून में अधिक ठहरना पड़ा, और वहाँ सर्दी शीघ्रता से बढ़ रही थी, यहाँ तक कि मैं कमरा बन्द करके कमीज़ वास्कट पहने हुए ऊपर से एक चादर, दो लोइयां लेकर सोता था, तब भी सर्दी कुछ सताती थी। चूंकि देर होती जाती थी, इसलिये मैंने सोचा कि वहीं से आरम्भ कर दूं। नमोनिया के cases (केस) भी सुनने में आते थे। पहिले तो यह खयाल आया कि थोड़े-थोड़े करके कपड़े कम करना शुरु करुं, परन्तु इसमें अधिक विलम्ब हो जाने से, यह ठानी कि सब कपड़े पहिले छोड़ कर देखूं। निमोनियाँ का ख्याल तो आया; परन्तु ईश्वर के भरोसे पर घबराया नहीं। इसलिये पहिली रात को सोते समय बिलकुल नग्न हो गया और बिना कुछ ऊपर लिये हुए सोता रहा। नींद थोड़ी सी आई फिर शरीर काँपने लगा। तब मैं वैसा ही नग्न बैठ गया और शरीर के काँपने को देखता रहा। जब ध्यान में हो जाऊँ तब बन्द हो जाये, जब छोड़ दूं, तब सारा शरीर ज़ोर से कांपने लगे। यह हालत सुबह तक रही। जब बाहर निकलने का समय आया, तब कपड़े पहन लिये। दूसरे दिन फिर वैसे ही सोया और रात वैसे ही गुज़री, ऐसे ही तीसरे दिन गुज़री। चौथे दिन फिर वैसे ही सो गया, परन्तु जब जागा, शरीर काँप रहा था, उठकर बैठ गया, और चादर ओढ़ ली, तब चैन आ गई, कम्पन बन्द हो गई। सुबह को बाहर निकलने के समय कपड़े पहिन लिये। इसी तरह से कई दिन काटे, अब सर्दी अधिक होती जाती थी; परन्तु १२, १३ दिन ऐसे ही बीत गये, फिर चादर ओढ़ कर सोने लगा, तब तो काफ़ी गरमायश मालूम होती थी। रवाना होने से एक दिन पहिले एक लोई भी ली,

तव तो बहुत गरमी प्रतीत होती थी। जव रास्ते में था, तव काफ़ी कपड़े पहन लिये थे। सो गाड़ी में सर्दी तो नहीं लगी, परन्तु अन्य कारणों से खाँसी से जुकाम हो ही गया, और एक रात क़ाफी तेज़ रहा। सीतापुर पहुँचने पर स्थान की देख-भाल में एक हफ़्ता लगा, इसलिये जुकाम विगड़ गया, तव पीछे सफाई वग़ैरा करके शरीर एक हफ़्ते में ठीक कर पाया, इसमें केवल मूंग की दाल ही पीता रहा। इससे शरीर कमज़ोर हो गया, तव कमीज़ पहने, एक चादर और हल्की लोई लेकर सोता रहा। अव सर्दी भी वढ़ती गई; परन्तु ईश्वर कृपा से इतने ही में गुज़र हो गई। दूसरी लोई लेने का कभी संस्कार भी न फ़ुरा। यहाँ का जलवायु भी अच्छा है, इससे शरीर पहिले से अच्छा है, अव शरीर में शक्ति होने, दाँतों की शिकायत न होने और नज़ले की पहली जैसी शिकायत न होने से फिर संस्कार उठा कि इस साल कैलाश तथा मानसरोवर की यात्रा कर आऊँ। जव मैंने सत्संगियों से ज़िक्र किया, तो वे सव के सव साथ ही चलने को तैयार हो गये, और सव लोग अपने-अपने ख़र्च के लिये प्रवन्ध कर रहे हैं। एक विचार तो यह आता है कि वहाँ जाकर कोई विशेष लाभ तो होना नहीं है, केवल तपोभूमि का प्रभाव प्रतीत होजायगा, जैसा कि रुद्रनाथ में था, या अन्य स्थानों में और यहां हो रहा है। हां स्थान-स्थान में भेद अवश्य होता है, और तकलीफ काफ़ी होगी।" इस प्रकार आपने अनेक सत्संगियों को कैलाश-यात्रा की सूचना दी और वुलाया भी कि यदि सम्भव हो, तो साथ चलकर तपोभूमि का आनन्द ले आयें! अनेक उत्साही वीर तैयारी करने लगे। मुलतान से तो कई एक भक्त जाने के लिये वड़े उत्सुक थे।

स्वामीजी महाराज का हृदय कोमल होता चला जाता था।

दिन प्रति दिन आप यह अनुभव कर रहे थे कि आपके महान उपदेशों को समझने में कोई विरला ही समर्थ है। मोक्ष जैसे महान लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जैसा महान पुरुषार्थ चाहिए: वैसा कोई विरला ही करने को तैयार है। सब शिष्यों को अपने पैरों पर खड़े होने के लिये बहुत कुछ सुझा दिया था। अब यही विचार था कि जिसको करना होगा, जान भिड़ाकर करेगा। नहीं तो जैसा होना होगा, होता रहेगा। चित्त सब काम से उपराम होता चला जाता था। शरीर का रखना तो कई वर्षों से बेफ़ायदा प्रतीत हो रहा था। अपना तो लाभ था नहीं, अब यह भी देख रहे थे कि दूसरों को भी जैसा चाहते वैसा लाभ नहीं पहुँचा सकते थे। उच्च उपदेश का कोई विरला ही अधिकारी होता है। पर जब तक शरीर-यात्रा चल रही थी, उसके रक्षणार्थ दूसरों के अधीन होना पड़ता था। यह दीनता आपको बड़ी अखड़ती थी। शुद्ध अन्न का भी विचार रहता था, इस लिये ऐसे पुरुष से ही भिक्षा लेते जो उत्साही हो, परमार्थ में डटा हुआ हो तथा आपके उपदेशों को पूरी तरह से समझता हो और निष्काम भाव से सेवा करता हो। इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर प्रो० सदानन्दजी से ही अनेक वर्षों से भिक्षा ग्रहण करते थे। वह भी ऐसे सुअवसर को प्राप्त कर बड़ी श्रद्धा से सेवा करते रहते थे। परन्तु आपको फिर भी यह विचार आया करता था कि बेजा तौर पर गृहस्थों को कष्ट देते हैं। जो रुपया वह इतना कष्ट उठाकर अपने बाल-बच्चों के लिये पैदा करते हैं, उनसे लेना बुरा लगता था। इस बात को तो आप नजर-अन्दाज़ कर जाते थे कि आपके भक्त ऐसे सुअवसर को पाकर कितने अनुगृहीत होते हैं। यह तो आपकी दयालुता ही थी कि दूसरे के कष्ट को बढ़ा कर देखते और कृपा वश बड़े दुःखी होते। इन्हीं

भावों को आप एक पत्र में यों प्रकट करते हैं। "गृहस्थियों के बाल-बच्चों का हक़ छीन कर उन पर वेजा बोझ डालने में भी संकोच होता है, और शरम भी आती है, कि जन्म भर तक शरीर-रक्षा का भार लोगों पर तो डालते ही रहना है, फिर ऐसे सैर-सपाटे के लिये वेजा बोझ क्यों डालूं ? फिर भी चित्त नहीं मानता; बल्कि इसमें ख़ुशी मानता है। यदि वहीं शरीर छूट गया, तो नीचे छूटने की अपेक्षा प्रसन्नता के साथ छूटेगा, क्योंकि तपोभूमि में रहने और विचरने की श्रद्धा अधिक है और मैदान से चित्त हमेशा उदास ही रहता है। किसी अन्य मुल्क या शहर या बस्ती की इच्छा नहीं फ़ुरती। इन सब बातों को सोच कर मैंने इरादा कर लिया है कि यदि कोई विघ्न ज़बरदस्त न हुआ तो संकल्प चुका आऊँ। भोग बलवान् प्रतीत होता है। रास्ते तो कई हैं, परन्तु अलमोड़ा के रास्ते से जाने में अधिक सुविधा बतलाते हैं। इस लिये जब यहाँ पर गरमी विशेष पड़ने लगेगी तब शुरू अप्रैल में यहाँ से कूच करके साथी होते हुए पाठशाला की देख-भाल करके अलमोड़ा का रास्ता लेंगे। जब ज़रूरत पड़ेगी तब तुम्हारे तथा तुम्हारे बाल बच्चों के हक़ में से डाकाज़नी करके कुछ झपट लेने की हिम्मत करूंगा। आँसू भर आये, अब बन्द करता हूँ। रोना आ रहा है। क्षमा करना।"

उसके बाद की अवस्था आप अपने सहृदय भक्त के उत्तर आने पर इस प्रकार लिखते हैं "तुम्हारा पत्र मेरे जैसे कमज़ोर दिल वाले को हमेशा धैर्य का देनेवाला होता है, वैसा ही अब भी हुआ। पिछला पत्र बंद कर देने के पीछे काफ़ी देर तक आँखों से अश्रुपात होते रहे थे। आख़िर मैं लेट गया। कुछ नींद सी आ गई। जागने पर मन को समझाया कि सदानन्द जी श्रद्धा और

बहुत निष्काम भाव से देते हैं, उनको तेरी रक्षा करने में खुशी होती है। वे कई बार ऐसा कह चुके हैं और लिख भी चुके हैं, जब तेरे इस भाव का उनको पता लगेगा, तब उनको भी दुःख होगा, जैसा पहले भी कभी-कभी हो चुका है। इसलिए तुझे यह खयाल छोड़ देना चाहिये। और यात्रा में कुछ बोझ अपनी पीठ पर रखलेना जिससे भाड़े का खर्च अधिक न पड़ जाय, और तुझे भी याद रहे कि यदि फिर कभी इस तरह की यात्रा की, ऐसा ही बोझ उठा कर चलना पड़ेगा। इसके बाद कुछ शाँति हो गई। थोड़ी देर पीछे सत्संगी लोग आ गये। इस नाटक का हाल बिना कहे हुये मैं न रुक सका। उनको भी अफ़सोस हुआ और मुझे समझाने लगे। मास्टर कल्यायण देवजी ने कहा 'मुझे स्वामी विशुद्धानन्दजी से यह ज्ञात हुआ था कि आप हमेशा प्रो० सदानन्दजी का ही भोजन करते हैं और किसी से नहीं लेते, इसलिए मेरी हिम्मत कभी कहने की नहीं पड़ी, वरना मेरा चित्त बहुत चाहता है कि मैं भी कुछ सेवा करूं'। सेठजी ने भी ऐसा ही कहा। तब मैंने कहा, 'मुलतान में तो मैंने ऐसा ही कड़ा नियम रक्खा है, कि प्रोफेसर जी का ही अन्न खाऊँ, परन्तु बाहिर कभी-कभी अन्य लोगों का भी ले लेता हूँ। मगर तुम्हारा (कल्याणदेवजी का) तथा सेठीजी का अन्न खाने को चित्त नहीं होता। तुमसे एक पैसा भी लेने को चित्त नहीं होता। कारण यह कि तुम्हारा कोष परिमित है। थोड़े दिन में जब खतम हो जायेगा तब तुम भी मेरी तरह कंगाल हो जाओगे। मैं तो वहीं से लेना पसन्द करता हूँ जहाँ आमदनी का सिलसिला जारी हो। अभी तो काम चल ही रहा है पीछे मँगा लूंगा।"

इस प्रकार आप करुणा के आवेश में दूसरों के प्रति बड़ी दया के भाव प्रकट करते थे। सच है, ज्यों-ज्यों वृक्ष में फल

बढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यों उसकी टहनियाँ झुकती हैं। इसी प्रकार जैसे संत सब प्रकार की चिन्ता से मुक्त होकर प्रभु की शरण में रहने की अधिक भावना रखते हैं, वैसे ही संसार अथवा संसारी पुरुषों के कष्टों को सहारना उनके लिए असम्भव होता जाता है। वे यही चाहते हैं कि शीघ्र ही शरीर की वेजा वेगार से छुटकारा मिले और अनन्त समय के लिये प्रभु की गोद का आश्रय रहे। जब संसार से किसी प्रकार का लाभ न हो, और मान का इतना मर्दन हो चुका हो, कि दूसरों की हित-कामना भी कुछ प्रसन्नता न पैदा करे, अथवा चिन्ता प्रतीत हो, तो स्वतः ही परम पिता परमात्मा की शरण में जाने को चित्त व्याकुल रहता है। प्रेमी ही इस पवित्र विरह को समझ सकते हैं। जब हृदय प्रेम वश कोमल हो रहा हो, तो भक्तों के दुःख को देखकर अथवा उसका विचार करके कृपा का आवेश होना बिलकुल स्वाभाविक है।

चित्रकूट में रहते हुए आप कइ वार स्वामी रामावतारजी के पास गये। एक दिन जब सायंकाल के समय जानकी-कुंड पहुँचे, तो स्वामी रामावतारजी ने पूछा 'महाराज, ईश्वर ने सृष्टि क्यों बनाई? आपने कहा यदि आप सावधान होकर सुनो तो मैं कहूँगा'। वे सावधान चित्त होकर सुनने लगे। महाराजजी ने समझाया, "सृष्टि में अनेक नियम काम करते दीखते हैं। इसमें जितनी विचित्रता है वह सब मोह में पड़े प्राणियों को अपनी ओर खींचती है। साँसारिक वासनाओं में फँसे जीव जब सृष्टि की सुव्यवस्थता को देखते हैं, तो उसके मालिक की ओर उनका ध्यान अवश्य ही जाता है। इसी प्रकार से विचार करते करते यही सूझता है कि सब कुछ छोड़ उसी प्रभु के ही सन्मुख होना कल्याण का हेतु है। मूढ़ जीवों को रिझाने के

लिये ही अथवा उनके कल्याण के निमित्त प्रभु ने यह सृष्टि बनाई है ’।

अप्रैल आ गया था। गर्मी भी बढ़ रही थी और कैलाश जाने का विचार भी दृढ़ होता चला जाता था। जो भी सत्संगी आता उसको कैलाश-यात्रा के सम्बन्ध में सब कुछ सुनाते। और दूर-दूर सब सत्संगियों को भी सूचना दे दी थी। जब कभी गर्मियों के प्रोग्राम पर विचार करते तो कल्यायणदेव जी से कहते कि ‘कैलाश की यात्रा के सम्बन्ध में याद कराते रहना। याद कराने से विचार दृढ़ होता रहता है। ऐसा न हो कहीं यह भूल जायें।’ इस प्रकार विचार दृढ़ होता गया। फिर तय्यारी भी शुरू कर दी और कई स्थानों से कैलाश-यात्रा का नक़शा और अन्य हालात मंगवाये गये।

कभी-कभी ऐसा भी कहा करते थे कि “कैलाश-यात्रा के बाद शून्य ही शून्य नज़र आता है। परन्तु फिर भी इस पर विचार तुला हुआ है।” इस दृश्य से समीप प्राप्त होने वाले परम पद का पता चलता है कि जिसमें शीघ्र ही आपने समा जाना था। उसी निर्विशेष, अखंड, एक रस, आनन्दमय, चैतन्य सत्ता का यह दिग्दर्शन था अथवा उसकी सूचना थी।

नवाँ प्रकरण

परम-यात्रा

२१ अप्रैल को स्वामीजी ने चित्रकूट छोड़ा। अपने तीन साथियों, मास्टर कल्यायणदेव जी, ब्रह्मचारी जगन्नाथजी, और स्वामी विवेकानन्दजी को, सीतापुर पहले भेज दिया और स्वयं दस बजे के क़रीब जानकी-कुण्ड पर स्वामी रामावतारजी के पास

पहुँचे। उन दिनों उत्तराखण्ड की पहाड़ियों में बड़ी लू चलती है। प्यास को बुझाने के लिये पानी माँगा। फिर रामावतारजी से कहा 'यहाँ हमारा चित्त बहुत प्रसन्न रहा। आपकी दया से दिन अच्छे बीत गये हैं।' ऐसा कहते-कहते आपकी आँखों में नमी आ गई। दिन-दिन करुणा और कृतज्ञता के भाव बड़े तीव्र होते जाते थे। चित्त की निर्मलता बढ़ रही थी। स्वामी रामावतारजी आपको आपके आग्रह करने के बावजूद भी सीतापुर तक पहुँचा आये और फिर आप उनसे अलमोड़ा आने का वचन लेकर विदा हुए।

यहाँ से आप अपने जन्मस्थान 'साथी' को गये। बहुत से भक्त दर्शन कर गये थे; परन्तु फिर भी उन सबकी यही याचना थी कि उधर आकर दर्शन दें तो सब नर नारी अपनी इच्छा को पूर्ण कर तृप्त होंगे। भक्तों के प्रेम को पूरा करना ही उचित समझा। उत्तरा स्टेशन से 'साथी' को रास्ता जाता है। जब उत्तरा स्टेशन पहुँचे तो वहाँ पर एक सत्संगी मास्टर की बार-बार प्रार्थना पर वहीं एक दिन रह गये। रात को दो-एक सज्जन दर्शन करने आये। उनमें से एक व्यक्ति बड़ी बेपरवाही से ऐसे प्रश्न करने लगा। 'सुना है आप पहले प्रोफ़ेसर थे, कब मुलाज़मत छोड़ी, क्यों छोड़ी, क्या विवाह हुआ था, क्या कोई लड़का भी हुआ, कोई लड़का है भी।' ऐसे प्रश्न सुनकर आपके बाक़ी साथी तो हैरान थे और उनका विचार था कि उसको रोक दें, परन्तु महाराजजी सरलता से सब प्रश्नों का उत्तर देते गये। बिलकुल ऐसा ही जैसे एक भोला बालक देता है।

महाराजजी प्रायः वैराग्य और त्याग का उपदेश करते थे। कहने लगे, 'त्याग का अभिमान भी बेमाने है।' यह बात समझ न आई, तो पूछने पर आपने कहा "दुनियाँ में हर एक व्यक्ति सुख चाहता है और दुःख से नफ़रत करता है। हर एक व्यक्ति

दु:खदायक पदार्थों को छोड़ता है। इसलिये एक त्यागी अगर दुनियाँ को दु:खदायक समझ कर छोड़ता है, तो उसमें उसकी क्या बहादुरी है ? हाँ, अगर सुखदायक समझकर छोड़े, तो और मामला है। लेकिन ऐसा त्यागी कोई नहीं नज़र आता जो दुनियाँ को सुखदायक समझकर छोड़े, और न ऐसा मुमकिन है।"

यहाँ से रवाना होकर फिर आप 'साथी' पहुँचे। आस-पास के सब नर-नारी दर्शन करने आते थे। प्रात:-सायं दरबार लगता था। प्रश्न होते और महाराज जी बड़े प्रेम से उत्तर देकर समझाते रहते।

'साथी' से जैसा कि पहले सूचना दे चुके थे, आप कानपुर पधारे। कृष्णकुमारजी के मकान पर एक सप्ताह तक ठहरे रहे। बाबू हृदयनारायणजी की भक्ति और सज्जनता के कारण उनकी मोटर पर आस-पास के ऐतिहासिक तथा पुरातन स्थान देख आये। कानपुर से बीस मील के फ़ासले पर एक वृद्ध महात्मा के दर्शन करने को भी गये। आप सायंकाल को कभी-कभी गङ्गा जी के किनारे चले जाते। यहाँ ज़ुकाम फिर सताने लगा और गरमी भी विशेष बढ़ रही थी, इस लिये यहाँ से १० मई को बारावंकी होते हुए अलमोड़ा चले गये। इन दिनों महाराज जी का चित्त बहुत ही उपराम रहा करता। अनेक प्रसङ्ग छेड़ने पर भी थोड़ा सा उत्तर दे चुप हो जाते। ऐसा प्रतीत होता था कि अब समझाते-समझाते थक गये हैं और कुछ रुचि शेष नहीं रही।

बारावंकी में डाक्टर रामचन्द्र जी के पास स्वामी नारायण हरिजी पहले ही देहरादून से पहुँचे हुए थे। शरीर कमज़ोर होने के कारण वह शीघ्र आपरेशन के योग्य नहीं थे, इस लिये तब से यहीं रुके रहे। जब शरीर कुछ तगड़ा हो गया तो डाक्टर

रामचन्द्रजी ने क्लोरोफ़ारम देकर तीन वारी में ववासीर के मस्सों को काट दिया। फिर जब शरीर कमज़ोर हो गया, तो उसको ठीक करने के लिये वहीं रुकना पड़ा। बाराबंकी में महाराजजी दो-एक दिन रहे, कुछ भगंदर की तकलीफ़ फिर से हो रही थी, इसलिये डाक्टर रामचन्द्रजी को दिखाया। उन्होंने दवाई inject करके काट दिया।

एक दिन सायंकाल को डाक्टर रामचन्द्र जी ने पूछा, "महाराजजी, मेरी पैनशन होने वाली है, बताइये मैं क्या करूं।" "जो अब करते हो, वही करोगे, और क्या।" "यहाँ से तो छुट्टी मिल जायेगी, यह काम तो नहीं रहेगा।" "पर काम चाहे कोई हो, जिस दृष्टि से अब काम करते हो, वैसा ही होगा। जब तक अभ्यास-भजन आदि के संस्कार पहले से न होंगे, तो कुछ नहीं कर सकते, दृष्टी को बदलना चाहिये। आपको धन का लोभ तो नहीं, यह अच्छा है, पर नाम की इच्छा भी नहीं होनी चाहिये। किसी प्रकार के लाभ का विचार छोड़ दूसरों के हित के लक्ष्य से ही काम होता रहे, तब अच्छा है। धनी लोगों से भी धन की आशा नहीं करनी चाहिये, यदि आशा करोगे, तो निराश होने पर क्रोध आने लगेगा। इससे द्वेष बढ़ता है। द्वेष बढ़ने पर पता नहीं कैसा अनर्थ हो जाय। तुम्हारा काम ही ऐसा है कि यदि द्वेष आ गया, तो पता नहीं कैसा पाप हो जाय। इसलिये सब काम वेपरवाह होकर करना चाहिये। ऐसा होने से फिर गिरावट अथवा पाप का भय नहीं रहता। कर्तव्य-बुद्धि से काम करते जाना ही ठीक है। बेनियम भी नहीं होना चाहिये। इससे दूसरों को कष्ट होता है, वह आपको बुरा-भला कहते हैं, काम पर भी क़ाबू नहीं हो सकता, अपने स्वास्थ्य के भी खराब होने का भय रहता है। घरवालों को भी

दुःख होता है। हाँ, यदि दूसरे के काम में बेनियमी हो जाय तो लाचारी है, पर अपनी ओर से नियम और समय का पूरा विचार रखना चाहिये। काम कोई हो, भाव शुद्ध होना चाहिये, फिर काम बन जाता है।" तब डाक्टरजी ने कहा, "अब तो मैं आपको नहीं रोकता, परन्तु वहाँ से लौट कर जरूर मेरे पास रहिये; ताकि मैं भी कुछ सत्संग से लाभ उठा सकूं, बहुत दिनों से आपकी सेवा में नहीं बैठा।"

आप वायदा तो करते ही नहीं थे। 'जैसा भोग होगा, वैसा देखा जावेगा।' कह दिया। यहाँ से शीघ्र ही अलमोड़ा चल दिए। ब्रह्मचारी जगन्नाथजी भी आपके साथ थे। यह तो बरेली रुक गये, पर आप स्वामी नारायणहरिजी के साथ १३ मई को अलमोड़ा पहुँचे। यहाँ पर पं० रामदत्त जोशी के मकान में रहे। १६ मई को भगवंतसिंहजी जालन्धर से आये। बाद में स्वामी विवेकानन्दजी और मास्टर कल्याणदेवजी जो कानपुर में अस्वस्थ होने के कारण रुक गये थे, यहाँ पहुँच गये। चूंकि अधिक सत्संगियों के आने की आशा थी, इसलिये स्थान की तलाश करते रहे थे। 'पातालदेवी' का स्थान दो-ढाई मील शहर से दूर है। ऊँचे पर है और पक्का भी था। इसमें तीन कुटियाँ थीं। किसी का दखल भी नहीं था, उजाड़ ही पड़ा था। वहाँ ही बने बनाये मकान में चले गये। जोशीजी की तो इच्छा थी कि उनके पास ही रहें, पर सत्संगियों के आने पर यही उचित समझा कि बाहर चले जायें। धीरे-धीरे अन्य लोग भी आते गये।

यहाँ एक दिन आप स्वामी रामकृष्ण-मिशन के आश्रम में गये। आप वहाँ के वृद्ध महन्त श्री रामास्वामी से मिले। कैलाश-यात्रा के सम्बन्ध में सब हाल पूछते रहे।

उसी दिन एक बंगाली माई यशोदा माता के आश्रम में भी गये।

यह माई कृष्णजी की भक्ति में मस्त है। कुछ चित्रकारी भी करती है। लखनऊ यूनीवर्सिटी के भूतपूर्व प्रो० निकसन भी इन्हीं के यहाँ रहकर प्रभु-भक्ति में मस्त रहते थे। वे महाराजजीसे मिले। आपने उनका सारा पूर्व वृत्तान्त पूछा। उनके उत्साह तथा शुद्ध भावों की सराहना की। पर साथ ही नारदमुनिकी कथा सुनाकर काम के भय से चेतावनी देदी। इस प्रकार बातें करते-करते बड़ी देर में लौटे। फिर भी कई बार निकसन साहिब महाराजजी से मिलने आये।

साधू श्री कृष्णप्रेमजी भिखारी (प्रो० निकसन) अपनी माँ तथा गुरु श्री यशोदा माई के साथ अलमोड़े के एक सुरम्य स्थान उत्तर वृन्दावन में एक आश्रम बना कर भजन साधन में रहते हैं। गत १२ वर्षों से आप शुद्ध वैष्णव जीवन व्यतीत कर रहे हैं। आपके साथ और भी अँग्रेज साधु हैं।

एक दूसरी अमरीकन देवी भी श्री सेवा में आई। सत्संग की बहुत इच्छा करती थी। तिब्बत में रहने वाली अपनी एक सहेली को पत्र लिख दिया कि स्वामी जी को कैलाश-यात्रा में सहायता करें, और यदि सम्भव हो तो साथ जाकर सत्संग में रहे, ऐसे महात्मा का सत्संग दुर्लभ है।

कुछ दिनों बाद ब्रह्मचारी जगन्नाथजी नैनीताल से होकर वहाँ पहुँचे।

यहाँ आपका प्रोग्राम ऐसा रहा करता था।

प्रातः सायं दोनों समय घूमते। बातें भी कैलाश-यात्रा की होती रहतीं। इसी सम्बन्ध में ही सोचते रहते थे। बेल पीते रहते, जिससे सबको कुछ लाभ हुआ। नारायणहरिजी कमजोर थे, उनको उत्साह देते रहते। सबको प्रातःकाल डण्ड करने की आज्ञा हुई, तब सब लोग प्रातःकाल उठकर डण्ड करते, तेल की मालिश भी होती थी। शरीर को कठिन

यात्रा के लिये तैयार करने का ही विचार रहता, परन्तु महाराजजी स्वयं घूमने चले जाते थे। शाम को उत्साही साथियों को साथ ले, आस-पास के कठिन स्थानों पर चढ़ाई-उतराई का अभ्यास कराते थे। आप जिस कार्य को करते उसके लिये पूरी चिन्ता रहती थी। जहां से कहीं पता चलता, सहायता-पत्र लेते रहे। यह भी सुना कि १९३० में कैलाश का कुम्भ है, उस समय जाना अधिक उत्तम है, पर महाराजजी अब विचार कर चुके थे, ढीले न हुए। जब किसी का शरीर ढीला पड़ता, तो उसको उत्साह देते रहते। नीचे से आनेवालों को रास्ते के लिये खाद्य सामग्री ले आने के लिये भी लिखते रहते। मुलतान के बहुत से प्रेमी तैयार थे। गुरु-सेवा में कैलाश-यात्रा करने का बड़ा उत्तम अवसर था। सत्संग और तीर्थ-यात्रा भी, 'एक पंथ दो काज।' ला० धर्मचन्द, डा० ज्ञानसिंह, डा० उत्तमचन्द, मलिक मेहरचन्द, मलिक कुंवरभान, ला० थाडराम, सब सज्जन १७ जून को अलमोड़ा पहुँचे। धर्मचन्दजी के साथ, उनकी धर्म पत्नी और एक अन्य देवी भी पहुँचीं। यहां ला० मोतीराम स्टेशन मास्टर भी अपने परिवार सहित पहले ही पहुँच चुके थे। यह देवियाँ भी उन्हीं के साथ वापस लौट गईं।

यहाँ रहते हुए आपके सत्संग से पं० रामदत्तजी ने विशेष लाभ उठाया, भजन-साधन में प्रवृत्त हुए। पंडितजी की बड़ी बहिन भी महाराजजी के उपदेश से कृतार्थ हुईं। यह देवी कई वर्षों से भजन-साधन में लगी हुई थी। अब सुअवसर पा बहुत कुछ लाभ प्राप्त किया। यहाँ पर पता लगाते-लगाते चकवाल के एक महंत पहुँचे। कुछ साधन करते-करते शरीर रोगी हो गया था, बड़े कष्ट में थे। महाराजजी ने कुछ सरल साधन बताया जिससे कुछ थोड़ा आराम भी होने लगा।

चाँदपुर बिजनौर से चौधरानी कृष्णकुमारी भी वहाँ आई हुई थीं। उनका विचार श्री बद्रीनाथ की यात्रा को जाने का था। महाराजजी से सूचना पाकर दर्शनों को यहाँ पहुँची थीं और इधर से ही श्री बद्रीनाथ जाने का ख्याल था। जब इन सबको कैलाश जाते देखा, तो उसकी भी साथ चलने में इच्छा हो आई। कठिन यात्रा के विचार से पहले तो स्वामीजी उसको आज्ञा नहीं देते थे; पर फिर जब देखा कि कुछ बंगाली माइयाँ भी उधर जा रही हैं, आज्ञा दे दी। पर यह कह दिया कि 'जाने से पहले किसी मेजिस्ट्रेट के सामने अपनी वसीयत कर जाओ।' वह इस बात पर भी तय्यार हो गई, और एक दिन में सब काम ठीक-ठाक कर दिया।

इस समय महाराजजी की मानसिक अवस्था जैसी थी वैसी ही अपने एक भक्त को इस प्रकार से लिखते हैं। "शरीर और मन दोनों दुःख देते हैं, और इससे लाभ कुछ नहीं प्रतीत होता। यदि यह दुःख न दें तब भी कोई काम नहीं निकल सकता। यदि यह चुप रहें, तब निकम्मे से पड़े रहें, तभी ठीक रहता है, परन्तु ऐसा होना असम्भव है। क्या हुआ अगर थोड़ी देर के लिये चुप हो गये। स्थायी तौर पर तो चुप रहते ही नहीं। शरीर-यात्रा के लिये दूसरों के सामने जो दीन होना पड़ता है वह अलग रहा। अब मन में कभी कहीं की इच्छा हो जाती है और कभी कहीं की। यदि इससे पूछा जाये कि इस इच्छा के पूरी होने से क्या लाभ होगा तब कोई जवाब नहीं मिलता। परन्तु कोई न कोई इच्छा इतनी तंग करती है कि निरर्थक सिद्ध होने पर भी नहीं जाती। ऐसे ही यह कैलाश-यात्रा की इच्छा है। अच्छा, जैसा प्रभु की मरज़ी होगी, वही होगा। जब तक शरीर है कुछ न कुछ झगड़ा लगा ही रहता है। शरीर छूटने के बाद यदि

प्रभु विलकुल शरीर से अलग रक्खें, तो ठीक है, वरना फिर यही दु:ख झेलने पड़ेंगे। यदि कैलाश-यात्रा के बाद शरीर रह गया और फिर ऐसी कठिनाइयों में पड़ने की इच्छा कभी न पैदा हो, तो ठीक है। 'जेहि विधि राखैं राम तेहि विधि रहियैं'। अच्छा जैसे-तैसे शरीर-यात्रा तो पूरी करनी ही पड़ेगी।" इस प्रकार वेपरवाही बहुत वढ़ रही थी और सब चिन्ता छोड़ विलकुल प्रभु के आश्रय ही भोगवश शरीर-यात्रा को पूरा करने जा रहे थे। आप जानते थे कि उधर सर्दी विशेष होती है, दस पढ़ाव के बाद खाद्य पदार्थ भी नहीं मिलते, एक मास की सामग्री साथ ले जाना पड़ती है, सोने के लिये मैदान रहता है, इसलिये तम्बू भी साथ ले जाना जरूरी होता है, लूट-मार का भी भय रहता है, यदि तूफान आ गया, बर्फ़ ज़ोर से पड़ गई तब तकलीफ़ की कोई हद नहीं होती। इन सब दिक्क़तों को बार-बार सुन कर भी आप का मन पीछे नहीं हटता था। यही विचार आता 'इसका भोग ही ऐसा प्रतीत होता है और क्या है।'

जाने से कुछ दिन पहले आपका शरीर बहुत ढीला हो गया। तीन दिन तक शरीर की सफ़ाई करके, दो दिन विलकुल निराहार रक्खा, तब कुछ दाल का पानी और दो तोले चावल खाये। शरीर की ऐसी अवस्था १६ जून को थी। जो कुछ शक्ति पहले थी उससे अब बहुत थोड़ी रह गई थी; परन्तु जब इतने आदमियों को अपने आधार पर देखा, तो यही सोचा, "यदि मैं न गया तब कोई भी न जा सकेंगे, इसलिये मैंने जान को हथेली पर रख कर तय्यारी कर ली है। मन पीछे हटने को नहीं करता, आगे ही जाने को दृढ़ है। अब जैसा प्रभु को मंजूर होगा, होता रहेगा। शरीर को कहीं न कहीं किसी न किसी तरह यात्रा पूरी करते रहना है, जब शरीर-यात्रा खतम हो जायेगी तब सब

यात्रायें खतम हो जायेंगी।" इस प्रकार बड़े उदासीन भाव से आगे जाने की तय्यारी हो रही थी। विघ्न भी अनेक प्रकार के होते रहते; परन्तु फिर भी जाने का विचार दृढ़ ही रहा। स्वामी नारायणहरि जी भी तय्यार हो गये। दो घोड़ों के लिये प्रबन्ध किया गया। जो पार्टी वहाँ जानेवाली थी, वह बड़ी विचित्र थी। आप इसका वर्णन इस प्रकार देते हैं, "हमारी पार्टी सब सत्संगियों की है, इसमें दो डाक्टर हैं, एक तो कौशिकजी जो पहले गुरुकुल में रहे थे, फिर M. D. पास करके बम्बई में (Practice) डाक्टरी करते रहे,हरिद्वार से पं०योगेश्वरजी से पता लगा कर यहाँ आ गये हैं। यह Violin का बहुत शौक रखते हैं, एक डाक्टर उत्तमचन्दजी मुलतान से आये हैं और साथही वैद्य ज्ञानसिंहजी भी हैं। भक्त धर्मचन्दजी भक्ति तथा वैराग्य के भजन सुनाने वाले हैं, तुलसीदासजी की 'विनय पत्रिका' साथ है, भगवतसिंह 'सुखमनी साहिब' का पाठ सुनाता है।" आपके साथ ही मास्टर कल्याणदेवजी, ब्रह्मचारी जगन्नाथजी, स्वामी विवेकानन्दजी और नारायणहरिजी भी थे। चौधरानी कृष्णकुमारी और उसका नौकर तैयार हो चुके थे और उसके लिये भी सवारी का प्रबन्ध हो चुका था। उसी पत्र में आप लिखते हैं। "इस विचित्र सम्मेलन को देखकर कितने ही अन्य पुरुषों का जी चलने को हो आता है, पर कोई न कोई विघ्न की वजह से अवकाश के अभाव से, रुक जाते हैं।"

खर्च के लिये प्रबन्ध हो गया था, कई एक सेवकों ने कैलाश-यात्रा का विचार सुन अपने आप ही यथा शक्ति सेवा में भेंट भेज दी थी। परन्तु अपने खाने के लिये महाराजजी ने यथा पूर्वक अपने भक्त प्रो० सदानन्दजी को लिखकर कुछ रुपये मंगवा लिये थे।

शरीर तो कमज़ोर था, परन्तु फिर भी आप ईश्वर भरोसे चलने की तैयारी में लगे हुए थे। ईश्वरपरायणता बढ़ती चली जा रही थी। इन्हीं भावों को आपका एक पत्र बड़ी स्पष्ट रीति से प्रकट करता है। "यह सब ईश्वर की कृपा से नाटक सा प्रतीत हो रहा है—यह शरीर-यात्रा ही नाटक है, मन की लहरें भी नाटक हैं, और कहाँ तक कहूँ इस वक्त सब कुछ नाटक प्रतीत हो रहा है, और यह भी साथ ही प्रतीत हो रहा है कि यह नाटक फ़ज़ूल है, दुःखदाई है, उसमें सुख का अभाव है—सुख इससे परे है, परन्तु फिर भी भोगवश नाटक देखना ही है। पता नहीं यह सिलसिला कब तक जारी रहेगा। यदि आगे को प्रभू इसमें बिलकुल मुक्ति दे देंगे तो ठीक है, वरना ऐसे ही क़ैद फिर भुगतना पड़ेगी। ख़ैर यह बात अपने बस की नहीं है, ईश्वराधीन है। इसलिये उन्हींकी मरज़ी पर छोड़कर विचरना ठीक है। जो पहाड़ी लोग कभी कैलाश की यात्रा को जाते हैं वे सब सम्बन्धियों से मिलकर जाते हैं कि पता नहीं कि ज़िन्दा लौटे या न लौटें। ऐसा यहाँ रिवाज है, इससे तुम यात्रा के रास्तों की कठिनाइयों का अन्दाज़ा लगा सकते हो; परन्तु मैंने जब से इरादा पक्का कर लिया है, तब से सब कठिनाइयों को जिनको सुनता रहता हूँ भूला रहता हूँ। केवल यात्रा करना ही एक मात्र सङ्कल्प रहता है, Come what may, we have launched our vessel on the waves (जो होना हो होता रहे, हमने अपना बेड़ा मँझधार में छोड़ दिया है)। प्राण शेष रहने पर फिर देखा जावेगा।' इसी प्रकार का एक पत्र आपने प्रो० सदानन्दजी को २० जून को लिखा जिसका कुछ हिस्सा ऊपर दे आये हैं, उसके अन्तिम शब्द यह हैं, "जब कभी कोई कैलाश की यात्रा को जाता है, तब अपने सब कुटुम्बियों तथा अन्य मित्रों से मिलकर जाता

है, इस ख्याल से कि कठिन देश में जाते हैं; पता नहीं फिर लौटना हो वा न हो, इसलिये मैंने भी तुमको यह पत्र लिख दिया है।"

इस प्रकार सब भक्तों को अन्तिम 'प्रणाम कर और उनके शुभ आशीर्वाद की कामना करते हुए आप अपने साथियों समेत २३ जून आदित्यवार को प्रातःकाल ६ बजे अलमोड़ा से चल दिये। कुल यात्री सतरह थे। चलते समय वर्षा भी हो रही थी। यात्रा करते-करते जब कभी कोई घबरा जाता, तो बड़े प्रेम और मधुर शब्दों से उसको उत्साह देते। और हर एक स्थान पर सबके आराम के लिये स्वयं चिन्तित रहते। बहुत से सत्संगी कठिन यात्रा के अभ्यासी न थे। विघ्न तो चलने से पहले ही हो रहे थे, पर रास्ते में भी उन्होंने पीछा न छोड़ा। पहले दिन ही पैदल चलने वाले तो आगे निकल गये, परन्तु घोड़ों पर जाने वाले तीनों व्यक्ति रास्ता भटक गये। रास्ता जानने वाले पहाड़ी तो साथ ही थे, और उनका काम भी इसी यात्रा में जाने का रहा करता था, वह भी किसी प्रकार से भूल में पड़ गये। शेष तो सब लोग 'बारी चीना' पड़ाव पर पहुँच कर खाना-वाना बना कर इन्तज़ार करते रहे, परन्तु यह तीनों महाराजजी, स्वामी नारायणहरिजी और चौधरानीजी चार बजे शाम को पहुँचे। सब लोग एक स्थान पर तो नहीं ठहर सकते थे। जैसे-तैसे इधर-उधर ठहर कर रात काटी। दूसरे दिन वहाँ से छः बजे प्रातः चले। दो साधू अलमोड़ा से साथ हुए थे, उनमें से एक रास्ता भटक गया, बहुत दूर जाकर उसको पता चला कि वह कैलाश का रास्ता छोड़ आया है। वहाँ से भटकता हुआ रात को बड़ी देर में दूसरे पड़ाव 'धौरा चीना' पर पहुँचा। यहाँ पर भगवन्तसिंहजी को दस्त आने लगे और मास्टर कल्याण-

देवजी को बवासीर से कष्ट होने लगा। डाक्टर और वैद्य अपनी औषधियों समेत तो साथ ही थे, उनकी राय के अनुसार उचित उपाय करके फिर आगे चलने का ही विचार हुआ। तीसरे दिन ५ बजे प्रातः चल सायंकाल 'गनाई' पहुँचे। महाराजजी सबको उत्साह देते जाते थे। सब लोग पहाड़ी यात्रा का अभ्यास न होने के कारण ढीले पड़ने लगे। थकावट के कारण जहाँ पहुँचते, वहाँ चुपचाप जाकर आराम करने लगते। चौथे पड़ाव 'वैरीनाग' पर पहुँचकर महाराजजी ने स्वयं भोजन का कार्य्य आरम्भ कर दिया। स्वामी नारायणहरिजी खाना बनाने लगे और महाराजजी पानी भरने को चले। इससे उत्साहित होकर सुस्ती छोड़, सब लोग हिम्मत करके काम में लग गये। यहाँ से प्रातः ही साढ़े तीन बजे चले, तो रास्ते में चौधरानी कृष्णकुमारीजी घोड़े से गिर गईं। फिर भी बड़े धैर्य से कष्ट को सहती हुई, पुनः सवार हो आगे चल पड़ीं। ऐसे पाँचवाँ दिन बीत गया। खाने-पीने की साधारण सी सामग्री प्रत्येक पड़ाव पर मिलती रही, पर पदार्थ बहुत पुराने और सड़े गले होते थे। 'थल' से चलकर छठे दिन 'डंडीहाट' में पहुँचे। यहाँ बड़ी चढ़ाई थी और वर्षा भी जबरदस्त थी। इसी कारण से दो-तीन बजे शाम को वहाँ पर पहुँच पाये। थकावट के कारण साथी फिर सुस्त पड़ गये, परन्तु महाराजजी और स्वामी नारायणहरिजी को भूख लग रही थी। भोजन तो बनाना ही था। फिर धीरे-धीरे खाने के लिये सबको इच्छा हो आई। लज्जा के कारण आलस्य को त्याग कर भोजन बनाने में सहायता देने लगे। कष्ट अथवा देर होने से और स्थान भी अनुकूल न होने से, केवल खिचड़ी ही बना ली गई। रात काटकर प्रातःकाल आगे चल पड़े। सातवें दिन, पैदल चलनेवाले तो

दस एक वजे 'असकोट' पहुँच गये। राजा साहिब की धर्मशाला में डेरा लगा दिया। राजा साहिब के नियमों के अनुसार उनके एक कर्मचारी मंडली से सब हाल पूछने आये। हाल तो उनको बता दिया गया कि कितने आदमी हैं, पर सामग्री लेने में संकोच करते थे। राजा ने सामग्री भिजवा दी। स्वामी विवेकानन्दजी ने यह कहकर 'साधुओं को जो आ जाये, उसको वापस नहीं करते', सामग्री रखली। इतने में महाराजजी भी आ गये। रास्ते में वर्षा के कारण भीगते-भीगते देर से पहुँचे। जब महाराजजीसे पूछा गया, तब उन्होंने कहा 'जो हमारा भोग है वह पहले ही आ गया है, अब इसको चलने दो।' भोजन बनाया गया, देर हो गई थी, भूख भी बहुत लगी थी, इसलिये सबने डट कर खाया। रात्रि को राजाजी सम्बन्धियों सहित श्री महाराज जी की महिमा सुनकर दर्शन करने को आये। कलाश-यात्रा के सम्बन्ध में बातें होती रहीं। राजा साहिब ने कुछ चिट्ठियाँ भी दे दीं, जिससे आगे प्रबन्ध करने में सुभीता रहे। वैसे भी रास्ते में कैसी कैसी एहतियात Precaution करनी चाहिये, यह भी बता दिया। रात को ग्यारह बजे सोये। उस रात्रि को महाराजजी को नींद कम आई। धर्मचन्द जी दो-तीन बार रात को उठे, तो देखा कि महाराजजी बैठे हैं। डेढ़ बजे, तीन बजे और फिर साढ़े चार बजे जब जब वे उठते रहे, तब तब ही उन्होंने आपको बैठे हुए देखा। पर नींद की मस्ती के कारण वह पूछ नहीं सके। जब वे साढ़े चार बजे उठे, तो चलने का वक़्त था, तब उन्होंने धीरे-धीरे सबको जगाना शुरू किया। जब सब जाग उठे, तो सबने सुस्ती की शिकायत की और कहा कि 'शरीर ढीला है, टांगे सुस्त हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ प्रतिकूल अथवा अधिक खाने से शरीर में गड़बड़ी

हो गई।' इनके उठने से पहले महाराजजी ने धर्मचन्दजी को बुलाया और कहा 'तुमको कुछ कहना है सो दूसरे पड़ाव पर कहेंगे, याद दिला देना।' यहाँ से पैदल चलने वाले तो शीघ्र ही चल दिये, अपना-अपना नाश्ता भी साथ बाँध ले गये। थोड़ी-थोड़ी वर्षा हो रही थी। घोड़ेवालों की इच्छा नहीं थी कि वर्षा में चला जाय। उतराई के रास्ता के कारण वह भय दिलाते थे कि आदमी और घोड़ों के गिर जाने का डर है। पर महाराजजी ने यही कहा, जब वर्षा ज़रा थोड़ी हो जायेगी तब चलेंगे। ऐसा ही किया गया। सारी उतराई भर घोड़े वाले अपनी नाराज़गी का इज़हार किसी न किसी आड़ से करते रहे। सवारी के घोड़े तो आगे चले जाते, पर असबाब वाले पीछे रह जाया करते। रास्ते में कभी-कभी वे घास खाने ठहर जाते और कभी तेज़ चल पड़ते। उतराई का रास्ता था। एक स्थान पर जब महाराजजी का घोड़ा ठहरा हुआ यकायक चल पड़ा, तो थोड़ा असावधान होने के कारण आप लुढ़क गये। पर फिर भी घोड़े को छोड़ा नहीं, भूमि से भी ऊँचे ही रहे, और ऐसे ही लटके हुये कुछ दूर चले गये। घोड़ा तेज़ जा रहा था, महाराजजी उसी अवस्था में बड़े सावधान हो चुपचाप नाटक देखते रहे। स्वामी नारायणहरिजी ने देखा; पर घोड़े के तेज़ होने के कारण, न उसको रोक सके और न उतर ही सके। कुछ दूर जाने के बाद जब कुलियों ने यह सब लीला देखी तो वे दौड़कर आये, घोड़े ठहराये गये और महाराजजी नीचे उतरे। चोट तो नहीं आई थी क्योंकि आपने सावधानी से अपने आपको धरती से ऊपर सहारे रक्खा था। यहाँ से उतराई अधिक होने के कारण स्वामी नारायणहरि ज़ी भी घोड़े से उतर पड़े। थोड़ी दूर जाकर उतराई समाप्त हो गई। वहाँ एक नदी भूरी गङ्गा नाम की थी। उसका

पुल पार करके ज़रा ठहर गये । इतने में पीछे से भी असवाव वाले कुली और घोड़े पहुँच गये । अब चढ़ाई का रास्ता था, इसलिये फिर चढ़ वैठे । अगले पड़ाव से दो मील उरे कुछ पैदल चलने वाले साथी ठहरे हुए थे, वहाँ पर खेत-वाले से कुछ आड़ू लिये और सवने थोड़े-थोड़े खाये । यहाँ से ही खेत में से, ओगल और चौलाई का साग खेत वाले की आज्ञा से इकट्ठा किया गया । फिर आगे चले और ३० जून को एक वजे के क़रीव 'नलवाकोट' पहुँचे ।

दसवाँ प्रकरण ।

परम निर्वाण

वलवाकोट पर एक मुसलमान की दूकान थी । वहीं से खाद्य-पदार्थ मिलते थे, पर वह थे सड़े गले । ठहरने का स्थान भी अच्छा नहीं था । साथियों का यही विचार था कि चले ही चलें, और ६ मील की दूरी पर अगले पड़ाव पर जाकर ठहरें । जव महाराजजी आये, तो आपसे पूछा गया । आपने कहा 'अव एक वज चुका है, यदि चलते रहे, तो चार-पाँच वजे पहुँचेंगे, फिर यह भी पता नहीं कि वहाँ स्थान कैसा हो, इसलिये यहाँ ही रहना ठीक है ।' यहाँ एक वहुत मैला सा मकान था । उसी में साफ़ कर-करा के रहने का विचार हुआ । वृक्ष के नीचे वाहिर ही भोजन वनाया गया । धर्मचन्दजी थोड़ी देर पीछे नदी पर स्नान करने गये, महाराजजी भी वहाँ पहुँचे थे, और जो वात आपको उनसे कहनी थी वह समझा दी । भोजन वनते-वनाते और खाते-पीते सायंकाल हो गई । वहुत से लोग तो उसी स्थान पर सोये, पर स्वामी विवेकानन्दजी जोकि पहले से ही रास्ते में बीमार हो गये थे दुकान के सामने वाहिर ही पड़े रहे । वाक़ी

सब उस मकान में थे। सोने से पहले आज्ञानुसार धर्मचन्द्रजी ईश्वर-विनय का पद गाने को थे कि कोई बात छिड़ गई। इधर बातें करते-करते महाराजजी भी सो गये। रात को ग्यारह बजे के क़रीब पहले पहल उस माईजी को कुछ दस्त आ गये। जब उसने डाक्टर को जगा कर दवाई माँगी, तो महाराजजी भी जाग पड़े। पूछने लगे 'क्या है ?' स्वामी नारायणहरिजी ने सब हाल सुनाया। तब आपने कहा मेरा भी जी मचलाता है।' इतना कहकर बाहिर चले गये। एक दम उल्टी हो गई। उसके बाद डाक्टर उत्तमचन्दजी को भी उल्टी हो गई। दस्त भी होने लगे। छः व्यक्तियों को तो विशेष कष्ट हो गया ; महाराजजी, स्वामी नारायणहरिजी, चौधरानी कृष्णकुमारीजी, डाक्टर उत्तमचन्दजी, मलिक मेहरचन्दजी, और लाला थाऊरामजी ; शेष लोग तो कष्ट से कराहते भी रहे, पर महाराजजी बिलकुल चुपचाप सब कुछ सहते रहे। आपको दस्त दूसरे दिन दोपहर तक बन्द हो गये। जब ऐसी अवस्था देखी तो १ जुलाई को दो बजे के क़रीब भक्त धर्मचन्द और स्वामी विवेकानन्दजी को 'धारचूला' भेजा कि वहाँ से सवारी और डण्डी का प्रबन्ध कर लायें ताकि रोगियों को वहाँ पहुँचाया जाये। यहाँ डाक्टर और वैद्य तो साथ थे, वह कुछ न कुछ जैसी तैसी औषधि देते रहे। शेष भी थोड़े बहुत कष्ट में रहे। सिर्फ़ तीन ही बचे थे, कौशिकजी, कल्याणदेवजी और स्वामी विवेकानन्दजी। कौशिकजी तो फल और दूध पर ही निर्वाह किया करते थे। और इन दोनों ने इस रात कुछ खाया ही नहीं था। स्वामी रामानन्द जो अलमोड़ा से साथ हुये थे, वह भी स्वस्थ रहे। जब उनको पता चला कि दो व्यक्तियाँ धारचूला भेजी गई हैं, तो वे भी अपनी इच्छानुसार सहायता करने के लिये आगे चले गये।

महाराजजी ने प्रातःकाल ही बस्ती और उल्टी कर ली थी, इससे शरीर कुछ शुद्ध हो गया, और दस्त दोपहर को बंद हो गये। शेष लोग तो औषधि भी खाते रहे, और वहाँ पर खिचड़ी भी बनाई, परन्तु महाराजजी ने कुछ न खाया और चुप-चाप लेटे रहे, और किसी से किसी प्रकार की बातचीत नहीं की। आप चुपचाप लेटे रहते और कभी बेचैनी होती तो उठ बैठते। ऐसा प्रतीत होता था, कि द्रष्टा बन सब नाटक को असंग भाव से देख रहे हैं। यह दिन तो इस तरह से समाप्त हुआ। रात्रि को आपने मुनक्का और इलाइची का पानी लिया। १० बजे के बाद थोड़ा दूध पिया। सारी रात पेट में कुछ दर्द रहा। फिर दिन को मुनक्का व छोटी इलाइची का पानी उबाल कर कई बार लेते रहे। जब कभी औपधि के लिये भक्त पूछते, तो आप इनकार कर देते, और यही कहते कि 'मेरी चिन्ता न करो', और बातचीत कुछ न करते। फिर दोपहर के बाद दो बजे से महाराजजी की अवस्था कुछ कमज़ोर होने लगी। नाड़ी भी कमजोर हो रही थी। जब ऐसी अवस्था देखी तो सब लोग चिन्तित हुये और विचारने लगे कि क्या किया जाय। दवाई तो लेने से इनकारी ही थे। जब स्वामी नारायणहरिजी से पूछा, तो उन्होंने कहा कि 'अब जबरदस्ती करनी चाहिये।' इतने में डाक्टर उत्तमचन्दजी ने, जो अब कुछ अच्छे हो रहे थे, कहा कि 'injection दे दो।' तब उन्होंने आप ही injection कर दिया, जिससे कुछ नाड़ी में बल आया और शरीर की अवस्था सुधरने लगी। स्वामीजी, इसके बाद कभी-कभी दूध भी माँगते रहे। इधर जो सज्जन डाण्डी लेने गये थे भटकते हुए देर से तपोवन पहुँचे वहाँ के अधिष्ठाता स्वामी अनुभवानन्दजी को सब वृत्तान्त सुनाया। उनकी सहायता से दूसरे दिन पचीस कुली और डाण्डी आदि का

प्रबन्ध करके २ जुलाई को नौ बजे यह लोग वापस नलवाकोट पहुँचे। रात्रि को ही महाराजजी से सब हाल कहा गया। स्वामी अनुभवानन्दजी की इच्छा थी कि उसी समय चला जाय। परन्तु महाराजजी ने कहा — 'ऐसी कोई बात नहीं है, सब लोग कुछ अच्छे हैं, प्रातःकाल ही चलेंगे।' प्रातःकाल के समय महाराजजी को उठाया गया। शरीर तो कमज़ोर था ही, पर बड़ी सावधानी से कपड़े आदि पहन कर तैयार हो गये। एक ही डाण्डी आई थी, उस पर महाराजजी को बिठाया गया। स्वामी नारायणहरिजी और माई कृष्णाकुमारीजी को चारपाई में उठा कर ले गये। डाक्टर उत्तमचन्दजी और मलिक मेहरचन्दजी को बाँस में कम्बल बाँध कर, उसी में बैठाकर, उठवा कर चले। ला० थाऊरामजी की अवस्था कुछ अच्छी हो गई थी। महाराजजी तो यहाँ से प्रातःकाल ३ बजे ही चल दिये, शेष सब प्रबन्ध करते-कराते कोई आठ बजे के क़रीब चले। भगवन्तसिंहजी अस्वस्थ थे, पर फिर भी गुरुदेव को अकेला नहीं छोड़ सके। मना करने पर भी साथ तैय्यार हो गये, और कुछ मुनक्का का पानी भी साथ ले गये। बहुत बार वे महाराजजी की डाण्डी के साथ-साथ ही गये। शरीर कमज़ोर था, परन्तु उनकी श्रद्धा इतनी थी कि वह रुक ही नहीं सके। सारा रास्ता वह साथ ही रहे कि शायद महाराजजी कोई बात कहें। कई बार पानी माँगा, वह थोड़ा-थोड़ा पानी देते गये। आगे जाकर भगवन्तसिंहजी ने स्वयं थोड़ा दूध पिया, पानी खतम हो गया था, थोड़ा दूध ले लिया, फिर दूध पिलाते गये। जिस समय से महाराजजी बीमार हुए थे, उस समय से आप बिल्कुल नहीं बोले। सावधान रहते हुए भी, पूछने पर प्रश्नों का उत्तर देते हुए भी आपने और कुछ बात नहीं की। यह बड़ा अस्वाभाविक था। जो लोग महाराजजी

की संगति में रह चुके हैं, वह भली प्रकार जानते हैं कि आप अपने रोगग्रस्त साथियों की कितनी चिन्ता किया करते थे; परन्तु अब किसी को कुछ पूछा ही नहीं। माई कृष्णकुमारी आपके सहारे ही यहाँ आई थीं, भगवन्तसिंह के पिता जी ने भी उसको आपके आश्रय पर ही भेजा था, इनके सम्बन्ध में भी कुछ नहीं पूछा। भगवन्तसिंहजी तो सारा रास्ता इसीलिये साथ रहे कि महाराजजी कुछ कहेंगे। इस सब शांति से यही परिणाम निकलता है कि महाराजजी इस समय अनुभव कर रहे थे कि उनके शरीर का भोग खतम होने वाला है। वैसे भी कोई सम्बन्ध तो किसी से महसूस ही नहीं किया करते थे तो अब भला किसी से कुछ क्या कहते? आप तो प्रभु-आज्ञा को पूर्ण कर रहे थे, और जिस उपरामता, उदासीनता और मुसाफिर-दृष्टि का उपदेश करते रहे, इस समय आप उसी का एक स्वच्छ और निर्मल दृष्टांत दे रहे थे। किसी प्रकार की भी बात आपके हृदय में नहीं फुरी। कहते हैं कि जिस समय शरीर कमजोर होता है, दिमाग़ जवाब दे देता है, तब यदि कोई संस्कार चित्त में दबे हुए हों, तो वह प्रबल होकर कुछ न कुछ कराते रहते हैं; परन्तु यहाँ सावधान रहते हुए भी सब प्रकार से शांत रहे। दस–ग्यारह बजे श्रीमहाराजजी 'धारचूला' स्थान में पहुँचे। यहाँ पर आप श्रीरामकृष्ण मिशन के अस्पताल में ठहराये गए। कुछ बंगाली लोग कैलाश को जा रहे थे, उनमें दो बंगाली डाक्टर M. B. B. S. भी थे। स्वामी अनुभवानन्दजी की प्रेरणा से अथवा उस बंगाली–पार्टी की सज्जनता के कारण ही कुली और डाण्डी का प्रबन्ध हो पाया था। उन डाक्टरों ने महाराजजी को देखा और कहा, कि 'इस समय कोई विशेष रोग नहीं है, केवल कमज़ोरी है, शीघ्र दूर हो जायगी।' वह कुछ

दवाई बता कर स्थानीय हस्पताल के डाक्टर के जिम्मे करके चले गये। स्वामी अनुभवानंदजी भी इन्हीं के साथ कैलाश को जानेवाले थे। उन्होंने महाराजजी से अपनी वापसी तक वहीं रहने को कहा। महाराजजी ने उत्तर दिया, 'अभी तो यहाँ हैं, फिर जैसा होगा देखा जावेगा।'

पीछे कोई दो बजे के क़रीब आपने बस्ती करने की इच्छा प्रकट की। शरीर-शुद्धि के बाद आपकी नाड़ी फिर छूटने लगी। डाक्टरों ने कुछ औषधि देना शुरू किया। जब आप जल माँगते तो औषधि मिला कर जल दिया जाता।

डाक्टर ज्ञानसिंहजी ने इस समय पूछा, 'महाराजजी, गीता सुनाऊँ।' उत्तर मिला, 'बस यार, अब गीता-बीता हो चुकी।' आप तो परम शांति के आधार से रह रहे थे, अथवा अखंड आनन्द में मग्न थे, सब प्रकार की वासनायें शान्त हो चुकी थीं, किसी प्रकार का संस्कार उठता ही नहीं था, वृत्ति बिलकुल विलीन हो चुकी थी, आत्म आनन्द के अनुभव करनेवाले को किसी बाहरी आधार की क्या आवश्यकता हो सकती है?

सात बजे से शरीर के गात्र ठंडे होने लगे। फिर जैसा सूझता रहा, वैसा कभी दवाई, कभी injection करते रहे। नौ बजे से आप उठाकर बिठाने के लिये बार - बार कहने लगे; परन्तु हस्पताल के डाक्टर इस बात पर आग्रह करते थे कि उठा कर बैठाने से हानि होगी, बिलकुल न उठाया जाय। एक बार तो आपने बड़े प्रेम के शब्दों में उठाने के लिये कहा, तो धर्मचन्दजी ने पूछा – 'महाराजजी, आप किस लिये उठना चाहते हैं।' उत्तर मिला — 'उठाओ फिर बताऊँगा।' लघुशंका की इच्छा प्रकट की। बोतल दी गई, पर कुछ हुआ नहीं। फिर लिटा देने को कहा, भक्तजी ने लिटा दिया। फिर आप ने

उठाने को कहा, तो डाक्टर के मना करने पर भी उन्होंने उठा कर बिठा दिया। तब आप उठकर बैठ गये, और उठते ही थोड़ा सा आसन जमा लिया। इतने में प्राण जोर-जोर से ऊपर जाने लगे। इस शब्द को सुन कर बंगाली डाक्टर दौड़े आये और जबरदस्ती लिटा दिया और कहने लगे, 'कि बिठलाने से मृत्यु को बुलाना है।' थोड़ी देर पीछे आपने फिर उठाने के लिये कहना आरम्भ किया, तब बिना डाक्टर के कहे धर्मचन्दजी ने महाराजजी को उठा दिया। उनको ऐसा प्रतीत होता था कि महाराजजी बैठ कर सुख-पूर्वक प्राणों को छोड़ना चाहते हैं। बैठते ही प्राण ऊपर को संचार करने लगे और बड़ी जोर का शब्द होने लगा। दूसरे कमरे से डाक्टरजी ने यह सुना और फिर दौड़े आये और आते ही जबरदस्ती लिटा दिया। इस समय डाक्टरों की राय तो यही थी कि उठाना नहीं चाहिये, और दवाई भी देते रहना चाहिये। परन्तु ज्ञानसिंहजी कहते थे कि मृत्यु के चिन्ह प्रतीत हो रहे हैं, अब दवाई देने से कुछ लाभ भी नहीं है और वृथा कष्ट होगा। जब आपसे पूछा गया, तो आपने कहा, 'जोर लगाने दो।' भक्तों की यह इच्छा थी कि दवाई नहीं देनी चाहिये और महाराजजी को उठाकर बिठाना चाहिये ताकि सुख-पूर्वक शरीर त्याग कर सकें। कुछ भक्त अस्वस्थ होने के कारण दूर थे। भक्त धर्मचन्दजी और ज्ञानसिंहजी और भगवन्तसिंहजी की बात को डाक्टर ने न माना। ग्यारह बजे तक तो महाराजजी उठाने के लिए कहते रहे, परन्तु पीछे से चुप हो गये। जब तक बोलते भी रहे, तबतक बड़े सरस, मधुर और करुणामय शब्दों से बोलते रहे। कोई उठाता भी नहीं था, बैठे हुए लिटा भी दिया था, पर फिर भी प्रेम से यही कहते रहे 'जरा तो, यार उठाओ ना।' जब डाक्टर ने कहा कि 'इसमें

आपकी हानि है , मैं आपका डाक्टर हूँ, जो उचित समझता हूँ कर रहा हूँ ।' तो आपने बड़ी शान्ति-पूर्वक उत्तर दिया—'अच्छा यार .' यह प्रेम-मय शब्द ही आपके हृदय की गम्भीर शांति को दरशा रहे थे । जिन्होंने उस मधुर ध्वनि को सुना वे उन करुणा-पूर्वक शब्दों पर मुग्ध थे। बारह बजे के बाद आप शरीर का भोग समझ, बिलकुल शांत हो गये। धर्मचन्दजी ने पूछा, " महाराज जी कुछ कहना है, " " नहीं। " जब किसी से कुछ सम्बन्ध नहीं था, इच्छा सब नाश हो चुकी थी, तो इस समय दूसरा उत्तर कैसे सूझता ? तीन बजे तक ऐसे ही चुप-चाप और शांत अवस्था रही। ऐसा प्रतीत होता था कि कुछ बेचैनी हो रही है। सावधान तो रहे, पर कुछ कहा नहीं। शेष इच्छा तो रही नहीं थी, जो बैठकर शरीर छोड़ने की इच्छा थी उसको भी पूरा न होते देख शरीर का भोग जान मस्त रहे। एका-दशी के दिन कृष्णपक्ष, बुधवार और बृहस्पतिवार के बीच वाली रात्रि को, प्रातःकाल के साढ़े तीन बजे ब्रह्म महूर्त्त के समय आपका पंचभौतिक शरीर शांत हो गया। उस समय सब सेवकों ने अन्तिम दर्शन किये और प्रणाम किया। चित्त की वासनायें तो पहले ही विलीन हो चुकी थीं । अब तो सब यात्रायें शरीर-यात्रा के निमित्त ही कर रहे थे, वह भी समाप्त हो गई।

मन मारया ममता मुई, अहं गई सब छूट ।
जोगी था सो रम गया, आसन रही बिभूत ॥

प्रातःकाल जब रोशनी में, भक्तों ने महाराज जी के शरीर को देखा, तो आपके मुख-मंडल पर वैसी ही शांति और प्रसन्नता के चिन्ह थे कि जैसे प्राणों के रहते हुए दिखाई देते थे। चित्त की अन्तिम अवस्था की छाप ज्यों की त्यों लगी हुई थी । दिन होने पर आपके शरीर को जल से स्नान करा कर, धुली हुई गाति बाँध,

काली नदी में प्रवाह करने के लिये ले गये। महाराजजी प्रवाह को ही अच्छा समझते थे। वहाँ पर आपका एक चित्र भी लिया गया। और एक चित्र सत्संगियों सहित भी लिया गया। फिर पत्थर बांध शरीर को काली गङ्गा के जल में प्रवाह कर दिया।

सब लोगों के हृदय उदास थे, परन्तु जिस गम्भीरता और शांति से महाराज जी ने शरीर को छोड़ा था वैसे ही भाव सब में विराजमान थे। किसी को किसी प्रकार का वेग नहीं हुआ।

शरीर का जो सुख-दुःख है वह भोग के अधीन है। भावी प्रबल है, जैसा होना था वैसा ही हुआ, परन्तु इस बात का भक्तों के हृदय में खेद अवश्य है कि अन्त समय में आपकी सेवा का कार्य भक्तों की अपेक्षा डाक्टरों के ही अधिक सपुर्द रहा, और महाराज उस शरीर को जिसने आपकी इतनी अच्छी नौकरी बजाई थी वैसे सुख-पूर्वक न छोड़ सके जैसा कि आपकी इच्छा थी, और जैसा कि संत लोग छोड़ते हैं। सब लीला को स्मरण करते हुए यही विचार आता है कि प्रारब्ध नहीं टल सकता, और होना वही है जो ईश्वर को मंजूर है। आप स्वयं भी इसी धारणा को ले शात रहे। इतनी प्रसन्नता अवश्य है कि आपका शरीर उत्तराखंड की पवित्र भूमि में ही छूटा। ऐसी इच्छा को आपने कई बार प्रकट किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि आपका संकल्प ही इस बार अनेक विघ्नों के होते हुए भी आपको वहाँ ले गया। शरीर के झगड़े से तो आप तंग आ चुके थे, प्रभु की गोद में जाने को लालायित हो रहे थे। इस यात्रा में जाते हुए शरीर तो रास्ते में रह गया, पर आत्मा शिव के अन्दर समा गई। जिस परम शांति का आप उपदेश करते थे उसी को आप जीवन के अन्त क्षण तक दर्शाते हुए परम-निर्वाण पद को प्राप्त कर गये।

दूसरे दिन मलिक मेहरचन्दजी का शरीर छूट गया। वे

कहते भी थे ' महाराजजी मेरा शरीर बूढ़ा है, मैं कुछ कर नहीं सकता, अब तो आप अपनी शरण का ही सहारा देकर पार कर सकते हैं।' जिस वक्त महाराज जी का शरीर छूट चुका था, तो प्रात:काल आप भी दर्शनों को आये थे, और बहुत देर चरणों में झुक कर प्रार्थना करते रहे थे। ऐसा प्रतीत होता है कि आपकी शुभ कामना पूरी हो गई। आपके पुत्र डाक्टर उत्तम-चन्दजी साथ थे. उन्होंने अवसर-अनुकूल शरीर का संस्कार आदि कर दिया।

रोग के कारण शरीर सब का ढीला था। उधर महाराजजी का वियोग, फिर भला कैलाश जाने की हिम्मत किसको होती? मुलतान के सत्संगी, भगवंतसिंहजी, चौधरानी कृष्णाकुमारीजी, दो चार रोज़ बाद प्रबन्ध करके लौट आये। कौशिकजी, स्वामी रामानन्द, और एक और साधू दूसरे दिन ही ऊपर चले गये। थोड़े दिन बाद मास्टर कल्याणदेवजी और ब्रह्मचारी जगन्नाथजी कैलाश-यात्रा का संकल्प पूरा करने को आगे चल दिये। स्वामी नारायणहरिजी अधिक कमजोर होने के कारण वहीं ठहरे रहे। स्वामी विवेकानन्दजी भी वहीं रहे। जो रुपया यात्रा के व्यय के लिये साथ था उसमें से ६०) रुपया रामकृष्ण मिशन को भेंट किया गया, और कुछ उन साधुओं को दिया जो महाराजजी के आश्रय पर कैलाश-यात्रा का विचार करके अलमोड़ा से आये थे। स्वामी नारायणहरिजी और स्वामी विवेकानन्दजी अक्तूबर के आरम्भ में तपोवन से लौटे। अलमोड़ा होते हुए बरेली पहुँचे और यहाँ से स्वामी विवेकानन्दजी तो टोहाना (पंजाब) चले गये और स्वामी नारायणहरिजी लखनऊ होते हुए कानपुर पधारे। इस प्रकार श्री महाराजजी की महायात्रा समाप्त हुई।

❀ इति ओ३म् ❀